वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी

(कारकादिविभक्त्यर्थप्रकरणम्)

दिनेश चन्द्र गुह

भट्टोजीदीक्षितकृत

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

(कारकादिविभक्त्यर्थप्रकरणम्)

हिन्दी-व्याख्याकार

डॉ० दिनेश चन्द्र

एम० ए० (द्वय), डी० लिट्० (कलकत्ता)

काव्य-न्याय-तर्क (द्वय) - वेदान्ततीर्थ

न्यायालङ्कार, राष्ट्रभाषाकोविद

प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
किशोर चन्द जैन
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० १०८, कचौड़ीगली
वाराणसी



प्रथम संस्करण : नवम्बर १९७०
मूल्य ६.००



मुद्रक
बजरंगबली गुप्त
आर्यावर्त प्रेस
जालपादेवी रोड, वाराणसी–१

श्रीमती सरोजिनी गुह,

मातृदेवी के चरणकमलों में.

सादर भेंट।

प्रकाशक का निवेदन

आज मुझे संस्कृत के विद्यार्थी समाज तथा सुधीजनों को काशी हिन्दू विश्व विद्यालय के प्रख्यात प्राध्यापक नाना शास्त्रविशारद डॉ० श्रीदिनेश चन्द्र गुह एम० ए०, (द्वय) डी० लिट्०, काव्य-न्याय-तर्क (द्वय) वेदान्ततीर्थ, न्यायालङ्कार, राष्ट्रभाषाकोविद के द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी में विस्तृत व्याख्या के साथ प्रस्तुत पाणिनि व्याकरण की भट्टोजी दीक्षित कृत सिद्धान्त कौमुदी का कारकादि विभक्त्यर्थ-प्रकरण उपहार के रूप में उपस्थित करने में अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

डॉ० गुह संस्कृत के एक—आन्तर्जातिक ख्यातिसम्पन्न विश्वविख्यात विद्वान हैं। नव्यन्याय के ऊपर उनका मौलिक ग्रन्थ, 'Navya Nyaya System of Logic, जिसको भी प्रकाशित करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, देश तथा विदेश के विद्वानों के द्वारा नव्यन्याय के क्षेत्र में एक वेजोड़ ग्रन्थ के रूप से उच्च प्रशंसित हुआ है। मुझे पूरा विश्वास है कि डॉ० गुह की राष्ट्रभाषा हिन्दी व्याख्यासहित इस सिद्धान्त कौमुदी (कारकादि प्रकरण) को भी देश तथा विदेश के विद्वान् लोग स्वागत करेंगे।

इस प्रसंग में मुझे इस बात को सूचित करने में भी अत्यन्त हर्ष है कि डॉ० गुह राष्ट्रभाषा हिन्दी के असाधारण प्रेमी हैं। आप बंगाल प्रान्त के हैं और आप की मातृभाषा बँगला है। काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में आने से पहले बहुत साल तक आपने बंगाल में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा, के प्रमाणित प्रचारक के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी का सोत्साह प्रचार किया था। मैं आशा करता हूँ राष्ट्र भाषा हिन्दी के सभी प्रेमी डॉ० गुह की इस भव्य कृति का स्वागत करेंगे।

दीपावली, १९७० ई०

किशोर चन्द जैन

प्रस्तावना

पूर्व जन्म के संस्कारवश ही हो या अन्य किसी कारण से हो, नितान्त बचपन से ही मेरे मन में संस्कृत विद्या के प्रति अत्यन्त अनुराग था। मेरा जन्म पूर्वी बंगाल (अधुना पूर्व पाकिस्तान) के अन्तर्गत फरीदपुर जिले के रघुनाथपुर नामक ग्राम में एक विशिष्ट सम्भ्रान्त कायस्थ परिवार में हुआ था। बंगाल का कायस्थ सम्प्रदाय भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों के कायस्थ सम्प्रदाय से विलक्षण है। बंगाल में कायस्थ सम्प्रदाय की सामाजिक स्थिति ब्राह्मण सम्प्रदाय की अपेक्षा नीचे स्तर की है। वहाँ का कायस्थ समाज अपनी जीविका का निर्वाह राजसेवा, जमीन जायदाद आदि से करता है। वे लोग बंगाल प्रान्त के ब्राह्मण सम्प्रदाय के साथ ही साथ चलते हैं, और ब्राह्मणों का रहन-सहन, आचार-व्यवहार आदि को प्रेम से अपनाते हैं। ऊपर ऊपर देखने से बंगाल के ब्राह्मणों से कायस्थ सम्प्रदाय का विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता। एक प्रबल मत यह है कि बंगाल का कायस्थ सम्प्रदाय क्षत्रिय है।

जो कुछ भी हो, ऐसे वातावरण में जन्म होने के कारण भी संस्कृत विद्या के प्रति मेरा अत्यन्त उत्कट आकर्षण बचपन से ही हुआ था। और संस्कृत विद्या में पारंगत होने की उत्कट इच्छा से संस्कृत की सेवा करके गुरुजनों के आशीर्वाद से एकाधिक संस्कृत शास्त्रों में कुछ दूर तक प्रविष्ट होने का सौभाग्य प्राप्त करने के कारण मुझे अत्यन्त हर्ष है, तथा संस्कृत विद्या का सेवक बन सकने से मैं अपने को परम सौभाग्यवान् समझता हूँ। कारण ब्राह्मणों को तो बचपन से ही संस्कृत के अनुकूल वातावरण प्राप्त है, जो मुझे प्राप्त नहीं था। इस स्थिति में ब्राह्मणों के साथ मिलकर संस्कृत विद्या की सेवा का अवकाश प्राप्त करने से मैं अपने को एक विशिष्ट संस्कृत-सेवक के रूप से ही देखता हूँ। मेरे ज्येष्ठ तात स्वर्गत यतीन्द्रमोहन गुह जी की, जो उस समय की 'एन्ट्रान्स' परीक्षा पास थे, प्रेरणा भी मुझे संस्कृत विद्या के प्रति आकृष्ट कराने में प्रचुर मात्रा में सहायक थी। मैंने पूर्वी बंगाल के पाबना जिलें के

अन्तर्गत Serajgunge B. L. High English School
सन् १६२८ साल में प्राय: चौदह साल की अवस्था में मैट्रिक परीक्ष
पास की थी। उस समय से ही संस्कृत में प्राय: शुद्ध रूप से लिखने
अभ्यास मेरा हो गया था। इसका श्रेय हमारे संस्कृत के प्रथ
अध्यापक दिवंगत पण्डित श्री हेमचन्द्र शास्त्री जी को था। आप इ
स्कूल के प्रधान संस्कृताध्यापक थे। मुग्धबोध व्याकरण के आप प्रकाण्
विद्वान् थे। आप स्कूल के होस्टल में रहा करते थे और मैं भी संयोगवश उस
होस्टल में रहकर पढ़ता था। पण्डितजी ने स्नेहवश मुझे अपने ही कम
में रहने के लिए बुला लिया था और रोज सवेरे चार बजे मुझे नींद
जगाकर जबानी व्याकरण सम्बन्धी नाना विषय सिखाते थे। पण्डितजी
द्वारा मुग्धबोध व्याकरण पढ़कर मैट्रिक परीक्षा पास करने से पहले ही मैं
बंगाल संस्कृत एसोसियेशन की मुग्धबोध की आद्य (प्रथमा) परीक्षा सर्वप्रथम
स्थान अधिकार करके तथा वृत्ति पुरस्कार आदि प्राप्त करके पास की थी।
इस सफलता से अत्यन्त प्रसन्न होकर पण्डितजी मेरे ऊपर और भी अधिक ध्यान
देने लगे जिसके फलस्वरुप मैंने संस्कृत की एक विशेष वृत्ति प्राप्त करके मैट्रिक
परीक्षा पास की थी।

मैट्रिक के बाद मैंने पूर्वी बंगाल के फरीदपुर राजेन्द्र कॉलिज से इन्टर
मीडियट तथा बी० ए० परीक्षा विशेष योग्यता के साथ संस्कृत में First
Class Honour- प्राप्त करके पास की थी।

मेरे सौभाग्यवश कॉलिज के संस्कृत के प्राध्यापक दिवंगत श्री सत्यकिङ्कर
मुखोपाध्यायजी एम० ए०; पाणिनि व्याकरण तथा संस्कृत-साहित्य शास्त्र के एक
धुरन्धर विद्वान् थे। पाणिनि व्याकरण का आपका गुरु परम्परागत सम्प्रदाय
शुद्ध अध्ययन था। कॉलेज में इण्टरमीडियट तथा बी० ए० पढ़ते समय मैंने
सत्यकिङ्करजी से नियमानुसार सिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन करके बंगाल संस्कृत
एसोसियेसन से पाणिनि व्याकरण का आद्य (प्रथमा) तथा मध्य (मध्यमा)
परीक्षा पास की थी। आद्य परीक्षा में मैंने प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च स्थान तथा वृत्ति

पुरस्कार आदि प्राप्त किये थे। इस समय संयोगवश कुछ समय के लिये मुझे बिहार प्रान्त के वैद्यनाथधाम के समीप मधुपुर में रहना पड़ा। मधुपुर के प्रसिद्ध वैयाकरण स्वर्गत पण्डित विद्याधर मिश्रजी से भी इस अवसर पर मुझे सिद्धान्त कौमुदी का कुछ अंश अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

बाद में बी० ए० पास करने के उपरान्त मैंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत में एम० ए० पढ़ना प्रारम्भ किया। मेरे सौभाग्यवश यहाँ पर एक से बढ़ कर एक धुरन्धर विद्वान् प्राध्यापक थे जिनमें पाणिनि व्याकरण के असामान्य विद्वान् दिवंगत महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शास्त्री जी तथा स्व० डा० क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्यायजी से मुझे व्याकरण पढ़ने का अवसर मिला था। कलकत्ता विश्वविद्यालय की एम० ए० संस्कृत परीक्षा में उस समय समग्र सिद्धान्तकौमुदी पाठ्य थी। श्रीसकलनारायण शास्त्री जी से मुझे एम० ए० कक्षा में तथा एम० ए० करने के बाद भी सिद्धान्तकौमुदी का सम्प्रदायानुसार अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

इसके बाद संस्कृत में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण होकर बिहार प्रान्त के वैद्यनाथ धाम तीर्थ क्षेत्र में बालानन्द संस्कृत महाविद्यालय के प्रिन्सिपल, मेरे नैयायिक गुरुजी दिवंगत श्री अनन्तकुमार न्यायतर्कतीर्थ भट्टाचार्य महोदय से नव्यन्याय शास्त्र का उच्चतर ग्रन्थ अध्ययन करने के लिये मैं वैद्यनाथधाम (देवघर) जाकर कई साल रहा। उस संस्कृत महाविद्यालय संस्कृत पाठशाला में मुझे अध्यापक का कार्य करने का भी अवसर मिला था और मैंने शास्त्री, आचार्य तथा तीर्थ परीक्षा के लिये विद्यार्थियों को प्राचीन शैली के अनुसार कई साल न्याय, वेदान्त तथा साहित्य-शास्त्र का अध्यापन कराने के साथ ही साथ उस महाविद्यालय के वरिष्ठ पाणिनि व्याकरण के प्राध्यापक स्वर्गत पण्डित यदुनाथ मिश्रजी से सिद्धान्त कौमुदी का कुछ अंश अध्ययन किया था। तत्काल वैद्यनाथ धामस्थ पण्डित-मूर्धन्य महावैयाकरण तथा नैयायिक पण्डित श्री सदानन्द झाजी से भी पाणिनि व्याकरण शास्त्र की आलोचना करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था।

इसके बाद बालानन्द संस्कृत कॉलेज से नव्यन्याय शब्द-खण्ड तथा अनुमान-

खण्ड की 'तर्क-तीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण होकर मैं कलकत्ता चला आया और रामकृष्णमिशन के केन्द्रस्थल बेलुड़मठ के कॉलेज 'रामकृष्णमिशन विद्यामन्दिर' में संस्कृताध्यापक के रूप से कई साल कार्य किया। उसी समय साथ-साथ मैं कलकत्ता गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज के न्यायशास्त्र के प्रधानाध्यापक पण्डित श्री तारानाथ न्याय-तर्कतीर्थ भट्टाचार्य महोदय से प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय का अध्ययन करने लगा और प्राचीन न्याय में 'न्याय तीर्थ' परीक्षा प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करके उत्तीर्ण होने के बाद उसी संस्कृत महाविद्यालय के पाणिनि व्याकरण के प्राध्यापक दिवंगत महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्रीजी के अन्तेवासी स्वर्गत महामहोपाध्याय पण्डित श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्यजी से पाणिनि व्याकरण तथा पातञ्जल महाभाष्य का अध्ययन करने लगा। बाद में श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य जी के देहान्त के उपरान्त उसी संस्कृत महाविद्यालय के पाणिनि व्याकरण के प्राध्यापक के रूप में पण्डित श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य के पद पर नियुक्त वैद्यनाथधाम (देवघर) श्रीबालानन्द संस्कृत कालेज के भूतपूर्व पाणिनि व्याकरण तथा साहित्य शास्त्राध्यापक स्वर्गत पण्डित श्री हरिनन्दन झा जी से शब्देन्दुशेखर तथा वैयाकरणभूषणसार आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। कई साल पाणिनि व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त सन् १९५३ के जुलाई महीने में मुझे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग में संस्कृताध्यापक के रूप में अध्यापन-कार्य करने का अवसर मिला। तब से मुझे कई बार संस्कृत की एम० ए० कक्षा में पातञ्जल महाभाष्य तथा सिद्धान्त कौमुदी पढ़ाने का भार दिया गया। एम० ए० कक्षा में पढ़ाते समय विद्यार्थियों के लिये सिद्धान्त कौमुदी के कारक प्रकरण की व्याकरण सम्प्रदायानुसारी एक विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव करके मैं इस ग्रन्थ की रचना में तत्पर हुआ।

काशीस्थ भारतीय विद्या प्रकाशन के स्वत्वाधिकारी संस्कृतशास्त्र प्रकाशन में तत्पर श्री किशोरचन्द जैनजी मुझे इस कारक प्रकरण की विशद हिन्दी व्याख्या करने के लिये लगातार प्रोत्साहन देते रहे जिसके फलस्वरूप यह ग्रन्थ

विद्वज्जन के सम्मुख उपस्थित किया जा सका। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। मैं आशा करता हूँ कि परम श्रद्धेय पण्डित समाज इस ग्रन्थ को अवलोकन करके मुझे आशीर्वाद देंगे। इस ग्रन्थ में जो कोई त्रुटि परिलक्षित हो वह मेरे बुद्धिमान्द्य के कारण ही हुई है। विशेष प्रयास करने पर भी छापे की गलतियों को पूर्णतया सुधारना सम्भव नहीं हुआ है। इसके लिये मैं क्षमा प्रार्थना करता हूँ। अगले संस्करण में सुधार दिया जायगा।

मेरे वय:कनिष्ठ सहकर्मी न्यायव्याकरणाचार्य, एम० ए०, डा० श्री श्रीनारायण मिश्रजी ने नाना क्लिष्ट स्थलों में सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तथा सूत्र और विषय सूची बनाकर प्रचुर सहायता की है, जिसके लिये शास्त्रानुसार ब्राह्मण को आशीर्वाद देने का अधिकार अब्राह्मणका न रहने पर भी मैं उनको 'शुभाशंसनमाशी:' रूप में आशीर्वाद दे रहा हूँ कि परमकारुणिक विश्वनाथ उनका कल्याण करें।

मेरे अपर सहकर्मी श्रद्धेय व्याकरणाचार्य पण्डित श्री काशीनाथ पाण्डेयजी ने भी समय-समय पर ग्रन्थ को आलोचना करके मुझे सहायता दी है जिसके लिये मैं उनके प्रति आभारी हूँ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के व्याकरण-शास्त्र के 'रीडर' तथा प्रधानाध्यापक श्रद्धेय पण्डित श्री निरीक्षण पति मिश्रजी ने तथा वहीं के अपर व्याकरण शास्त्र के 'रीडर' तथा प्राध्यापक श्रद्धेय डा० पण्डित श्री सीताराम शास्त्रीजी ने इस ग्रन्थ को स्थल-स्थल में सुनकर मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया है जिसके लिये मैं उनका आभार मानता हूँ। काशीस्थ जालपा देवी रोड स्थित आर्यावर्त प्रेस के मालिक श्री बजरंगबली गुप्तजी तथा उनके सुपुत्र श्री गोपालचन्द्र गुप्तजी ने इस ग्रन्थ को शीघ्रातिशीघ्र मुद्रित करने के लिये बहुत क्लेश उठाया है, नहीं तो इस ग्रन्थ के प्रकाशन में और अधिक विलम्ब हो जाता। मैं इसलिये उनको धन्यवाद देता हूँ।

अन्त में मैं कृतज्ञतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि परमश्रद्धेय वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति (Vice-chancellor) विद्वन्मूर्धन्य डा० गौरीनाथ शास्त्री, एम० ए०, डी० लिट्० महोदय ने इस ग्रन्थ का प्राक्कथन

(Foreword) लिखकर मुझे चिर कृतज्ञता-पाश में आबद्ध किया है, जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभार मानता हूँ।

सर्वशेष में मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ग्रन्थ को लिखने के लिये मेरे मन में बहुत पहले से ही स्वाभाविक प्रवृत्ति रही। बहुत साल पहले सन् १९४७ में बंगाल में रहते समय ही मैंने राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा की हिन्दी उपाधि परीक्षा पास करके 'राष्ट्रभाषा कोविद' की उपाधि प्राप्त की थी, उसी राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति के एक सम्मानित (Honorary) प्रमाणित प्रचारक के रूप से लगातार कई साल तक कलकत्ता के नाना केन्द्रों में बहुत उत्साह के साथ राष्ट्रभाषा का प्रचार करने के साथ ही साथ यह निश्चय कर लिया था कि मेरी राष्ट्रभाषा प्रीति का एक स्थायी निदर्शन के रूप से कोई एक ग्रन्थ अवश्य लिखना है। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि आज मैं उस निश्चय का एक प्रत्यक्ष रूप इस ग्रन्थ के रूप में देने में समर्थ हुआ हूँ। मैं आशा करता हूँ देश-विदेश के सभी हिन्दी-प्रेमी सज्जन मेरी इस प्रचेष्टा को स्वागत करेंगे और मुझे हर तरह से प्रोत्साहित करते रहेंगे ताकि मेरी मातृ-भाषा हिन्दी न होने पर भी मैं उत्तरोत्तर हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लिखने में अधिकतर सिद्धि प्राप्त करके राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा कर सकूँ।

सिद्धान्तकौमुदी के कारक प्रकरण का यह अध्ययन केवल पाणिनि व्याकरण सम्प्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर ही किया गया है, कातन्त्र (कलाप) आदि अन्यान्य व्याकरण सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के साथ तुलनामूलक अध्ययन नहीं किया गया है। न्याय मीमांसा आदि शास्त्रप्रस्थान में तथा पुराण आदि में इस विषय के बारे में जो आलोचना की गयी है उसकी समीक्षा भी नहीं की गयी है। पाणिनि सम्प्रदाय में भी नवीन आचार्यों ने नव्यन्याय की शैली को अपनाते हुए जो परिष्कार विवेचना आदि की है उसका भी समावेश इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है, कारण नव्यन्याय शैली से भली-भाँति परिचय न रहने पर सर्वसाधारण पाठकों के लिये वह दुर्बोध हो जाता है। फिर भी नव्यन्याय शैली के अनुसार जो परिष्कार विवेचना आदि की गयी है

वह अत्यन्त ही उपादेय तथा सूक्ष्मबुद्धि - गम्य है तथापि वह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो जाने से तथा ग्रन्थ के अत्यन्त विस्तार के भय से मैंने इस ग्रन्थ में उन सब विवेचनों का समावेश नहीं किया है।

इस नव्यन्याय शैलो के अनुसार परिष्कार विवेचना आदि के बारे में एक बात मैं कहना चाहता हूँ। नव्यन्याय की शैली अत्यन्त सूक्ष्म तथा उपादेय होने पर भी साथ ही साथ अत्यन्त क्लिष्ट तथा दुर्बोध भी है। अतः उस शैली के ऊपर पूर्ण रूप से अधिकार बनाये रखने के लिये अत्यन्त समाहित चित्त से प्रतिक्षण मनन करने की आवश्यकता होती है। इसके फलस्वरूप अत्यन्त विशाल समुद्रोपम व्याकरण शास्त्र तथा अन्यान्य शास्त्रों के सिद्धान्त प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थों का मनन करने का अवसर कम हो जाने से धीरे-धीरे उन सब ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन भी कम हो गया है, जो शास्त्र के प्रचार की दृष्टि से बहुत ही क्षतिकर है। वस्तुतः नव्यन्याय शैली का सभी शास्त्रों में अनुप्रवेश होने के बाद उन सभी शास्त्रों के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन आदि जो कम हो गये हैं, सम्भवतः नव्यन्याय शैलो का अत्यन्त उत्कर्ष इसका कुछ दूर तक कारण हो सकता है।

किसी के मन में यह भूल धारणा न हो कि मैं नव्यन्याय की निन्दा या विरुद्ध समालोचना कर रहा हूँ। इधर मैंने नव्यन्याय की ही कुछ दूर तक अधिकतर सेवा की है और उसके चमत्कारित्व तथा परमोत्कर्ष के बारे में मैं सर्वथा निःसन्दिग्ध हूँ। तथापि वस्तुस्थिति को देखते हुए मैंने नव्यन्याय के बारे में पूर्वोक्त प्रकार की समीक्षा की है।

मैं आशा करता हूँ कि श्रद्धेय पण्डित महोदयगण नव्यन्याय के बारे में मेरे मनोभाव को यथार्थ दृष्टिकोण से ही देखेंगे।

दीपावली, १९७० ई० दिनेश चन्द्र गुह

भूमिका

वेद के शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः और ज्योतिष इन छः अङ्गों में प्रधान अङ्ग व्याकरण ही है,[1] इसलिये वेदार्थ का सम्यक् परिज्ञान के लिये शब्दानुशान नामक[2] व्याकरण शास्त्र का अध्ययन परमावश्यक है । प्राचीन परम्परानुसार वेद को अनादि माना जाता है, और आधुनिक मतानुसार भी वेदशास्त्र विश्व के सभी साहित्यों से प्राचीन है । अतः किसी भी मतानुसार देखा जाय तो वेदाङ्गभूत व्याकरण शास्त्र का सम्प्रदाय भी अत्यन्त प्राचीन है । वस्तुतः यह शब्द शास्त्र व्याकरण केवल प्राचीन ही नहीं, यह अत्यन्त गम्भीर तथा दुरवगाह है। संस्कृत व्याकरण शास्त्र के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय भारतवर्ष तथा उसके बाहर तिब्बत, चीन, ब्रह्मदेश, श्यामदेश (Thailand) सिंहल आदि देश में प्राचीन काल से ही प्रचलित है । भारतवर्ष के बाहर पाणिनि व्याकरण की अध्ययन अध्यापन परम्परा आजकल भी अल्प विस्तर प्रचलित है । भारतवर्ष में तो पाणिनि व्याकरण के पूर्ववर्त्ती ऐन्द्र, चान्द्र आदि बहुत से व्याकरण थे, जिनका इस समय केवल नाम मात्र ही अवशिष्ट है । पाणिनि व्याकरण के अतिरिक्त मुग्धबोध, हरिनामामृत, संक्षिप्तसार, कलाप आदि व्याकरण का सम्प्रदाय भी भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्त में प्रचलित है । इस प्रकार व्यापक दृष्टि से देखने पर इस शब्द शास्त्र का सम्प्रदाय अपरिमेय प्रतीत होता है ।

व्याकरण शास्त्र केवल शब्द शास्त्र ही नहीं है, यह एक दर्शन शास्त्र भी है ।

---

१. प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । सर्वदर्शनसंग्रह, पाणिनिदर्शन पृ० २९५ पुनः संस्करण 'आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गमाहु व्याकरणं बुधाः ॥' वाक्यपदीय, (१–११)

२. व्याकरणस्य चेदमन्वर्थं नाम शब्दानुशासनमिति, महाभाष्य पस्पशाह्निक, प्रदीप, पृ० ६ नि० सा० प्रेस संस्करण ।

इस दर्शन के सिद्धान्तानुसार अनादिनिधन ब्रह्म ही शब्द का वास्तव तत्त्व है[१]। अतएव जिस किसी दृष्टिकोण से भी व्याकरण शास्त्र की परमोपादेयता सर्ववादि-सम्मत है। इस शास्त्र के नियमपूर्वक अध्ययन से शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है[२]।

अन्यान्य संस्कृत शास्त्र के समान इस व्याकरण शास्त्र का भी नियमपूर्वक गुरुपरम्परा से सम्प्रदायशुद्ध अध्ययन परमावश्यक है। उसके बिना इस शास्त्र का रहस्य पूर्णतया हृदयङ्गम नहीं हो सकता। परमार्थसत्य के प्रकाश के लिये मैं इस प्रसङ्ग में इस बात को अत्यन्त दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि हमारे देश में प्राचीन काल से संस्कृत पाठशालाओं में जिस शैली से शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा चली आ रही है, वही एकमात्र निर्दुष्ट परम्परा है। आधुनिक स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत की अध्ययन अध्यापन की परम्परा प्रचलित है, परन्तु वह परम्परा शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है। सत्य के खातिर यह भी अवश्य कहना है कि आजकल संस्कृत पाठशालाओं में भी विद्यार्थी प्राय: यथार्थत: विद्यार्थी नहीं रह गये हैं। वे भी आजकल के स्कूल, कॉलेज, तथा विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के समान प्रायश: परीक्षा के दृष्टिकोण से अध्ययन करके विद्यार्थी न रहकर परीक्षार्थी बन गये हैं। इससे शास्त्र का प्राचीन सम्प्रदाय परम्परागत अध्ययन उच्छिन्न प्राय हो गया है। इस दिशा में संस्कृत शास्त्र के प्रत्येक प्रेमी को तथा देश के शासक सम्प्रदाय को अवश्य ध्यान देना चाहिये और शास्त्र सम्प्रदाय सर्वथा उच्छिन्न न हो इसकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। दुर्भाग्यवश

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्यपदीय, १–१

२. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति, सर्वदर्शन संग्रह पाणिनिदर्शन, पृ० २९६, पुना संस्करण।‘सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्यसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्य-फलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते। महाभाष्य (खण्ड २, पृ० १३२, नि० सा० प्रेस संस्करण।

हमारे देश में आजकल के संस्कृत पढ़नेवाले प्रायः सभी मनुष्यों के मन में के
'एम० ए,०' 'पी एच, डी, तथा 'आचार्य' 'विद्यावारिधि' आदि उपाधि प्र
करने की उत्कट आकांक्षा उपलब्ध होती है, न कि शास्त्र के रहस्य
यथार्थत: जानने की आकाङ्क्षा। इसका कुफल प्रायः सर्वत्र उपलब्ध हो र
है। 'एम० ए०', 'आचार्य', 'पी एच, डी' 'विद्यावारिधि', आदि डिग्रीधारि
की बाढ़ सी दिखाई पड़ने पर भी शास्त्र का यथार्थ ज्ञाता नहीं के बराबर र
गये हैं। अगर स्थिति इसी प्रकार की रही तो निःसन्देह अचिरात् भारत
से तथा सम्पूर्ण पृथिवी पृष्ठ से संस्कृत शास्त्र की शुद्ध सम्प्रदाय परम्परा उच्छि
हो जायगी।

मैंने इस ग्रन्थ मे पाणिनि व्याकरण की भट्टोजी दीक्षित कृत सिद्धान्तकौमु
के अन्तर्गत कारकादि विभक्त्यर्थ प्रकरण का सम्प्रदायानुसारी कथञ्चित वि
विवरणात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है। शब्द शास्त्र अत्यन्त दि
और गम्भीर है तथा मेरी शक्ति अत्यन्त सीमित है। अत: साधारण मनुष्य सुल
भ्रम प्रमाद अवश्य हुये होंगे, इसलिये मैं सहृदय पण्डित महोदयगण तथा स
साधारण पाठक महोदयों से सानुनय प्रार्थना करता हूँ कि भ्रमस्थलों की सूचन
मुझे दे दें ताकि आगामी संस्करण में सुधार दिये जा सकें।

संस्कृत भाषा की पूर्ण जानकारी के लिये सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र का अध्
यन परमावश्यक है, तथापि कारकादि विभक्त्यर्थ प्रकरण के अध्ययन से
विभिन्न प्रकार भावों का संस्कृत के माध्यम से प्रकाश करने के बारे में बहु
सहायता प्राप्त होती है। इसलिये मैंने इस प्रकरण का अध्ययन प्रस्तुत किया है
परमात्मा की इच्छा हो तो अन्यान्य प्रकरणों का अध्ययन भी शास्त्र की सेव
के लिये क्रमशः किया जायगा।

सिद्धान्तकौमुदी के अन्तर्गत जिस प्रकरण का विवरण प्रस्तुत किया जा रह
है उस प्रकरण का नाम 'कारकप्रकरण' के रूप से प्रसिद्ध है। अतएव सिद्धान्त
कौमुदी के सभी संस्करणों में 'अथ कारकप्रकरणम्' इस रूप से प्रकरण क

नाम उल्लिखित है, ऐसा देखा जाता है। किसी-किसी आचार्यों के मतानुसार इस प्रकरण का नाम 'विभक्त्यर्थ प्रकरण'[1] है।

तत्त्वबोधिनी टीकाकार श्रीमज्ज्ञानेन्द्र सरस्वतीजी के अनुसार भी इस प्रकरण का नाम 'विभक्त्यर्थ प्रकरण' ही है। कारण इस प्रकरण की व्याख्या के अन्त में उन्होंने 'इति विभक्त्यर्थाः' ऐसा कहा है। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्माजी के द्वारा सम्पादित तथा मोतीलाल बनारसीदास के प्रकाशित संस्करण में तत्त्वबोधिनी टीका के अन्त में 'इति तत्त्वबोधिन्यां कारकप्रकरणम्'[2] ऐसा पाठ उपलब्ध होता है और पाठान्तर के रूप से 'इति विभक्त्यर्थाः इति क्वचित् पाठः' ऐसा कहा गया है। गुरुप्रसाद शास्त्रीजी के द्वारा सम्पादित लघुशब्देन्दुशेखर में इस प्रकरण के प्रारम्भ में 'कारकप्रकरणम्' कहा गया है और अन्त में 'इति विभक्त्यर्थाः' कहा गया है। शब्देन्दुशेखर की 'विजया' टीका में इस प्रकरण के अन्त में 'कारकप्रकरणम्' कहा गया है। शब्देन्दुशेखर की चिदस्थिमाला टीका में कारक प्रकरण के प्रारम्भ में शब्देन्दुशेखर की 'इदमपि सूत्रं क्रियायोग एव प्रवर्त्तते, अन्ततः अस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्त्वात्' इस पंक्ति की व्याख्या प्रसंग में कहा गया है कि 'प्रातिपदिकार्थ लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इस सूत्र से विहित प्रथमा विभक्ति भी कारक विभक्ति ही है। चिदस्थिमाला टीका में पण्डितप्रवर श्री वैद्यनाथ पायगुण्डेजी ने यह भी कहा है कि प्राचीन वैयाकरणसम्प्रदाय के मतानुसार प्रथमा विभक्ति कारक विभक्ति नहीं है और शब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्टजी ने उस प्राचीन मत के खण्डन प्रसंग में ही पूर्वोद्धृत 'इदमपि सूत्रं क्रियायोग एव प्रवर्त्तते—' इत्यादि पंक्ति लिखी है।

जो कुछ भी हो प्रथमादि सात विभक्तियाँ कारक विभक्तियाँ हैं, यह नवीन वैयाकरण सम्प्रदाय का मत है। परन्तु विभक्तिशब्द सुप्तिङन्यतम के लिये

---

१. इति श्रीमद् वासुदेवदीक्षितविदुषा विरचितायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां बालमनोरमाख्यायां विभक्त्यर्थनिरूपणं समाप्तम्—बालमनोरमा, पृ० ७०४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

"विभक्तिश्च' (१–४–१०४) सूत्रानुसार परिभाषित होने पर भी महासंज्ञा होने के नाते यह अन्वर्थसंज्ञा या योगरूढ़संज्ञा भी है। 'अव्ययं विभक्तिसमीप'प्रति (२–१–६) इत्यादि अव्ययीभावसमास विधायक सूत्र की व्याख्याप्रसंग में तत्त्वबोधिनी टीकाकार आचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीजीने कहा है 'विभक्तिरिह कारक शक्तिः, विभज्यते अनया प्रातिपदिकार्थ इति व्युत्पत्तेः'। अर्थात् इस 'अव्ययं विभक्ति'—इत्यादिसूत्रघटक विभक्ति कारकशक्ति है, प्रातिपदिक का अर्थ इसके द्वारा विभक्त किया जाता है, इस व्युत्पत्ति के आधार पर कारकशक्ति को विभक्ति कहा जाता है।

प्रथमादि सात विभक्तियां कारकविभक्तियाँ होने पर भी वे कारकविभक्ति ही हैं, ऐसा नियम नहीं है। कारण उपपद विभक्तियाँ भी इन विभक्तियों के अन्तर्गत हैं, जो कारकविभक्ति नहीं हैं।

इस प्रकार स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध वाचक विभक्ति भी कारक विभक्ति नहीं है। 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' इस वाक्यान्तर्गत 'ब्राह्मणस्य' पद में जो षष्ठी विभक्ति है वह कारकविभक्ति नहीं है। पुत्र के द्वारा अन्यथासिद्ध होने से 'ब्राह्मण' 'प्रच्छ्' धात्वर्थ प्रश्न क्रिया का जनक न होने से ब्राह्मण में क्रियाजनकत्वरूप कारकत्व नहीं है।

ऐसे 'सम्बोधने च' इस सूत्रविहित 'सम्बोधने प्रथमा' विभक्ति भी कारक विभक्ति नहीं है। सम्बोधन विभक्ति सर्वत्र ही अनुवाद्यविषयक होती है,[१] विधेयविषयक नहीं। 'सम्बोधन' शब्द में 'सम्' इस उपसर्ग का 'सम्यक्' अर्थ है। अतः सम्यक् बोधन ही सम्बोधन है। जिसके प्रति सम्बोधन पद का प्रयोग किया जाता है ऐसे पद के श्रोता को पहले विशेषरूप से 'राजत्व' आदि विशेष धर्मविशिष्ट करके ज्ञात होने पर उनको कुछ विषय ज्ञापित किया जा सकता है। अतएव 'हे राजन्, सार्वभौमो भव' इस वाक्यान्तर्गत 'राजन्' शब्द में सम्बोधन प्रथमा विभक्ति एकवचन का प्रयोग करने से 'राजन्' ऐसा पद बन गया है।

१. अनुवाद्ये एवैषा विभक्तिः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ६२५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। सम्बोधनविभक्तिरियमनुवाद्यविषयैवेति लभ्यते, न तु विधेयविषया—बालमनोरमा 'सम्बोधने च' सूत्रव्याख्याप्रसंग में।

कोई व्यक्ति विशेष राजा है, यह जहाँ पहले से ज्ञात है, वहीं उस व्यक्ति के प्रति 'सार्वभौमो भव' ऐसा कहकर 'सार्वभौमत्व' का विधान किया जा सकता है। 'हे राजन्, सार्वभौमो भव' इस वाक्य में 'त्वम्' यह कर्त्तृपद ऊह्य है। अत: 'भव' इस क्रियापद के प्रकृतिभूत' 'भू' 'धात्वर्थ' 'सत्ता' 'रूप क्रिया का जनकत्व रूप कर्त्तृत्व 'युष्मत्' पदार्थ में है, न कि 'राजत्व' धर्म विशिष्ट राज पदार्थ में। इसलिये 'राजन्' पद में जो सम्बोधनार्थक प्रथमाविभक्ति है, वह कारक विभक्ति नहीं है। इस सम्बोधन के बारे में और बातें 'सम्बोधने च' सूत्रव्याख्या में द्रष्टव्य हैं।

विभक्तियों का 'प्रथमा', 'द्वितीया' आदि संज्ञा प्राचीन वैयाकरण सम्प्रदाय परम्परा से प्रचलित है। 'विभक्तिश्च' (१–४–१०४) सूत्र की व्याख्या में भट्टोजी दीक्षितजी ने स्पष्ट कहा है 'तत्र सु औ जस् इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादय: सप्तम्यन्ता: प्राचां संज्ञा:'।

'सुप्' विभक्तिओं के अन्तर्गत 'प्रथमा' आदि सात विभक्तियों की प्रत्येक विभक्ति के एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन — ये तीन वचन होते हैं, जिनको 'सुप:' (१–४–१०४) सूत्र की व्याख्या में भट्टोजी दीक्षितजी ने 'सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि स्यु:' इस रूप से कहा है।

कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण - ये छ: कारक व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। 'हेतु' को भी अलग कारक के रूप से मानने पर कारक सात हैं —ऐसा कहना पड़ता है। द्रव्य, गुण तथा क्रिया—इनमें से किसी एक का जो जनक है और जो व्यापारवान् या निर्व्यापार है, वह हेतु कहलाता है इस दृष्टिकोण से क्रिया का जनकीभूत जो हेतु, कम से कम उसमें तो क्रियाजनकत्व रूप कारकत्व रहता है। अत: उस हेतु को कारक के रूप से माना जा सकता है। परन्तु कारक सात हैं, यह मत व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध नहीं है। इसीलिये खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षणखण्डनके प्रसंग में 'सप्तमकारक स्वीकारापत्ते:', यह श्रीहर्षने भी

कहा है। सप्तम कारक इष्ट होने से सप्तमकारकस्वीकारापत्ति रूप दोष के असङ्गत होता है।

व्याकरणशास्त्र में कारकत्व तथा तद्व्याप्य कर्त्तृत्व कर्मत्वादिशक्ति त शक्त्याश्रय द्रव्य, इन दोनों को ही कारक के रूप से माना जाता है। उपपत्ति अनुसार कहीं शक्ति को ही कारक के रूप से माना जाता है, जैसे 'सप्तमीपञ्चम कारकमध्ये' (२–३–७) इस सूत्र में 'शक्ति' को कारक के रूप से माना ग तत्त्वबोधिनी टीका में इस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में आचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्व जी ने कहा है 'नात्र शक्त्याश्रयं (शक्त्याश्रयः ?) कारकमिति व्यवह्रियते, कि शक्तिरेव'। उसी सूत्र की व्याख्या में नागेशभट्टजी ने भी कहा है 'कर्त्तृत्वा शक्तिरेव कारकम्, सा च क्रियाभेदेन भिन्नेति भावः'।

शक्तिमान् कारक के उदाहरण प्रायः सर्वत्र ही कारक के स्थल में उपल होते हैं। 'देवदत्तः चन्द्रं पश्यति' इत्यादि वाक्य प्रयोग के स्थल-दर्शनक्रि कर्त्तृत्वशक्ति का आश्रय 'देवदत्त' तथा दर्शन क्रिया कर्मत्व शक्ति का आ 'चन्द्र' यथाक्रम कर्त्ता और कर्म के रूप से माने जाते हैं।

'शक्ति' कारक और 'शक्तिमान्' कारक--कारक के बारे में ये दोनों सिद्धा रहने पर भी 'शक्तिमान्' कारक, यह सिद्धान्त ही प्रबल है,—प्रयोग बाहुल्य आधार पर ऐसा कहना अनुचित नहीं लगता। 'शक्तिमान्' कारक, यही सिद्धा प्राचीनतर है, शास्त्रीय सिद्धान्तों की ऐतिहासिक पर्यालोचना मेरे इस अध्य का विषय नहीं है। वह भी एक रोचक अध्ययन अवश्य है। परन्तु कारका विभक्त्यर्थप्रकरणका वैयाकरण सम्प्रदायानुसारी विवरणात्मक अध्ययन वर्त्तम ग्रन्थ का लक्ष्य होने से ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस प्रकरण में आलोचित विष का अध्ययन नहीं किया गया है।

दिनेश चन्द्र

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

(कारकादिविभक्त्यर्थप्रकरणम्)

५३२ प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा । (२–३–४६)

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् । अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य । तटः, तटी, तटम् । परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः । द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः । वचनं संख्या । एकः । द्वौ । वहवः । इहोक्तार्थत्वाद् विभक्ते रप्राप्तौ वचनम् ।

५३३ संबोधने च । (२–३–४७)

इह प्रथमा स्यात् । हे राम ।।

इति प्रथमा विभक्तिः ।

५३४ कारके । (१–४–२३)

इत्यधिकृत्य ।

५३५ कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म । (१–४–४९)

कर्त्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । कर्त्तुः किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति । कर्मण ईप्सिता माषाः, नतु कर्त्तुः । तमब्ग्रहणं किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते । 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्

५३६ अनभिहिते । (२-३-१)

इत्यधिकृत्य ।

५३७ कर्मणि द्वितीया । (२-३-२)

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्म 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव । अभिधानं च[1] प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः । तिङ्, हरिः सेव्यते । कृत्, लक्ष्म्या सेवितः । तद्धित, शतेन क्रीतः शत्यः समास, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः । क्वचिन्निपातेनाभिधानम्, यथा- 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्य इत्यर्थः ।

५३८ तथायुक्तं चानीप्सितम् । (१-४-५०)

ईप्सिततमवत् क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । ग्रा गच्छंस्तृणं स्पृशति । ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते ।

५३९ अकथितं च । (१-४-५१)

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।
'दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमन्थमुषाम् ।।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ।'

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेव कथितं कर्मेति परिगणनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । गां दोग्धि पयः । बलिं याच वसुधाम् । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गाञ्छतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रू शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं श मुष्णाति । ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा । अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि । कार किम् ? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति 'अकर्मकधातुभिर्योगे देशः का

१. अभिधानं तु इति पाठान्तरम् ।

भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्' (वा० ११०३–११०४)।
कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।

५४० गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता सणौ (१-४-५२)

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्त्ता स णौ कर्म स्यात्।

शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम्॥
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।

गतीत्यादि किम्? पाचयत्योदनं देवदत्तेन। अण्यन्तानां किम्? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः। 'नीवह्योर्न' (वा० ११०९)। नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन। 'नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः' (वा० १११०)। वाहयति रथं वाहान् सूतः। 'आदिखाद्योर्न[1]' (वा० ११०९)। आदयति खादयति वान्नं बटुना। 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' (वा० ११११) भक्षयत्यन्नं बटुना। अहिंसार्थस्य किम्? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्। 'जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्' (वा० ११०७)। जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः। 'दृशेश्च' (वा० ११०८)। दर्शयति हरिभक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणम्, न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरति जिघ्रतीत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन। 'शब्दायतेर्न' (वा० ११०५)। शब्दाययति देवदत्तेन। धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मकाः, नत्वविवक्षितकर्माणोऽपि। तेन 'मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवति, 'देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न।

५४१ हृक्रोरन्यतरस्याम्। (१–४–५३)

हृक्रोरणौ यः कर्त्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात्। हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्। 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्'(वा० १११४) अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

---

१. 'अदिखाद्योर्न' इति पाठान्तरम्।

५४२ अधिशीङ्स्थाऽसां कर्म । (१-४-४६)

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् ।

अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ।

५४३ अभिनिविशश्च । (१-४-४७)

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् । अभिनिविशते सन्मार्गम् । 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्—' (सू० ५८०) इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न पापेऽभिनिवेशः ।

५४४ उपान्वध्याङ्वसः । (१-४-४८)

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । 'अभुक्त्यर्थस्य न' (वा० १०८७) । वने उपवसति ।

'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।।' (वा० १४४४)

उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् । 'अभितः परितः समया निकषाहाप्रतियोगेऽपि' (वा० १४४२-१४४३) । अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम्, तस्य शोच्यः इत्यर्थः । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' ।

५४५ अन्तराऽन्तरेण युक्ते । (२-३-४)

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात् । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

५४६ कर्मप्रवचनीयाः । (१-४-८१)

इत्यधिकृत्य ।

५४७ अनुर्लक्षणे । (१-४-८४)

लक्षणे द्योत्ये अनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

५४८ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।

एतेन योगे द्वितीया स्यात् ।

जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाऽनेन बाध्यते । 'लक्षणेत्थम्भूत—' (सू० ५५२) इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

५४९ तृतीयार्थे । (१–४–८५)

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह संबद्धेत्यर्थः । 'षिञ् बन्धने' क्तः ।

५५० हीने । (१–४–८६)

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरिं सुराः । हरे र्हीना इत्यर्थः ।

५५१ उपोधिके च । (१–४–८७)

अधिके हीने द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने—उप हरिं सुराः ।

५५२ लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः । (१–४–९०)

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे—वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थम्भूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा । भागे—लक्ष्मी र्हरिं प्रति परि अनु वा । हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम् । एषु किम् ? परिषिञ्चति ।

५५३ अभिरभागे । (१–४–९१)

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभिवर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देवमभि सिञ्चति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम् ।

५५४ अधिपरी अनर्थकौ । (१–४–९३)

उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधाद्

'गतिर्गतौ' (सू० ३९७७) इति निघातो न।

५५५ सुः पूजायाम् । (१-४-९४)

सुसिक्तम्, सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायां किम् ? सुषिक्तं तवात्र[1] । क्षेपोऽयम् ।

५५६ अतिरतिक्रमणे च । (१-४-९५)

अतिक्रमणे पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ।

५५७ अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु । (१-४-९६)

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वान्न षः सम्भावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते । सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे । इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थ-द्योतकता नाम । द्वितीया तु नेह प्रवर्त्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो नत्वपिनेत्युक्तत्वात् । अपि स्तुयाद् विष्णुम्, संभावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्त्तुमत्युक्तिः । अपि स्तुहि, अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा । धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृपलम्, गर्हा । अपि सिञ्च, अपि स्तुहि, समुच्चये ।

५५८ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । (२-३-५)

इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य द्विरधीते, क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ।

इति द्वितीया विभक्तिः ।

५५९ स्वतन्त्रः कर्त्ता । (१-४-५४)

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ।

---

१. सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र इति पाठान्तरम् ।

५६० साधकतमं करणम् । (१-४-४२)

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं कारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमब्ग्रहणं किम् ? गङ्गायां घोषः ।

५६१ कर्तृकरणयोस्तृतीया । (२-३-१८)

अनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेन हतो बाली । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा० १४६६) । प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ।

५६२ दिवः कर्म च । (१-४-४३)

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात् करणसंज्ञम् । अक्षैरक्षान् वा दीव्यति ।

५६३ अपवर्गे तृतीया । (२-३-६)

अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनो रत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ।

५६४ सहयुक्तेऽप्रधाने । (२-३-१९)

सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं सार्धं समं योगेऽपि । विनापि तद्योगं तृतीया । 'वृद्धो यूना'—(सू० ९३१) इत्यादिनिर्देशात् ।

५६५ येनाङ्गविकारः । (२-३-२०)

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततः तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम् ? अक्षि काणमस्य ।

५६६ इत्थम्भूतलक्षणे । (२-३-२१)

कञ्चित् प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्यतापसत्व विशिष्ट इत्यर्थः ।

५६७ संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि । (२-३-२२)

संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा संजानीते

५६८ हेतौ । (२-३-२३)

हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम् करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः । पुण्येन दृष्टो हरिः । फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति । 'गम्यमानाऽपि क्रिया कारक विभक्तौ प्रयोजिका' । अलं श्रमेण । श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः । इह साधन क्रियां प्रति श्रमः करणम् । शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः । शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः । 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' (वा० ५०४०) दास्या संयच्छते कामुकः । धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति ।

इति तृतीया विभक्तिः ।

५६९ कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् । (१-४-३२)

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ।

५७० चतुर्थी सम्प्रदाने । (२-३-१३)

विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः । 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' (वा० १०८५) । 'कर्मणः करण संज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा' (वा० १०८६) पशुना रुद्रं यजते । पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ।

५७१ रुच्यर्थानां प्रीयमाणः (१-४-३३)

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात् । हरये रोचते भक्तिः । अन्यकर्तृकोऽभिलाषः रुचिः । हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री । प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि ।

५७२ श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः । (१-४-३४)

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा । ज्ञीप्स्यमानः किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

५७३ धारेरुत्तमर्णः । (१–४–३५)

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णः उक्तसंज्ञः स्यात् । भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम् ? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ।

५७४ स्पृहेरीप्सितः । (१–४–३६)

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सितः किम् ? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा, पुष्पाणि स्पृहयति ।

५७५ क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः । (१–४–३७)

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः । स्यात् । हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम् ? भार्यामीर्ष्यति । मैनामन्यो[१] द्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः । द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्या अक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोप' इति ।

५७६ क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म । (१–४३–८)

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोप स्तत् कारक कर्मसंज्ञं स्यात् । क्रूरमभिक्रुध्यति अभिद्रुह्यति ।

५७७ राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः । (१–४–३९)

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्, यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते । कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा । पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः ।

५७८ प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता । (१–४–४०)

आभ्यां परस्य शृणोते र्योगे पूर्वस्य प्रवर्त्तनारूपव्यापारस्य कर्त्ता संप्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा । विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्त्तितः प्रतिजानीत[१] इत्यर्थः

१. देहीति प्रवर्त्तितः तं प्रतिजानीत इत्यर्थः इति पाठान्तरम् ।

५७९ अनुप्रतिगृणश्च । (१–४–४१)

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । हो नुगृणाति प्रतिगृणाति वा । होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थ

५८० परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् । (१–४–४४)

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणम्, तस्मिन् साधकतमं का सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः । 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' (वा० १४५८) । मुक्तये हरिं भजति । 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' (वा० १४५९) । भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते इत्यादि । 'उत्पा ज्ञापिते च' (वा० १३६०) । वाताय कपिला विद्युत् । 'हितयो' (वा० १४६१) । 'ब्राह्मणाय हितम्' ।

५८१ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । (२–३–१४)

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्म चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कु नृसिंहाय ।

नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयम्भुवे नमस्कृत्य इत्यादावपि ।

५८२ तुमर्थाच्च भाववचनात् । (२–३–१५)

'भाववचनाश्च' (सू० ३१८०) इति सूत्रेण यो विहित स्तदन्ताच्च स्यात् । यागाय याति यष्टुं यातीत्यर्थः ।

५८३ नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च । (२–३–१६)

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्ति लीयसी'—(प० १०३) । नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अ स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' (वा० १४६२ तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्य साधुः 'तस्मै प्रभवति'—(सू० १७६५) 'स एषां ग्रामणीः'—(सू० १८ इति निर्देशात् । तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम् । वषडिन्द्रा चकारः पुनर्विधानार्थः तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि'

(सू० ६३१) इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति । स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

५८४ मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु । (२–३–१७)

प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे । न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा । श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न । न त्वां तृणं मन्वे । 'अप्राणि-ष्वित्यपनीय नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम्' (वा० १४६४) । तेन 'नत्वां नावं मन्ये' इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न । 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव ।

५८५ गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि । (२–३–१२)

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरिं व्रजति । अनध्वनि इति किम् ? पन्थानं गच्छति । गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पथात् पन्था एवातिक्रमितुमिष्यते तथा चतुर्थी भवत्येव, उत्पथेन पथे गच्छति ।

इति चतुर्थी विभक्तिः ।

५८६ ध्रुवमपायेऽपादानम् । (१–४–२४)

अपायो विश्लेषः तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात् ।

५८७ अपादाने पञ्चमी । (२–३–२८)

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात् पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (वा० १०७९) । पापा-ज्जुगुप्सते, विरमति । धर्मात् प्रमाद्यति ।

५८८ भीत्रार्थानां भयहेतुः । (१–४–२५)

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् । चोराद् बिभेति । चोरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति त्रायते वा ।

५८९ पराजेरसोढः । (१–४–२६)

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात् पराजयते । ग्लाय-तीत्यर्थः । असोढः किम् ? शत्रून् पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ।

५९० वारणार्थानामीप्सितः । (१–४–२७)

प्रवृत्तिविघातो वारणम्, वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं
स्यात् । यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम् ? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे

५९१ अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति । (१–४–२८)

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं
स्यात् । मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धौ किम् ? चौरान् न दिदृक्षते । इच्छा-
तिग्रहणं किम् ? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्

५९२ आख्यातोपयोगे । (१–४–२९)

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते ।
उपयोगे किम् ? नटस्य गाथां शृणोति ।

५९३ जनिकर्तुः प्रकृतिः । (१–४–३०)

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

५९४ भुवः प्रभवः । (१–४–३१)

भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभव स्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति ।
प्रकाशत इत्यर्थः ।

'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' (वा० १४६४–१४७५) । प्रासादात्
प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसन उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः ।
श्वशुराज्जिह्रेति । श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । 'गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां
निमित्तम्' (वा० १०४१) कस्मात्त्वम् ? नद्याः । यतश्चाध्वकालनिर्माणं त-
पञ्चमी' (वा० १४७७) । तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ' (वा० १४७६)
'कालात् सप्तमी च वक्तव्या' (वा० १४७८) । वनाद् ग्रामो योजनं यो-
वा । कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे ।

५९५ अन्यारादितरर्त्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते । (२–३–२९)

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्येत्यर्थग्रहणम् । इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम् ।
अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आराद् वनात् । ऋते कृष्णात् । १

१. ततः इति पाठान्तरम् ।

ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचियोगे तु न । 'तस्य परमाम्रेडितम्' (सू ८३) इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ'—(सू० ६०९) इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम् । प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात् । आच्—दक्षिणा ग्रामात् । आहि—दक्षिणाहि ग्रामात् । 'अपादाने पञ्चमी' (५८७) इति सूत्रे 'कार्त्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी । भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः । अपपरिबहिः'—(६६६) इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी । ग्रामाद् बहिः ।

५९६ अपपरी वर्जने । (१-४-८८)

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः ।

५९७ आङ् मर्यादावचने । (१-४-८९)

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि ।

५९८ पञ्चम्यपाङ्परिभिः । (२-३-१०)

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

५९९ प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः । (१-४-९२)

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

६०० प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् । (२-३-११)

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ।

६०१ अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी । (२-३-२४)

कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः । अकर्त्तरि किम् ? शतेन बन्धितः ।

६०२ विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । (२-३-२५)

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याद् जाड्येन वा बद्ध
गुणे किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या मुक्तः । 'विभाषा'
योगविभागाद् अगुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घ
नुपलब्धेः ।

६०३ पृथग्विनानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । (२-३-३२)

एभिर्योगे तृतीया स्यात्, पञ्चमीद्वितीये च । अन्यतरस्यांग्रहणं समुच्च
यार्थम्, पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तते । पृथग् रामेण रामाद् रामं वा । ए
विना, नाना ।

६०४ करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य । (२-३-३३)

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः । स्तोकेन स्तोकाद्
मुक्तः । द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः ।

६०५ दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च । (२-३-३५)

एभ्यो द्वितीया, चात् पञ्चमीतृतीये च । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्
ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा, अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिकेन वा । असत्त्ववच
नस्येत्यनुवृत्तेर्नेह—दूरः पन्थाः ।

इति पञ्चमी, विभक्तिः ।

६०६ षष्ठी शेषे । (२-३-५०)

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, त
षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव
सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधोदकस्योपस्कुरुते । भ
शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ।

६०७ षष्ठी हेतुप्रयोगे । (२-३-२६)

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठीस्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

६०८ सर्वनाम्नस्तृतीया च । (२-३-२७)

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च

न हेतुना वसति । कस्य हेतोः । 'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' (वा० १४७३) । किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि । एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः, ज्ञानाय निमित्ताय इत्यादि ।

६०९ षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन । (२-३-३०)

एतद्योगे षष्ठी स्यात् । 'दिक्शब्द'— (सू० ५९५) इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः पुरः पुरस्तात् उपरि उपरिष्टात् ।

६१० एनपा द्वितीया । (२-३-३१)

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । 'एनपा' इति योगविभागात् षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा ।

६११ दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् । (२-३-३४)

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद् वा ।

६१२ ज्ञोऽविदर्थस्य करणे । (२-३-५१)

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ।

६१३ अधीगर्थदयेशां कर्मणि । (२-३-५२)

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ।

६१४ कृञः प्रतियत्ने । (२-३-५३)

प्रतियत्नो गुणाधानम् । कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने । एधोदकस्योपस्करणम् ।

६१५ रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः । (२-३-५४)

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । चौरस्य रोगस्य रुजा । 'अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम्' (वा० १५०७) ।

रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादि-मित्यर्थः।

६१६ आशिषि नाथः। (२–३–५५)

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। आशिषि किम्—माणवकनाथनम्। तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः।

६१७ जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्। (२–३–५६)

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। चौरस्योज्जासनम्। संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा। चौरस्य निप्रहणनं प्रणिहननं निहननं प्रहणनं वा। 'नट अवस्कन्दने' चुरादिः। चौरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्। लस्य पेषणम्। हिंसायां किम्? धानापेषणम्।

६१८ व्यवहृपणोः समर्थयोः। (२–३–५७)

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयो स्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा। समर्थयोः किम्? शलाकाव्यवहारः। गण-त्यर्थः। ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः।

६१९ दिवस्तदर्थस्य। (२–३–५८)

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।

६२० विभाषोपसर्गे। (२–३–५९)

पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति।

६२१ प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने। (२–३–६१)

देवतासम्प्रदानके[1]ऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविर्विशेष-वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा।

१. देवतासम्प्रदानेर्थे इति पाठान्तरम्।
२. हविषो इति पाठान्तरम्।

६२२ कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे । (२-३-६४)

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वोऽ
ो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम् ? द्विरह्न्यध्ययनम् ।

६२३ कर्तृकर्मणोः कृति । (२-३-६५)

कृद्योगे कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृति । जगतः कर्त्ता
ष्णः । 'गुणकर्मणि वेष्यते' (वा० ५०४२) । नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं
। कृति किम् ? तद्धिते माभूत्, कृतपूर्वी कटम् ।

६२४ उभयप्राप्तौ कर्मणि । (२-३-६६)

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां
होऽगोपेन । 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयो र्नायं नियमः' (वा० १५१३) ।
दिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः । 'शेषे विभाषा' (वा० १५१३) ।
प्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृति र्हरे र्हरिणा वा । केचिदविशेषेण
भाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा ।

६२५ क्तस्य च वर्त्तमाने । (२-३-६७)

वर्त्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'न लोक'—(सू० ६२७)
ति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा ।

६२६ अधिकरणवाचिनश्च । (२-३-६८)

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा ।

६२७ न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । (२-३-६९)

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशा[1]:—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः ।
र दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा । उकः—दैत्यान् घातुको हरिः । 'कमेरनिषेधः'
वा० १५१९) । लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—जगत् सृष्ट्वा, सुखं
र्तुम् । निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः, दैत्यान् हतवान् विष्णुः । खलर्थाः—
त्करः प्रपञ्चो हरिणा । तृन् इति प्रत्याहारः 'शतृशानचौ' इति तृशब्दा-

---

१. बालमनोरमाटीकाकृन्मतानुसारेण तु 'लादेश' इति निर्विभक्तिकनिर्देशः । एवमेव
वसन्नस्थान्यप्रतीकस्थलेष्वपि ज्ञेयम् ।

दारभ्य आतृनो नकारात् । शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—आत्
मण्डयमानः । शतृ—वेदमधीयन् । तृन्—कर्त्ता लोकान् । 'द्विषः शतृ
(१५२२) । मुरस्य मुरं वा द्विषन् । सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः ।
षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः ।

६२८ अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । (२–३–७०)

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् ।
पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी ।

६२९ कृत्यानां कर्त्तरि वा । (२–३–७१)

षष्ठी वा स्यात् । मया मम वा सेव्यो हरिः । कर्त्तरि इतिकिम् ?
माणवकः साम्नाम् । 'भव्यगेय'—(सू० २८९४) इति कर्त्तरि यद्विधान
नभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते—कृत्यानाम् । 'उभयप्राप्तौ' इति
इति चानुवर्त्तते । तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः—कर्त्तरि
उक्तोऽर्थः ।

६३० तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् । (२–३–७२)

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी । तुल्यः सदृशः समो वा कृष्
कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्यां किम् ? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।

६३१ चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः । (२–३–७३)

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी । आशिषि—आयुष्यं चिरञ्जी
कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम्
प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात् । आशिषि किम्—देवदत्तस्यायुष्यमि
व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः ।

इति षष्ठी विभक्तिः ।

६३२ आधारोऽधिकरणम् । (१–४–४५)

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञं स्यात् ।

६३३ सप्तम्यधिकरणे च । (२–३–३६)

अधिकरणे सप्तमी स्यात् । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्ले

वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छाऽस्ति । सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' (सू० ६०५) इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः । 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' (वा० १४८५) । अधीतमनेनेतिविग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' (सू० १८८८) इति कर्त्तरीनिः । 'साध्वसाधुप्रयोगे च' (वा० १४८६) । साधुः कृष्णो मातरि, असाधुर्मातुले । 'निमित्तात् कर्मयोगे' (वा० १४९०) । निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥'

हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्ता । सीमा अण्डकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम् ? वेतनेन धान्यं लुनाति ।

६३४ यस्य च भावेन भावलक्षणम् । (२–३–३७)

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः । अर्हाणां कर्त्तृत्वेऽनर्हाणामकर्त्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च । सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति । सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ।

६३५ षष्ठी चानादरे । (२–३–३८)

अनादराधिक्ये[1] भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ।

६३६ स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च । (२–३–३९)

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम् । गवां गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः ।

६३७ आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् । (२–३–४०)

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः ।

---

१. अनादराधिके इति पाठान्तरम् ।

आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्युक्त इत्यर्थः ।

६३८ यतश्च निर्धारणम् । (२-३-४१)

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोषु वा कृष्णा क्षीरा । गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः । छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः

६३९ पञ्चमी विभक्ते । (२-३-४२)

विभागो विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः ।

६४० साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः । (२-३-४३)

आभ्यां योगे सप्तमीस्यादर्चायाम्, न तु प्रतेः प्रयोगे । मातरि साधुर्निपुणो वा । अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् 'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' (वा० १४६३)

साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा ।

६४१ प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च । (२-३-४४)

आभ्यां योगे तृतीया स्यात्, चात् सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा ।

६४२ नक्षत्रे च लुपि । (२-३-४५)

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात् तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । श्रवणे इति वा । लुपि किम् ? पुष्ये शनिः ।

६४३ सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये । (२-३-७)

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः । अधिककशब्देन योगे सप्तमी

पञ्चम्याविष्येते । 'तदस्मिन्नधिकम्—' (सू० १८४३) इति 'यस्मादधिकम्' (सू० ६४५) इति च सूत्रनिर्देशात् । लोके लोकाद् वा अधिको हरिः ।

६४४ अधिरीश्वरे । (१–४–९७)

स्वस्वामिभावसम्बन्धे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् ।

६४५ यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी । (२–३–९)

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात् । उपपरार्धे हरे गुंणाः । परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधि भुवि रामः । अधि रामे भूः । 'सप्तमी शौण्डैः' (सू० ७१७) इति समासपक्षे तु रामाधीना 'अषड़क्ष—' (सू० २०७९) इत्यादिना खः ।

६४६ विभाषा कृञि । (१–४–९८)

अधिःकरोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे । यदत्र मामधिकरिष्यति । विनियोक्ष्यत इत्यर्थः । इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते । अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' (सू० ३९७८) इति निघातो न ।

इति सप्तमी विभक्तिः

इति कारकादिविभक्त्यर्थप्रकरणम् ।

कारक प्रकरण की संक्षिप्त विषय सूची

पृष्ठसंख्या

पृष्ठसं

———

वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी

कारकादि–विभक्त्यर्थं प्रकरण ।

५३२ । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा । (२।३।४६)

नियतोपस्थितिकः प्रतिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्राति-पदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्राति-पदिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् । अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य । तटः । तटी । तटम् । परिमाणमात्रे, द्रोणो व्रीहिः । द्रोणरूपं यत् परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम् । प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः । वचनं संख्या । एकः । द्वौ । बहवः । इहोक्तार्थत्वाद् विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् ।

५३२ । अनुवाद तथा विवृति । **प्रातिपदिकार्थ इति**—केवल प्रतिपादिक का अर्थ बोध कराने के लिये, प्रातिपदिकार्थ के साथ केवल लिङ्ग रूप अधिक अर्थ का बोध कराने के लिये, प्रातिपदिकार्थ के साथ केवल परिमाण रूप अधिक अर्थ का बोध कराने के लिये तथा प्रातिपदिकार्थ के साथ केवल संख्यारूप अधिक अर्थ का बोध कराने के लिये प्रथमा विभक्ति हो ।

नियतोपस्थितिक इति—जिस प्रातिपदिक के उच्चारण के बाद जिस अर्थ का नियमित यानी अव्यभिचारी रूप से उपस्थिति (स्मरण) होती है वह प्रातिपदिकार्थ है । सूत्र में स्थित मात्रशब्द का सूत्रघटक प्रत्येक शब्द के साथ अन्वय है । केवल प्रातिपदिकार्थ में, प्रातिपदिपदिकार्थ के साथ केवल लिङ्ग आदि की अधिकता में, प्रातिपदिकार्थ के साथ केवल परिमाण की अधिकता में तथा संख्यामात्र में प्रथमा विभक्ति हो (यहाँ पर तथा ऐसे अन्य स्थलों में "में" का वाचकत्व रूप अर्थ है)

उच्चैः (महान्, ऊँचा) । नीचैः (अल्प, नीचा) । कृष्णः (... भगवान्) । श्रीः (लक्ष्मी, सम्पत्ति) । ज्ञानम् (ज्ञान, बुद्धि) । लि... रहितशब्द यानी अव्ययशब्द तथा जिन शब्दों का लिङ्ग एक ही है, वे प्राति... कार्थमात्रे प्रथमा, इस के उदाहरण हैं । और जिन का लिङ्ग अनियत... अव्यवस्थित है, वे शब्द लिङ्गमात्राधिक्य के उदाहरण हैं, जैसे तटः (... का तीर), तटी, तटम् । परिमाणमात्र के आधिक्य में "द्रोणो व्रीहि..." यह उदाहरण है । द्रोणरूप जो परिमाण उसके द्वारा परिच्छिन्न ... नापा हुआ व्रीहि (धान), यह अर्थ है । प्रत्यय यानी "द्रोणः" पद में प्रथमा का एकवचन "सु" प्रत्यय है, उसका अर्थ साधारण परिमाण ... उसमें द्रोण रूप प्रकृति का जो विशेष परिमाण रूप अर्थ है वह ... सम्बन्ध से विशेषण है । और प्रत्यय का ("सु" प्रत्यय का) सा... परिमाण रूप अर्थ परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव सम्बन्ध यानी नापने योग्य। नापने के साधन में आपस में जो सम्बन्ध है उस सम्बन्ध से व्रीहि (धा... मैं विशेषण है, यह अन्तर है ।

(सूत्रस्थ) वचन शब्द का संख्या अर्थ है । एकः, द्वौ, बहवः— (संख्या अर्थ में प्रथमा विभक्ति के उदाहरण हैं ।) इन स्थलों में संख्या अर्थ "एक", "द्वि" और "बहु" रूप प्रकृति के द्वारा उक्त यानी प्रतिपा... होने के कारण प्रथमा विभक्ति की प्राप्ति न होने से सूत्र में वचनशब्द... उल्लेख किया गया है । तात्पर्य यह है कि "उक्तार्थानामप्रयोगः" न्याय के अनुसार 'एक', 'द्वि', 'बहु' रूप प्रातिपदिक के द्वारा ही ए... द्वित्व और बहुत्व संख्या का बोध हो जाने से उसी अर्थ का बोध करा... लिये प्रथमा विभक्ति का प्रयोग नहीं किया जा सकता । तब वि... न लगाने से पद नहीं बन पायगा और जो पद नहीं है, शास्त्र में ... प्रयोग नहीं किया जायगा इसलिये पदसाधुत्वार्थं यहाँ प्रथमा विभक्ति... प्रयोग सूत्र में "वचन" शब्द के ग्रहण से किया गया है ।

विवृत्तिः— यह सूत्र भट्टोजीदीक्षितकृत वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी... कारकविभक्त्यर्थ प्रकरण का प्रथम सूत्र है । इस सूत्र में दो ...

तिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' यह समासवद्ध सप्तमी विभक्त्यन्त है, और "प्रथमा" यह प्रथमा विभक्त्यन्त दूसरा पद है "प्रातिपदिकार्थ-ङ्गपरिमाणवचनमात्रे" इस समासवद्ध पद का विग्रहवाक्य इस प्रकार है— पदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः (षष्ठीतत्पुरुष समास), प्रातिपदि-श्च लिङ्गञ्च परिमाणञ्च वचनञ्चेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण ानि (द्वन्द्व समास), प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि एव इति पदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रम्, इस विग्रह के आधार पर एव शब्द ाथ प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि इस का अस्वपदविग्रह नित्य-स हुआ है। उस समास को नित्यसमास कहा जाता है जिस के अपने शब्दों के द्वारा विग्रह वाक्य नहीं हो सकता है, परन्तु बाहर का दूसरा शब्द देना पड़ता है। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे इस समास टक शब्द हैं प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण, वचन और मात्र। परन्तु ह वाक्य कहते समय प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण वचन और एवं से विग्रह कहना पड़ा। यह जो 'विग्रह वाक्य' के अन्त में एव शब्द पड़ा, जो कि समास का अपना शब्द नहीं है, परन्तु बाहर का है, इस यह समास नित्य समास कहलाता है।

सूत्र में प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि इस द्वन्द्व समास के बाद मात्र रहने से उसका अन्वय द्वन्द्वसमास के घटक प्रत्येक शब्द से होगा। "द्वन्द्वादौ न्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते" अर्थात् द्वन्द्वसमास के आदि या अन्त में श्रूयमाण पद द्वन्द्वसमास के घटक प्रत्येकपद के साथ अन्वित है, इस नियम अनुसार सूत्र में स्थित "मात्र" शब्द का प्रातिपदिकार्थ , परिमाण तथा वचन के साथ अन्वय होगा। तब सूत्र का अक्षरार्थ है। प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे और संख्यामात्रे प्रथमा क्ति होती है। परन्तु भट्टोजी दीक्षित की व्याख्यानुसार प्रातिपदिकार्थ-परिमाणवचनमात्रे प्रथमा इस सूत्रका केवल प्रातिपदिकार्थ में, प्राति-ार्थ के साथ केवल लिङ्ग आदि अर्थ का अधिकरूप से बोध कराने के

लिये, प्रातिपदिकार्थ के साथ अधिकरूप से केवल परिमाण मात्र
कराने के लिये तथा केवल संख्या का बोध कराने के लिये प्रथमा
होती है।

भट्टोजी दीक्षित की इस प्रकार की व्याख्या का कारण यह है प्राति
के बारे में नाना मत प्रचलित हैं। उन मतों में स्वार्थ (जाति, प्रवृत्ति
विशेषण), द्रव्य (व्यक्ति, विशेष्य), लिङ्ग (स्त्रीत्व, पुंस्त्व, नपुं
संख्या (एकत्व, द्वित्व, बहुत्व आदि), और कारक (कर्म आ
ये पाँच महाभाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार प्रातिपदिकार्थ हैं। य
मत को स्वीकार किया जाय तो सूत्र में लिङ्ग तथा वचन शब्द
बोधित संख्या का उल्लेख करना व्यर्थ होता है, कारण प्रातिपदिकार्थ
में वे सब सम्मिलित हैं। अतएव यह मानना पड़ता है कि इस सूत्र में
पदिकार्थ करके उक्त पाँच पदार्थ को नहीं समझना। इसीलिये स
दीक्षित ने प्रातिपदिकार्थ की व्याख्या करते समय "नियतोपस्थितिक
पदिकार्थः" ऐसा कहा है। 'नियता व्यापिका उपस्थितिर्यस्य' इसर्थ
विग्रह वाक्य से जिस प्रातिपदिक के उच्चरित होने पर जिस
नियमित रूप से यानी अव्यभिचारी रूप से बोध होता है वही उसका
पदिकार्थ करके माना जाता है। ऐसा अर्थ केवल स्वार्थ (प्रवृत्ति
तथा द्रव्य (व्यक्ति) ही होता हैं। कारण लिङ्ग, संख्या, कारक
टाप् आदि प्रत्ययरूप अन्य उपायों से होता है।

महावैयाकरण कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार ग्रंथ में कहा है कि प्रा
कार्थ के बारे में शास्त्र में नाना प्रकार के सिद्धान्त कहे गये हैं[1]। ला
जाति प्रातिपदिकार्थ है, यह एक मत है। यह वाजप्यायन नामक आ
मत है, ऐसा "सरूपाणामेकशेषः एकविभक्तौ" इस सूत्र के भाष्य में

१। एकं द्विकं त्रिकं चाथ चतुष्कं पञ्चकं तथा।
नामार्थं इति सर्वे१मी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः॥
वैयाकरभूषणसार २५ कारिका।

प्यायनः, जातिरेव प्रातिपदिकार्थः। लाघवेन तस्या एव वाच्यत्वौ-
यात्', यह भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है। ऐसे व्याड़ि नामक आचार्य
मतानुसार व्यक्ति ही प्रातिपदिकार्थ है। इस मत में विशिष्ट जाति युक्त
मात्र का बोध प्रातिपदिक से होता है। द्रव्य का परस्पर भेद ध्यान में
आता है।

लिङ्ग का बोध टाप् आदि प्रत्यय से होता है तथा संख्या और कारक
बोध विभक्ति से होता है, इस दृष्टिकोण से स्वार्थ और द्रव्य ये दो ही
पदिकार्थ हैं।

पाणिनि व्याकरण के वृत्तिकार के मतानुसार स्वार्थ, द्रव्य और लिङ्ग,
तीन ही प्रतिपदिकार्थ हैं। अन्वय और व्यतिरेक से संख्या और कारक
भक्ति के अर्थ हैं, ऐसा निश्चित रूप से जाना जाता है। इस मत के
सार लिङ्ग टाप् आदि प्रत्यय का वाच्यार्थ नहीं है।

कैयट के मतानुसार स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, और संख्या, ये चार प्रातिपदि
र्थ हैं। इस मत में कारक विभक्ति का अर्थ है।

पाणिनि व्याकरण के भाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार स्वार्थ, द्रव्य,
ङ्ग, संख्या और कारक, ये पाँच प्रतिपदिकार्थ हैं।[1] कारण यह है कि
त्रि, मधु इत्यादि शब्द के स्थल में केवल प्रातिपदिक से ही स्वार्थ आदि
ी अर्थों का बोध होने से यह सिद्ध होता है कि प्रातिपदिक से ही सभी
ों का बोध होता है। इस मत में लिङ्ग, संख्या और कारक टाप् आदि
यय तथा सुप् आदि विभक्ति के वाच्यार्थ नहीं हैं।

३ सम्बोधने च (२ । ३ । ४७)

इह प्रथमा स्यात्। हे राम। इति प्रथमा विभक्तिः।

ुवाद तथा विवृत्ति--

(प्रातिपदिकार्थ से अधिक) सम्बोधन रूप अर्थ अधिक गम्यमान होने
भी प्रथमा विभक्ति हो।

१। स्वार्थो द्रव्यञ्च लिङ्गञ्च संख्या कर्मादिरेव च।
अमी पञ्चैव नामार्था त्रयः केषाञ्चिदग्रिमः॥

इह इति। इसमें यानी सम्बोधन-रूप अर्थ अधिक गम्यमान होने प्रथमा विभक्ति हो। हे राम! (मां पाहि यह शेष है)।

अभिमुख कराके अज्ञातार्थविषयक ज्ञान के अनुकूल व्यापार अनुकूल व्यापार सम्बोधन शब्द का अर्थ है।

उस ज्ञानानुकूल व्यापारजन्य ज्ञान के अनुकूल व्यापार का आश्रय सम्बोध्य कहलाता है। जिसको सम्बोधित किया जाता है वह सम्बोध्य तात्पर्य्य यह है किसी को बुलाने से वह व्यक्ति बुलानेवाले के प्रति अभि हो जाता है और किसी अज्ञात विषय को जानने के लिये मनोयोग देता वह मनोयोग ज्ञानानुकूल व्यापार है। उस ज्ञानानुकूल व्यापार के लिये कूल व्यापार बुलानेवाले का 'राम' इत्यादि विशिष्ट शब्द प्रयोग है। ता विशिष्ट शब्द प्रयोग का विषय 'राम' इत्यादि पद सम्बोधन पद है।

शब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्ट के मतानुसार सम्बोधन का अर्थ दे अभिमु करण। इसका भी पूर्वोक्त तात्पर्य है।

सम्बोधन प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष्य तथा क्रिया के प्रति विशेषण अतएव सम्बोधनपद घटित क्रियापद युक्त 'एकतिङ् वाक्यम्' इस सिद्धा नुसार एक वाक्य में 'आमन्त्रितस्य च' ।१।१९। इस सूत्र के अनुसार सम्बो पद में 'निघात' होता है। निघात का अर्थ सर्वथा उदात्त स्वर क होना। 'समानवाक्ये निघातयुस्मदस्मदादेशा वक्तव्याः' वार्त्तिक सूत्र के अनुसार भिन्नवाक्य में यह निघात नहीं हो सक वाक्यपदीय ग्रन्थ में भर्त्तृहरि ने कहा गया है—

"सम्बोधनपदं यच्च तत् क्रियायाँ विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति॥"

अतएव "राम! मां पाहि" इस वाक्य का रामसम्बन्धिसम्बोधन विषय मत्कर्मक रक्षण अर्थ है।[1] भर्त्तृहरिने यह भी कहा है—

१। तत्त्वबोधिनी टीका—"सम्बोधनेच" इस सूत्र की व्याख्या के अवसर पर।

"सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः ।
प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते ॥
संबोधनं न वाक्यार्थं इति वृद्धेभ्य आगमः ॥"

पहले निश्चितरूप से ज्ञात व्यक्ति का केवल अभिमुखीभाव को सम्बोधन के रूप से (पण्डित लोग) जानते हैं। जो व्यक्तिरूप अर्थ अभिमुखी भाव को प्राप्त करता है यानी अभिमुख होता है वह किसी क्रिया में नियुक्त किया जाता है। सम्बोधन किसी वाक्य का अर्थ नहीं, होता है, यह प्राचीन आचार्यों से ज्ञात हुआ है। अर्थात् सम्बोधन विभक्ति का अर्थ है वाक्य का नहीं, यह प्राचीन वैयाकरण सम्प्रदाय का मत है।

५३४। कारके। (१-४-२३) इत्यधिकृत्य।

अनुवाद तथा विवृत्ति--

"कारके" इस सूत्र का अधिकार करके। अधिकार का अर्थ है अपने देश में वाक्यार्थं बोध शून्य होकर परदेश में वाक्यार्थं बोधजनकत्व।

"स्वदेशे वाक्यार्थं बोध शून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थं बोधकत्वम्—इसका तात्पर्य्यं यह कि जो सूत्र अपने उच्चारण स्थल में पूरा वाक्यार्थं बोध न करा के अन्य सूत्र के उच्चारणस्थल में उपस्थित होकर उसके साथ सम्मिलित होकर पूरा वाक्य का अर्थं बोध कराता है वही अधिकार सूत्र है।

व्याकरणशास्त्र में छः प्रकार के सूत्र माने गये हैं।

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते ॥"

अर्थात् संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश तथा अधिकार—ये छः प्रकार के सूत्र कहे जाते हैं। इन छः प्रकार के सूत्रों में यह 'कारके' सूत्र अधिकार सूत्र है।

"कारके" सूत्र में जो सप्तमी विभक्ति है वह प्रथमा विभक्ति का अर्थ

प्रतिपादन कराने के लिये प्रयुक्त हुई है। कहने का मतलब यह है कि यहाँ सप्तमी विभक्ति का प्रथमा विभक्ति का जैसा अर्थ[1] है।

अथवा 'कारके' इस शब्द में जो सप्तमी विभक्ति है उसका प्रथमा विभक्ति के रूप में परिवर्तित करके परवर्त्ती कारक प्रकरण के अधिकृत सूत्रों में अन्वय किया जाता है। जैसे "कर्त्तुरीप्सिततमं कारकं कर्म (संज्ञं) स्यात् इत्यादि।

किया के जनक को कारक संज्ञा दी गयी है। "क्रियाजनकत्वम्" यह कारक का लक्षण है। महाभाष्य में "करोति क्रियां निर्वर्त्तयति" इस प्रकार व्युत्पत्ति यानी "कारक" शब्द का अर्थ बतलाया गया है।" ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति" इस वाक्य में ब्राह्मण कारक नहीं है। पुत्र के द्वारा अन्यथा-सिद्ध होने के कारण "ब्राह्मण" क्रिया का जनक नहीं हो सकता। न्यायशास्त्र के सिद्धान्तानुसार यहाँ पर चतुर्थ अन्यथासिद्धि है।

५३४। कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म। (१-४-४९)

कर्त्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। कर्त्तुः किम्—माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषा न तु कर्त्तुः। तमब्ग्रहणं किम्—पयसा ओदनं भुङ्क्ते। कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

कर्त्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिस कारक को सबसे अधिक प्राप्त करना चाहता है उसकी कर्मसंज्ञा हो। (सूत्र में) कर्त्तुः यह पद क्यों कहा गया है—(उत्तर) माष या उड़द में यानी उड़द के खेत में प्रसक्त घोड़े को अन्यत्र बाँधता है। तात्पर्य यह है कि माष या उड़द में घोड़ा उड़द खाने के लिये प्रवृत्त होने पर उसके पेट में दर्द के डर से

१। तत्र हि व्याख्याने प्रथमार्थे सप्तमी। तत्त्वबोधिनी, पृ० ५६८ मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।

उसको दूसरी जगह बाँधता है। यहाँ पर "बध्नाति" (बाँधता है) पद बोध्य बन्धन क्रिया का कर्म घोड़े का ईप्सित (इष्ट) माष हैं, बन्धन क्रिया के कर्त्ता के नहीं। इसलिये सूत्र में "कर्त्तुः" पद का ग्रहण किया गया है। "कर्त्तुः" पद के ग्रहण करने से प्रकृत बन्धन क्रिया के कर्त्ता का जो ईप्सिततम है उसीकी कर्मसंज्ञा होगी, न कि जिस किसी क्रिया के कर्त्ता के ईप्सिततम की। अतएव यहाँ 'बध्नाति' का कर्म घोड़े के ईप्सिततम माष की कर्म संज्ञा नहीं होती है। सूत्र में तमप्प्रत्ययान्त 'ईप्सिततमम्" पद का ग्रहण क्यों किया गया है ? "ईप्सिततमम्" पद का अवयव" "तमप्" प्रत्यय के मारफत समुदाय तमप्प्रत्ययान्त "ईप्सिततमम्" पद की उपयोगिता के बारे में यह प्रश्न किया गया है, "तमपः ग्रहणं यत्र' इस प्रकार विग्रह करने से बहुव्रीहि समास से "तमग्रहणम् पद्से"ईप्सिततमम्" का बोध होता है। अर्थात् कर्त्तुरुद्धेश्यं कर्म—ऐसा ही सूत्र क्यों न हो ? इसके उत्तर में 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते" यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। जब भोजन करने के बाद दूध मिलने पर फिर से भात खाने के लिये प्रवृत्त होता है तब यह प्रत्युदाहरण दिया जाता है अतः पयस् शब्द में भी कर्म कारक की द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये। क्योंकि उस भोजन क्रिया का "पयः" या दूध भी उद्देश्य है। सूत्र में "ईप्सिततमम्" पद का प्रयोग करने से दूध उद्देश्य होने पर भी "ईप्सिततम" न होने के कारण उस शब्द में द्वितीया-विभक्ति न होकर भात के संस्कारक के रूप से साधन होने के नाते उसमें करण में तृतीया विभक्ति ही होगी। अगर कदाचित् "पयः" या दूध ईप्सिततम हो तो "पयः पिबति" ऐसा प्रयोग होगा ही।

भाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार "कर्त्तुरीप्सितं कर्म" ऐसा न कहकर "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" ऐसा सूत्र कहने का फल है "अग्ने माणवकं वारयति" इस प्रयोग में माणवक को अपादान संज्ञा न होना और तत्प्रयुक्त "माणवकात्" ऐसा अनिष्ट प्रयोग न होना। क्योंकि माणवक आग से बचाने के लिये ईप्सित होने पर भी ईप्सिततम नहीं है।

अब प्रश्न होता है सूत्र में "कर्म" शब्द का ग्रहण क्यों किया गया। केवल "कर्त्तुरीप्सिततमम्" इतना ही सूत्र हो, "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" ऐ क्यों कहा गया ? इस प्रकार प्रश्न पूछने का कारण यह है कि सूत्र में "क पद का ग्रहण न करने पर भी मूल पाणिनि अष्टाध्यायी व्याकरण सूत्रपाठ के क्रमानुसार "अधिशीङ्स्थासां कर्म" (१-४-४६) इस पूर्व से "कर्म" पद की अनुवृत्ति से ही तो "कर्म" का बोध हो जाता है। अ "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" इस सूत्र में "कर्म" पद का ग्रहण व्यर्थ है।

इसके जवाब में कहते हैं, कर्म की "अधिशीङ्स्थासां कर्म' इस सूत्र अनुवृत्ति मानकर "कर्म" का ज्ञान प्राप्त करने पर उस सूत्र में कर्म के "आधारोऽधिकरणम्" (१-४-४५) सूत्र से अनुवृत्त आधार का भी सम्ब रहने से वह आधार भी कर्म के साथ इस सूत्र में अनुवृत्त होकर ज्ञात ह लगेगा। तब कर्त्ता का जो आधारभूत ईप्सिततम वही कर्मसंज्ञा प्राप्त करे केवल ईप्सिततम नहीं। ऐसी स्थिति में "गेहं प्रविशति" (घर में प्र करता है) ऐसे स्थलों में ही केवल, जहाँ आधार और कर्म दोनों एक हों, कर्मसंज्ञा प्रयुक्त अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होगा। "ह भजति" (हरि का भजन करता है) इत्यादि स्थलों में हरि आदि कर्म वाचक शब्दों में द्वितीया विभक्ति नहीं हो सकेगी।

५३६। अनभिहिते। (२-३-१)

"अनभिहिते" इस का अधिकार कर के। अर्थात् "अनभिहिते' सूत्र अधिकार अगले सूत्रों में समझना चाहिये। इस सप्तम्यन्त पद का अगले स के सप्तम्यन्त पदों के साथ अन्वय करके उन सूत्रों का अर्थ समझना पड़ेगा।

कर्म आदि कारकों का बोध आख्यात (तिङ्) आदि प्रत्ययों से हो सकता है।

जब कर्म आदि कारक 'तिङ्' आदि से अभिहित यानी उक्त होता तब उनके वाचक शब्दों में "प्रातिपदिकार्थ" इत्यादि सूत्र से प्रथमा वि होती है।

५३७। कर्मणि द्वितीया। (२–३–२)

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्रे इति प्रथमैव। अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्, हरिः सेव्यते। कृत्, लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः, शतेन क्रीतः शत्यः। समासः, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृति—

अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति हो। (भगवान्) हरि का भजन करता है। जब कर्म अभिहित या उक्त होता है तब उसमें 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इस सूत्र से प्रथमा विभक्ति ही होती है। अभिधान या कर्म आदि का कथन प्रायशः तिङ् विभक्ति, कृत्प्रत्यय, तद्धितप्रत्यय तथा समास से होता है।

यथा-- तिङ्, हरिः सेव्यते, वर्त्तमानकालिक सेवा का कर्म हरि है। कृत्; लक्ष्या सेवितः, लक्ष्मीकर्तृक सेवा का कर्म (हरि है)। तद्धितः—शतेन क्रीतः शत्यः, शतकरणकक्रय का कर्म (मानो अश्व)। समासः, प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः, आनन्दकर्तृक प्राप्तिका कर्म (कोई व्यक्ति)।

उपरोक्त उदाहरणों में "हरिः सेव्यते" यह तिङ् के द्वारा अभिधान का स्थल है। यहाँ 'सेव्यते' में जो "ते" प्रत्यय है वह "तिङ्" है, और वह कर्मवाच्य में विहित हुआ है। अतः यहाँ "तिङ् के द्वारा कर्म का अभिधान या कथन हुआ है।

कृत् प्रत्यय के द्वारा अभिधान का उदाहरण दिया गया है "लक्ष्म्या सेवितः'। इस वाक्य के 'सेवितः' पद में सेव् धातु के साथ जो क्त (त) प्रत्यय लगाया गया है वह कृत्प्रत्यय है। धातु के साथ तिङ् से भिन्न जो प्रत्यय लगाये जाते हैं उनको कृत्प्रत्यय कहा जाता है। "सेवितः" पद में

जो कृत् प्रत्यय है वह कर्मवाच्य में विहित होने से उसका अर्थ "कर्म" है। अतः कर्म का अभिधान उसी क्तप्रत्यय से हुआ जो कि कृत् प्रत्यय है।

तद्धित के द्वारा अभिधान का उदाहरण है "शत्यः" जिसका अर्थ है "शतेन क्रीतः" यानी सौ (रुपयों) के द्वारा खरीदा गया। "शत्य" शब्द में शत शब्द से तद्धित "यत्" प्रत्यय लगाया गया है जिसका अर्थ है क्रयण क्रिया का कर्म। अतएव 'शत्य' का अर्थ हुआ "शत" करणक क्रय का कर्म।" इस प्रकार "शत्य" शब्द का घटक तद्धित "यत्" प्रत्यय से कर्म का अभिधान हुआ है।

समास के द्वारा अभिधान का उदाहरण है "प्राप्तानन्दः।" "प्राप्तानन्दः" में बहुव्रीहि समास हुआ है। "प्राप्त" और "आनन्द" इन दोनों पदों का समास हुआ है। चूंकि बहुव्रीहि समास प्रथमा विभक्ति को छोड़कर अन्य विभक्तियों के अर्थ में होता है इसलिये यहाँ द्वितीया विभक्ति के अर्थ में समास किया गया है। "प्राप्त आनन्दो यम्" इस प्रकार विग्रह वाक्य से "आनन्द कर्तृक प्राप्ति का कर्म" ऐसा अर्थ निकलता है। "प्राप्तानन्दः" इस समास से भी वही "आनन्द कर्तृक प्राप्ति का कर्म" प्रतीत होता है। अतएव समास से यहाँ कर्म का अभिधान हुआ है। इन सभी स्थलों में कर्म का अभिधान "तिङ्" आदि से होने के नाते प्रतिपदिकार्थमात्रे प्रथमा विभक्ति हुई है।

पहले कहा गया है "अभिधानं च प्रायेण तिङ् कृत्तद्धितसमासैः क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। अब कहीं-कहीं "निपात" के द्वारा जो अभिधान होता है उसके उदाहरण में "विषवृक्षोऽपि संवर्द्धय स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्"—विष के पेड़ को भी पाल पोस कर बड़ा करके स्वयं काटना अनुचित है।

यहाँ "असाम्प्रतम्" का घटक "साम्प्रतम्" का अर्थ है 'युज्यते'। रुधादिगणीय युज् धातु के कर्म वाच्य में "युज्यते" यह रूप बनता है। "युज्यते" पद के द्वारा जैसे योग्यता का जो कर्म उसका बोध होता है, उसी प्रकार "युज्यते' का समानार्थक "साम्प्रतम्" निपात के द्वारा जो "असाम्प्रतम्" इस समास का घटक है, योग्यता के विषय रूप कर्म का अभिधान होता है।

"चादयोऽसत्त्वे" १।४।५६ पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार "साम्प्रतम्" एक निपात माना गया है। चादि आकृतिगण है। अतएव चादि में इसका परिगणन न देखने में आने पर भी आकृतिगण होने के नाते इसको चादि में मानकर निपात संज्ञा हो जाती है।

सम्प्रदाय विशेष के मतानुसार यहाँ "अपि" इस निपात से अभिधान माना जाता है।

५३८। तथायुक्तं चानीप्सितम्। १। ४। ५०

ईप्सितमवत् क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

अनुवाद तथा विवृति—

ईप्सिततम के सदृश क्रिया से युक्त यानी क्रिया जन्यफल से युक्त अनीप्सित कारक भी कर्मसंज्ञा को प्राप्त करता है।

यथा—'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' (गाँव जाते-जाते घास को छूता है), 'ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते' (अन्न खाता हुआ विष खाता है)। सूत्र में तथा शब्द सादृश्य वाचक होने से सादृश्य के प्रतियोगी की अपेक्षा रखता है। "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" (१।४।४९) यह सूत्र पाणिनि के अष्टाध्यायी के क्रम के अनुसार अव्यवहित पूर्ववर्त्ती सूत्र होने से उसमें जो ईप्सिततम उल्लिखित है वही सादृश्य के प्रतियोगी के रूप में लिया गया है। सूत्र में उल्लिखित अनीप्सित पद में जो 'नञ्' है वह पर्युदासवाचक होने से अनीप्सित पद से द्वेष्य तथा उपेक्ष्य का बोध होता है। "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म" सूत्र से ईप्सितम की कर्मसंज्ञा की गयी है और इस सूत्र से द्वेष्य और उपेक्ष्य की कर्मसंज्ञा की जाती है। उनमें 'ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते' यह द्वेष्य कर्म का उदाहरण है, और 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' यह उपेक्ष्य कर्म का उदाहरण है। यहाँ जो उपेक्ष्य कहा गया है वह उपेक्षा बुद्धि का विषय है—ऐसा नहीं समझना। "नदी कूलं कषति" (नदी तीर को तोड़ती है) ऐसे अचेतन कर्त्तृक स्थल में उपेक्षाबुद्धि न होने से प्रयोग सिद्ध नहीं होगा।

परन्तु जिसमें ईप्सा और द्वेष का अभाव है वही उपेक्ष्य है—ऐसा समझना।

५३९। अकथितञ्च। (१-४-५१)

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्॥

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्त्तव्यमित्यर्थः। गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलान् ओदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षम् अवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्रामम् अजां नयति हरति कर्षति वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि। कारकं किम्—माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति। 'अकर्मकधातुभि र्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्' (वा ११०३-११०४)। कुरून् स्वपिति। मासम् आस्ते। गोदोहम् आस्ते। क्रोशम् आस्ते॥

अनुवाद तथा विवृति—

अपादान, सम्प्रदान, अधिकरण, कर्म, करण, कर्त्ता और हेतु—ये सात[1] कारक हैं। इनमें से कुछ कारकों का जब अपादानत्वादि विशेषधर्म के द्वारा विशिष्ट करके कहने की इच्छा नहीं होती है तब वे कर्मसंज्ञा प्राप्त करते हैं। सूत्र में अविवक्षितशब्द का असङ्कीर्त्तित[2] अर्थ में तात्पर्य्य है। अपादानत्वादि विशेष धर्म को लेकर जब कारकों का ज्ञान नहीं होता है तब उनको उस रूप से कहने की इच्छा नहीं होती है। उस स्थिति में उन

१. बाल मनोरमा टीका, 'अकथितञ्च' सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में।
२. लघुशब्देन्दुशेखर, 'अकथितञ्च' सूत्रव्याख्या प्रसङ्ग में।

कारकों की कर्मसंज्ञा होती है और कर्मत्व के द्वारा विशिष्ट करके उन कारकों को जाना जाता है।

क्रियान्वयित्व कारकत्व है यानी जिसका क्रिया के साथ अन्वय है वह कारक कहलाता है, इस मत के अनुसार 'नटस्य शृणोति' इस वाक्य में नट का कारकत्व प्रतीत होता है, तथा नटसम्बन्धिश्रवण इस प्रकार अर्थ करने पर वस्तुतः अपादान का सम्बन्धित्वेन विवक्षा होने पर यानी—'नटसम्बन्धि-श्रवण' इस प्रकार अर्थ मानने पर कदाचित् नट का भी कर्मत्व की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये। इसलिये किन-किन धातुओंके योग से कर्मसंज्ञा दी जाती है उन धातुओं की गिनती[२] की जाती है 'दुह्याच्-पच्दण्ड—"इत्यादि कारिका से।

दुह् (दुहना), याच् (मांगना), पच् (पकाना), दण्ड् (ग्रहण करना), रुध् (रोकना), प्रच्छ् (पूछना), चि (चयन करना), ब्रू (कहना), शास् (उपदेश देना), जि (जीतना), मथ् (मथना), मुष् (चोरी करके लेना) इन बारह धातुओं और नी (प्राप्त कराना, ले जाना), हृ (ले जाना), कृष् (खींचना) और वह (प्राप्त कराना, पहुँचाना)—इन चार धातुओं के कर्म कारक के साथ जिस का सम्बन्ध होता है, वही अकथित कर्म है—ऐसा गिन कर कहना चाहिये, यह (इस कारिका का) अर्थ है यानी मुख्य कर्म के साथ क्रिया के द्वारा संबध्यमान कारक ही अपादान आदि विशेषरूप से अविवक्षित होने पर कर्मसंज्ञक[२] होता है।

इनके क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—'गां दोग्धि पयः' (गाय से दूध दुहता है)। यहाँ दोहन क्रिया का मुख्य कर्म 'पयः' (दूध) है। गाय दूध के निमित्त के रूप से लिये जाने के कारण वस्तुतः अवधिभूत होने पर भी अविवक्षा होने पर अपादानसंज्ञा की प्रवृत्ति न होने से इस सूत्र से कर्मसंज्ञक होती है। अवधित्वकी विवक्षा करने पर 'गोः पयः दोग्धि' इस प्रकार

१. बाल मनोरमाटीका, 'अकथितञ्च' सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में।
२। तत्त्वबोधिनी टीका पृ ६०५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण

गो शब्द में अपादानत्व प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति होगी ही। इसी तरह अन्यान्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये।

'बलिं याचते वसुधाम्'—बलि नामक असुर से (भगवान् हरि) पृ… माँगते हैं। 'अविनीतं विनयं याचते'—अविनीत से विनय के लिये मां… है। यहाँ अविनीत मुख्य कर्म, और 'विनय के लिये' इस तादर्थ्य की अवि… से अकथित कर्म होने के नाते विनय[1] में द्वितीया विभक्ति हुई है। शब्दे… शेखरकार नागेशभट्ट के मतानुसार स्वीकारानुकूलव्यापार 'याच्' धातु… अर्थ है। इस मत में स्वीकार रूप फल का आश्रय होने से 'विनय' ही… कर्म है, और विनय का अविनीत के साथ स्वविषयकज्ञानवत्त्व सम्बन्ध… से अविनीत 'कर्मयुक' यानी कर्म के साथ सम्बद्ध हो जाने से अकथित… होता है।[2] 'तण्डुलान् ओदनं पचति'—चावलों से भात पकाता है।… ओदन या भात मुख्य कर्म, तण्डुल या चावल उसके करणत्व की अवि… में अकथित कर्म है। गर्गान् शतं दण्डयति—गर्गों से सौ (रुपये) दण्ड… रूपसे लेता है। यहाँ 'शत' मुख्य कर्म, गर्गों के अपादानत्व की अविवक्षा… वे अकथित कर्म हैं। व्रजम् अवरुणद्धि गाम्—व्रज या गोचारण भूमि… गाय को रोकता है। यहाँ गाय मुख्य कर्म, अधिकरणत्व के अविवक्षा से… अकथित कर्म है। माणवकं पन्थानं पृच्छति—लड़के से रास्ता पूछता… यहाँ पन्था या रास्ता मुख्य कर्म, सम्प्रदानत्व[3] या मतान्तर[4] में करणत्व… अविवक्षा से माणवक या लड़का अकथित कर्म है।

'वृक्षमवचिनोति फलानि'—पेड़ से फलों को चुनता हैं, यहाँ फल… कर्म है और फल चुनने की अवधि अपादानत्व की अविवक्षा से वृक्ष अक… कर्म है। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा—लड़के को धर्म कहता है या उ…

१। ,, ,, पृ ६०८, ,, ,, ,,
२। ,, ,, पृ ६०८ ,, ,, ,,
३। बालमनोरमाटीका पृ ६०८ ,, ,, ,,
४। लघुशब्देन्दुशेखर पृ २१९ ,, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण

करता है—यहाँ धर्म मुख्य कर्म और धर्म रूप कर्म के द्वारा अभिप्रेयमाण होने के नाते माणवक संप्रदान है, और सम्प्रदानत्व की अविवक्षा से माणवक अकथित कर्म है।

'शतं जयति देवदत्तम्'—देवदत्त से सौ (रुपये) जीतता है। यहाँ 'सौ' मुख्य कर्म है और अपादानत्व की अविवक्षा से देवदत्त अकथित कर्म है। 'सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति'—यहाँ 'सुधा' मुख्य कर्म, और अपादानत्व की अविवक्षा से क्षीरनिधि[1] अकथित कर्म है। 'देवदत्तं शतं मुष्णाति'—देवदत्त से सौ (रुपये) चुराता है। यहाँ 'सौ' मुख्य कर्म है, और अपादानत्व की अविवक्षा से देवदत्त अकथित कर्म है।

'अजां ग्रामं नयति' 'हरति' 'कर्षति' 'वहति' वा—बकरी को गाँव में लिये जाता है इत्यादि[2]। यहाँ 'अजा' मुख्य कर्म है और अधिकरणत्व की अविवक्षा में 'ग्राम' अकथित कर्म है।

अपादानत्व आदि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्मसंज्ञा होती है, इस वाक्य में 'कारक' शब्द क्यों कहा गया है? माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति'—लड़के के पिता से रास्ता पूछता है, इस वाक्य में स्थित 'माणवकस्य' में, जो कारक नहीं है, अकथित कर्मत्व को रोकना कारक शब्द की अनुवृत्ति का फल है। 'कारक' ऐसा न कहने पर केवल 'अकथित' रूप से कारक तथा अकारक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'माणवक' जो कि प्रश्न क्रिया का निमित्त नहीं है, वह भी गौण कर्म के रूप से लिया जा सकता

१। बालमनोरमा—पृष्ठ ६०९ मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।

२। नीधातु का संयोगानुकूल व्यापार के अनुकूल व्यापार अर्थ है। वही व्यापार स्कन्ध ग्रहणादिपूर्वक होने से 'वह्' धातु का अर्थ होता है। गमनानुकूल व्यापारविशेष कृष्धातु का अर्थ है। बलपूर्वक ग्रहण करके देशान्तर को प्राप्त कराना हृ धातु का अर्थ है। लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ६७०, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

है। परन्तु ऐसा प्रयोग नहीं होता है, यह गलत प्रयोग है। इसलिये 'कार
ऐसा कहा गया है।[1]

कुरुन् स्वपिति, मासम् आस्ते इत्यादि वाक्यों में 'कुरुन्', 'मा
इत्यादि कर्मकारक में द्वितीयाविभक्त्यन्त पद हैं। परन्तु 'कर्त्तुरीप्सि
कर्म' इस सूत्र से ऐसे स्थलों में कर्मत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कारण
मास आदि कर्त्ता का क्रिया के द्वारा व्याप्त करने का उद्देश्य नहीं हैं। 'त
युक्तं चानीप्सितम्' इस सूत्र से भी उन स्थलों में कर्मत्व सिद्ध नहीं
है। इसलिये कहा गया है 'अकर्मक धातुभिर्योगे'—इत्यादि। अर्थात् अ
धातुओं के साथ अन्वय होने पर ग्रामसमूहात्मक कुरु, पञ्चाल, अवन्ती
देश, तथा संसार में काल के रूप से प्रसिद्ध मास आदि काल तथा भाव
धात्वर्थ, जैसे, गोदोह, यानी गोदोहन अर्थात् गोदोहन काल। यहाँ गोदोह
से गोदोहन काल विवक्षित है। पूर्वोक्त 'काल' में इसका ग्रहण नहीं किया
है, अहोरात्रसमूहात्मक प्रसिद्ध मास आदि को ही वहाँ काल के रूप से
गया है। और नियत परिमाण गन्तव्य क्रोश आदि पथ की कर्म
होती है, यह सूत्रकार को कहना चाहिये था।

उदाहरणार्थ 'कुरुन् स्वपिति'—कुरुओं के देश में सोता है। (
पञ्चाल, आदि शब्द देशवाचक होने पर उनका बहुवचन में प्रयोग होता
'मासम् आस्ते'–महीने में है, 'गोदोहम् आस्ते'–गोदोहन के समय
'क्रोशम् आस्ते'—(गन्तव्य) एक कोस भर है।

**५४०। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता स णौ। (
५२)**

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्त्ता स णौ कर्मस

१। अकथितमित्युच्यमाने कारकञ्च अकारकञ्च सर्वमकथितमिति गम्यते (गम्येत
यथा पिता अपादानादिविशेषकथाभि र्न कथितः तथा माणवकोऽपि, अतस्तस्यापि
संज्ञा स्यात्। ... माणव
—न्यास पृ० ५३४ [काशिका प्रथम भाग, तारा प्रिंटिंग वर्कस्)।

शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद् विधिम् ॥
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ।

गतीत्यादि किम्—पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम् ?—गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः । 'नीवह्योर्न' (वा ११०९) । नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन । 'नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः' (वा १११०) । वाहयति रथं वाहान् सूतः । 'आदिखाद्योर्न' (वा ११०९) । आदयति खादयति वान्नं बटुना ।

'भक्षेरहिंसार्थस्य न' (वा ११११) भक्षयत्यन्नं बटुना । अहिंसार्थस्य किम्—भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्' । जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् (वा ११०७) जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः । 'दृशेश्च' (वा ११०८) । दर्शयति हरिं भक्तम् ।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

गति (गमन), बुद्धि (ज्ञान) और प्रत्यवसान (भोजन)-रूप अर्थवाले धातुओं का तथा शब्द कर्मकारक जिनका ऐसे धातुओं का और अकर्मक धातुओं का अणिजन्त कालीन अर्थात् प्रेरणा-र्थक 'णिच्' प्रत्यय आने से पूर्वकालिक शुद्धधातुवाच्य क्रिया का जो कर्त्ता हो उसको णिजन्त धातु वाच्य प्रयोजक व्यापारात्मक क्रिया के प्रति कर्मसंज्ञा हो । ध्यान रहे इस सूत्र में जो णिच् प्रत्यय कहा गया है वह 'हेतुमतिच' इस सूत्रविहित णिच् है चुरादिगणीय नित्यणिच् नहीं, गति, बुद्धि आदि पाचों प्रकार धातुओं के प्रयोग में उदाहरण शत्रूनगमयत् स्वर्गम् इत्यादि श्लोक से क्रमशः दिये गये हैं । जैसे, जिसने शत्रुओं को स्वर्ग प्राप्त कराया था, अपने लोगों को वेदार्थ का ज्ञान प्राप्त कराया था और देवताओं को अमृत का भोजन कराया (अमृत-खिलाया) था, ब्रह्माजी को वेदपढ़ाया था, पृथिवी को पानी में ठहराया था, वह श्री हरि मेरी गति या अवलम्बन हों ।

इस श्लोक में पाँच उदाहरण हैं, वे क्रम से सूत्र में उल्लिखित गमनार्थक ज्ञानार्थक आदि धातुओं के अणिजन्त कालीन कर्त्ता के णिजन्त काल में संज्ञा प्राप्त करने के उदाहरण हैं।

गत्यर्थक, धातु के लिये जो प्रथम उदाहरण दिया गया उसके अणि काल में 'शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन् या अगमन्–दुश्मन लोग स्वर्ग में गये, वाक्य था। उस वाक्य में 'अगच्छन्' या 'अगमन्' क्रिया का 'शत्रवः कर्त्ता णिजन्त काल में उसकी 'कर्मसंज्ञा होने पर 'शत्रून्' ऐसा रूप हुआ है। बु धातु के लिये अणिजन्त काल में 'स्वे वेदार्थम् अविदुः'—स्वकीय या लोगों ने वेदार्थ को जाना था—ऐसा वाक्य था। उसमें 'स्वे' 'अ —जाना था, इस क्रिया का कर्त्ता है। णिजन्त अवस्था में उसकी कर्मसंज्ञा से 'स्वान्' ऐसा रूप हुआ है। प्रत्यवसान या भोजनार्थक धातु के लिये जन्त काल में 'देवा अमृतम् आश्नन्'—देवताओं ने अमृत खाया—ऐसा है। अणिजन्त अवस्था में उसमें "देवाः" 'आश्नन्' भोजन किया था— क्रिया का कर्त्ता है। णिजन्तावस्था में कर्म संज्ञा होने पर 'देवान्' ऐसा है इस प्रकार शब्द हुआ है कर्मकारक जिन धातुओं का ऐसे धातु अणिजन्त अवस्था में 'विधिः वेदम् अध्यैत'—विधि या ब्रह्माजी ने वेद था—इस वाक्य में 'विधिः' 'अध्यैत'–पढ़ा था—क्रिया का कर्त्ता है। णि अवस्था में उसकी कर्म संज्ञा होने पर 'विधिम् ऐसा रूप हुआ है। सू 'शब्द कर्म' शब्द का शब्द कर्म कारक जिनका—यही अर्थ है। उदाहर 'वेद' शब्दात्मक ही है और 'अध्यापयत्'—पढ़ाया था – क्रिया का कर्म है। इस प्रकार अकर्मक धातु के लिये अणिजन्त काल में 'पृथ्वी आस्त'—पृथिवी पानी में थी—यह उदाहरण है। इस वाक्य में 'पृथ्वी पृथिवी 'आस्त थी—इस क्रिया का कर्त्ता है। णिजन्त अवस्था में उसकी संज्ञा होने पर 'पृथ्वीम्' ऐसा रूप हुआ है।

अब पदकृत्य बतलाते हैं। सूत्र में गति — गमनार्थक इत्यादि धातु कहा गया है ? उत्तर—'पाचयति ओदनं देवदत्तेन'—देवदत्त के द्वारा

पकवाता है। इस उदाहरण में 'देवदत्तः ओदनं पचति'—खाना पकाता है—इस अणिजन्त अवस्था में 'पच्' धातु का कर्त्ता देवदत्त है। उसकी णिजन्त अवस्था में 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' ऐसा वाक्य होगा, न कि देवदत्त की कर्म संज्ञा होकर 'पाचयति ओदनं देवदत्तम्' होगा। कारण, 'पच्' धातु सूत्र में उल्लिखित गमनार्थक आदि पाँच प्रकार धातुओं के अन्तर्गत नहीं है।

अणिजन्त अवस्था में यानी शुद्ध धातु वाच्य क्रिया का जो कर्त्ता है, वह णिजन्त अवस्था में यानी णिच् प्रत्ययान्त धातु वाच्य क्रिया के प्रति कर्मसंज्ञक होता है, ऐसा क्यों कहा गया ? इसके उत्तर में कहा गया—'गमयति देवदत्तः यज्ञदत्तम्, तम् अपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः—देवदत्त यज्ञदत्त को गमन कराता है, उसको दूसरा (कोई) प्रेरित करता है, विष्णुमित्र देवदत्त से यज्ञदत्त को गमन करवा रहा है—यहाँ पर पहले वाक्य में 'देवदत्त' 'गमयति' से बोधित णिजन्त क्रिया का कर्त्ता है, इसलिये बाद में जब फिर से उसको दूसरा कोई, मानो 'विष्णुमित्र' देवदत्त से यज्ञदत्त को प्रेरित करता है उस स्थिति में देवदत्त की कर्मसंज्ञा नहीं होगी, और देवदत्त शब्द में अनुक्त कर्मकारक के नाते द्वितीया विभक्ति भी नहीं होगी, बल्कि ५६१ 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया (२-६-२८) इस सूत्र से तृतीया विभक्ति होगी।

यद्यपि नी धातु तथा वह् धातु का प्रापण यानी प्राप्त्यनुकूल व्यापार अर्थ है, गति नहीं, अतएव 'नीवह्योर्न' इस वार्त्तिक में उल्लिखित निषेध असङ्गत मालूम पड़ता है, क्योंकि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है, नी और वह् धातु का गति अर्थ न होने से उनके प्रयोग में अणिजत कालीन कर्त्ता का णिजन्त काल में कर्मसंज्ञा की प्राप्ति ही नहीं है, अतएव 'नीवह्योर्न' यह निषेध सङ्गत नहीं होता, तथापि प्रापण रूप अर्थ के भीतर विशेषण के रूप से गति भी प्रविष्ट हुई है—इस अभिप्राय से प्राप्ति मानकर इस वार्त्तिक से निषेध किया जाता है कि नी और वह धातु के प्रयोग के स्थल में अणिजन्त कालीन कर्त्ता की णिजन्त काल में कर्म संज्ञा नहीं होगी।[1] मतलब यह है कि गत्यनुकूल व्यापार

[1] तत्त्वबोधिनी पृ ६२८—म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण।

ही प्रापण का अर्थ है, उसमें गति विशेषण के रूप से प्रविष्ट हुई है। विशेषणीभूत गतिरूप अर्थ को लेकर नी और वह धातु को भी गत्यर्थक गया है। अतः गतिबुद्धि इत्यादि सूत्र से अणिजन्त कालीन कर्त्ता की णि काल में कर्मसंज्ञा की प्राप्ति होने से इस वार्त्तिक के द्वारा निषेध किया गया।

अथवा प्रापणार्थक नी धातु तथा वह्धातु को गत्यर्थक न मानने पर 'ग्रामं नीतः', 'ग्रामं प्राप्तः' इत्यादि प्रयोग के स्थल में ग्राम में लेना तथा को प्राप्त करना गति या गमन के विना असम्भव होने से गति का आक्षेप अनुमान किया जाता है। उस आक्षिप्त या अनुमित गति को लेकर ही 'ग बुद्धि'—इत्यादि सूत्र की प्राप्ति मान कर 'नीवह्योर्न' यह निषेध वा का आरम्भ हुआ है—ऐसा नागेश भट्ट के 'नियन्तृकर्तृकस्य'—इत्या वार्त्तिक की व्याख्या प्रसङ्ग में एक कथन से मालूम पड़ता[1] है।

'नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन'—नौकर से बोझ पहुंचा या रहा है। इस उदाहरण में 'भृत्यः भारं नयति, भृत्यः भारं वहति' ये वाक्य हैं। अणिजन्त नीधातुवाच्य क्रिया का तथा अणिजन्त वह् धातुवा क्रिया का भृत्य कर्त्ता है। णिजन्तकाल में उसकी कर्मसंज्ञा की प्राप्ति होने 'नीवह्योर्न' इस वार्त्तिक से उसका निषेध किये जाने पर अणिजन्त नी तथा अणिजन्त वह्धातुवाच्य क्रिया के कर्त्ता 'भृत्य' में कर्मत्वप्रयुक्त द्विती विभक्ति नहीं हुई, बल्कि अनुक्तकर्त्ता में तृतीया विभक्ति हुई है। परन्तु अणिजन्त वह् धातु का कोई पशुप्रेरक कर्त्ता हो तो उस स्थिति में णि अवस्था में उसकी कर्मसंज्ञा नहीं होती। इस मतलब से 'नियन्तृकर्तृकस्य रनिषेधः' यह वार्त्तिक सूत्र कहा गया है। अर्थात् पशुप्रेरक जिसका हो ऐसे, अणिजन्तकालीन वह् धातु के कर्त्ता के बारे में 'नीवह्योर्न' वार्त्तिक सूत्रोक्त निषेध लागू नहीं होगा। तब उस कर्त्ता की कर्मसंज्ञा

१. प्रापणार्थवहेर्गत्यर्थत्वाभावेऽपि 'ग्रामं प्राप्त' इत्यादौ तत्प्राप्तेर्गतिं विना असम्भ आक्षिप्तगत्यापि गत्यर्थत्वमित्यभिमानेन वार्त्तिकारम्भः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ६

जाने पर अनुक्त कर्मत्वप्रयुक्त द्वितीया विभक्ति होगी। अतएव 'वाहयति रथं वाहान् सूतः'—सारथि घोड़ों के द्वारा रथ को वहन कराता है। यद्यपि 'नियन्तृ' शब्द का सारथि ही अर्थ है तथापि 'वहन्ति बलीवर्दा यवान्, वाहयति बलीवर्दान् देवदत्तः'—बैल यव ढोते हैं, देवदत्तः बैलों से यव ढोया करता है—इस भाष्योक्त उदाहरण से नियन्तृशब्द का 'सारथि' अर्थ नहीं करके 'पशुप्रेरक' अर्थ किया गया है।

सूत्र में 'प्रत्यवसानार्थक' यानी भक्षणार्थक अणिजन्त धातुवाच्य क्रिया का कर्त्ता णिजन्तावस्था में कर्मत्व प्राप्त करता है, यह कहा गया। अतएव भक्षणार्थक अद् धातु तथा खाद् धातु के प्रयोगस्थल में भी अणिजन्तकालीन कर्त्ता का भी णिजन्तावस्था में कर्मत्व प्राप्ति हो जाती है। परन्तु शिष्ट प्रयोग में ऐसा नहीं होता है। इसलिये वार्त्तिकसूत्र कहा गया है—'आदिखाद्यो र्न'[1]

उदाहरणार्थ—'आदयति खादयति वा अन्नं बटुना'—बालक के द्वारा अन्न खिलाता है (बालक को अन्न खिलाता है)। यहाँ अणिजन्त काल में 'बटुः अन्नम् अत्ति खादति वा'—बालक अन्न खाता है—ऐसा वाक्य था। अणिजन्त काल के कर्त्ता 'बटु' का णिजन्त काल में कर्मत्व इस 'आदिखाद्यो र्न' वार्त्तिक से निषिद्ध होने से 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से अनुक्त प्रयोज्य कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हुई है। सूत्र में जो 'आदि' शब्द है, वह णिजन्त अद् धातु के 'आदि' इस अवस्था का अनुकरण है[2]।

सूत्र में प्रत्यवसानार्थक—भक्षणार्थक अणिजन्त धातु के द्वारा वाच्य क्रिया के कर्त्ता को णिजन्त धातुवाच्य क्रिया के प्रति जो कर्मत्व कहा गया है, वह अहिंसार्थक भक्ष् धातु के प्रयोगस्थल में नहीं होता है—इसलिये 'भक्षेरहिंसार्थस्य न' यह वार्त्तिक सूत्र कहा गया है। अर्थात् जहाँ पर भक्ष् धातु

---

१. नवीन वैयाकरणों के मतानुसार 'अदिखाद्योर्न' ऐसा हि वार्त्तिक है। लघुशब्देन्दु० पृ० ६७७, गु० प्र० शास्त्री संस्करण

२. प्राचा तु आदीति पठ्यते, तत्तु ण्यन्तावस्थानुकरणमिति बोध्यम्। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६९५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण

से हिंसा का कोई मतलब नहीं है वहाँ अणिजन्त धातुवाच्य कर्त्ता का णि
धातुवाच्य क्रिया के प्रति कर्मत्व नहीं होगा। उदाहरणार्थ—'भक्षयति
बटुना'—'बालक के द्वारा अन्न खिलाता है'। इस उदाहरण में जो भक्ष्
का प्रयोग हुआ है वह चुरादिगणीय हैं। अतः उसमें नित्य णिच् होता
'गतिबुद्धि'—इत्यादि सूत्र में जो णिच् का उल्लेख है वह 'हैतुमति च'
सूत्र के द्वारा विहित हेतुमणिच् है। अतएव हेतुमण्णिच् जब नहीं
है उस स्थिति में चुरादिगणीय नित्यणिच् प्रत्ययान्त 'बटुः अन्नं भक्ष
इस वाक्य का घटक 'भक्षयति' पद में 'जो भक्ष् धातु है वह हेतुमण्णिज
होने से 'गतिबुद्धि—इत्यादिसूत्र की दृष्टि से अणिजन्त ही है। अतः
धातुवाच्य क्रिया के कर्त्ता बटु को जब दूसरा कोई अन्न भोजन में प्र
करता है तब उस कर्त्ता में 'गतिबुद्धि—इत्यादि सूत्र से कर्मत्व न हो
प्रयोज्य अनुक्त कर्त्ता में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र से तृतीयाविभक्ति
जाती है। अतः 'भक्षयति अन्नं बटुना'—बालक के द्वारा अन्न खिला
ऐसा प्रयोग होता है। 'भक्षयति' पद जब हेतुमण्णिजन्त होता है तब
चुरादिगणीय नित्यणिच् का लोप हो जाता है और 'भक्षयति' इसी
पद होता है।

वार्त्तिक सूत्र में भक्ष् धातु को अहिंसार्थक क्यों कहा गया ? इस प्र
उत्तर 'भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्'—बैलों को अनाज खिलाता है
प्रत्युदाहरण से दिया गया है। वार्त्तिक सूत्र का मतलब यह है कि जब
धातु बोध्य भक्षण का मतलब किसी की हिंसा से है तब उस स्थि
भक्ष्धातु का प्रयोग होने पर अणिजन्त कालीन कर्त्ता णिजन्त काल में
संज्ञक हो जाता है, और उसके वाचक शब्द में अनुक्त कर्मत्व प्रयुक्त द्वि
विभक्ति आ जाती है।

इस प्रत्युदाहरण में जिस सस्य का उल्लेख किया गया है वह खेत में
हुआ (जो अभी तक काटा नहीं गया) सस्य समझना चाहिये। उस स्थि
वह सस्य अन्तःप्रज्ञ चेतन जीव होने के नाते उस को खाना हिंसा ही है

लघुशब्देन्दुशेखर में नागेश भट्ट जी का कहना है कि दूसरे किसी का अनाज खाने से उस अनाज के मालिक की हिंसा होती है, ऐसा समझना[1] चाहिये। नागेश भट्ट जी के इस की इस प्रकार व्याख्या का मतलब यह है कि 'द्रव्यं बहिश्चराः प्राणाः'[2] इस स्मृतिवचन के अनुसार किसी के सस्य के भक्षण करने पर उसके प्राण का वियोग हो जाता है। परन्तु यह गौण प्राण है।

जल्प आदि कतिपय धातु के प्रयोग में भी अणिजन्त धातुवाच्य क्रिया के कर्त्ता का णिजन्तधातुवाच्य क्रिया के प्रति कर्मत्व का उल्लेख करना चाहिये। 'जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्'—इस वार्त्तिकसूत्र में यही कहा गया। जल्प धातु का व्यक्त बात अर्थ है। अणिजन्त अवस्था में 'पुत्रो धर्मं जल्पति'—पुत्र व्यक्त रूप से धर्म कहता है—और णिजन्त अवस्था में देवदत्त (अपने) पुत्र से धर्म कहलाता है—'देवदत्तः पुत्रं धर्मं जल्पयति' इस वाक्य में अणिजन्त धातुवाच्य जल्प यानी व्यक्त बोलना क्रिया का कर्त्ता पुत्र णिजन्त धातुवाच्य क्रिया के प्रति कर्म बन गया है। ऐसे ही भाष् धातु के प्रयोगस्थल में भी समझना चाहिये। जैसे 'पुत्रः धर्मं भाषते—पुत्र धर्म कहता है—देवदत्तः पुत्रं धर्मं भाषयति—देवदत्त पुत्र के द्वारा धर्म कहलाता है। वार्त्तिक सूत्र में जो 'प्रभृति' शब्द है उससे भाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार 'विलपति', आभाषते—इन दोनों को भी समझना। बालमनोरमाकार के मतानुसार 'व्याहरति'–कहता है,—'वदति'—कहता है—आदि को भी लेना।

'दृशेश्च' (वा ११०८)। प्रेक्षणार्थक दृश् धातु के (दृशिर् प्रेक्षणे) अणिजन्त काल में जो कर्त्ता है वह भी णिजन्त काल में कर्म हो—ऐसा

१। 'परकीय सस्यभक्षणे परो हिंसितो भवतीति तत्स्वामिनोऽत्र हिंसा द्रष्टव्या। लघु-शब्देन्दु, पृ ६७८, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

२। दाधिमथ म० म० पण्डित शिवदत्त के द्वारा उद्धृत श्लोकांश। सि०कौ०पृ० १६५, वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण।

(सूत्रकार के द्वारा) कहना चाहिये। दृश् धातु के प्रयोग से अणि काल में 'भक्ताः हरिं पश्यन्ति'—भक्तलोग भगवान् हरि को देखते हैं। 'त गुरुः दर्शयति'—उनको गुरु दिखाते हैं, इस मतलब में 'दर्शयति हरिं भक्त (गुरुः)—(गुरुजी) भक्तों को हरि को दिखाते हैं।

इस वार्त्तिक सूत्र से यह पता चलता है कि 'गतिबुद्धि—'इत्यादि सूत्र जो 'बुद्धि' शब्द उल्लिखित हुआ है, वह साधारणरूप से ज्ञानवाचक, विशेष से नहीं। अर्थात् 'ज्ञा अवबोधने','विद ज्ञाने'—इस प्रकार धातु पाठ में जो ज्ञानसामान्य के (ज्ञानत्वेन रूपेण) वाचक हैं, ज्ञानविशेष (दर्शनत्वादि रूपेण) के वाचक नहीं, केवल उन्हीं धातुओं का ग्रहण 'गतिबुद्धि—इत्या सूत्र में स्थित बुद्धिशब्द से किया गया है, ज्ञानविशेष के वाचक दृश् प्र धातुओं के प्रयोगस्थल में ही अणिजन्तकालीन कर्त्ता णिजन्त काल में होते हैं, अन्य ज्ञान विशेष के वाचक 'स्मृ' 'घ्रा' इत्यादि धातुओं के प्रयो स्थल में नहीं—यह मालूम होता है। अतएव 'देवदत्तः प्रियां स्मरति'-देवदत्त प्रिया को याद करता है, 'देवदत्तः चन्दनं जिघ्रति'—देवदत्त चन्द सूँघता है—ऐसे वाक्यों में स्थित 'स्मरति', 'जिघ्रति' इत्यादि पदों प्रकृतिभूत 'स्मृ', दृश्' आदि धातुओं के णिजन्तावस्था में 'स्मारयति 'घ्रापयति' इत्यदि प्रयोग के समय 'स्मारयति देवदत्तेन'—देवदत्त से या कराता है, 'घ्रापयति देवदत्तेन'—देवदत्त से सूँघाता है—ऐसे ही वा होंगे, नकि 'स्मारयति देवदत्ताम', घ्रापयति देवदत्तम्'। 'तेन स्मरतिजिघ्रती दीनां न 'इस वृत्ति में जो आदि पद है उस से 'प्रेक्षते' आदि का ग्रह करना चाहिये।

'शब्दायते नं' इति 'शब्दं करोति'—इस अर्थ में 'शब्दायते' इस प्र नामधातु का रूप बनता है 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' (३-१-१७ इस सूत्र से शब्द करता है—इस अर्थ में 'शब्दायते' इस क्रियापद में स्थि 'शब्द' इस नाम या प्रातिपदिक के साथ 'क्यङ्' प्रत्यय जोड़ने से 'शब्दा यह नामधातु बनता है। 'शब्दाय' धातु को समझाने के लिये 'शब्दाय' साथ 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इस वार्त्तिक सूत्र से श्तिप् (ति) प्रत्य

जोड़ने से 'शब्दायतिः' पद बना। उस पद की षष्ठी विभक्ति के एकवचन में 'शब्दायतेः' पद बना, जिसका अर्थ हैं 'शब्दाय' धातु का। तब 'शब्दायते नं' इस वार्त्तिक का अर्थ होता है कि 'शब्दाय' धातु का अणिजन्त काल में जो कर्त्ता है वह णिजन्त काल में कर्म नहीं होगा। 'शब्दाय' धातु क्यङ्-प्रत्ययान्त नामधातु है जिसका अर्थ है शब्दकर्मक उत्पादन। अतएव शब्द रूप कर्म धातु के अर्थ के भीतर प्रविष्ट है, इसलिये इसको अकर्मक माना जाता है। क्योंकि भाष्यकार पतञ्जलि ने 'सुपआत्मनः क्यच्' (३-१-८) सूत्र के भाष्य में कहा है 'धात्वर्थबहिर्भूतकर्मकत्वमेव सकर्मकत्वम्' अर्थात् वही धातु सकर्मक है जिसका कर्म धातु के अर्थ में अन्तर्भूत न हो। इस सिद्धान्त के अनुसार 'शब्दाय' धातु का कर्म धातु के अर्थ के भीतर प्रविष्ट होने से यानी धात्वर्थ का घटक होने से यह धातु सकर्मक नहीं माना जाता, बल्कि यह अकर्मक धातु है। अतएव 'गतिबुद्धि—इत्यादि सूत्र में अकर्मक धातु का भी उल्लेख करने से 'शब्दाय' धातु की, जो कि अकर्मक है, अणि-जन्तावस्था के कर्त्ता का णिजन्त अवस्था में कर्मत्व होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः 'देवदत्तः शब्दायते'—देवदत्त शब्द करता है—इस वाक्य में देवदत्त, जो कि अणिजन्त 'शब्दाय' धातुवाच्य क्रिया का कर्त्ता है वह णिजन्त अवस्था में कर्म न होकर प्रयोज्य कर्त्ता ही रह जायगा और 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से उसके वाचक पद में तृतीया विभक्ति होगी। तब 'शब्दाययति देवदत्तेन'—देवदत्त के द्वारा शब्द कराता है—ऐसा ही वाक्य होगा।

'धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेन अकर्मकत्वात् प्राप्तिः' भट्टोजी दीक्षित की इस पंक्ति का अर्थ है 'शब्दाय' धातु का कर्म धातु के अर्थ के भीतर संगृहीत यानी अन्तर्भूत होने के कारण अकर्मक होने से 'गतिबुद्धि-इत्यादि सूत्र से अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता का णिजन्त अवस्था में कर्मत्व प्राप्त होता है। कहने का मतलब यह है कि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है। 'शब्दायते नं' इस वार्त्तिक से 'शब्दाय' धातु के बारे में कर्मत्व का निषेध करना तभी सङ्गत होगा जब

उसकी प्राप्ति हो। इसलिये भट्टोजी दीक्षित ने इस पंक्ति के द्वारा प्र
बतलायी है।

'धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ।।'—वैयाकरण

सम्प्रदाय के इस सिद्धान्त के अनुसार 'देवदत्तः पचति'—देवदत्त पकाता है—इस वाक्य में अणिजन्त अवस्था में जो पाक का कर्त्ता देवदत्त है, उसका भी णिजन्त अवस्था में कर्मत्व होना चाहिये, क्योंकि 'पच्' धातु के कर्म। विवक्षा न करने से यह धातु भी अकर्मक माना जाता है। तथा 'देवदत्तः मासम् आस्ते'—देवदत्त महीने में है—इस वाक्य में अणिजन्त अवस्था कर्त्ता देवदत्त को कर्मत्व प्रयुक्त द्वितीया जो होती है, वह नहीं होनी चाहिये क्योंकि इस स्थल में आस् धातु कर्म के रूप में 'मास' के रहने के कारण धातु अकर्मक नहीं माना जायगा। इसलिये भट्टोजी दीक्षित ने कहा—'ये देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मकाः नतु अविवक्षितकर्माणोऽपि' अर्थात् जिन धातुओं का देश, तथा काल आदि से भिन्न दूसरा कोई कर्म न होते हैं वे ही इस 'गतिबुद्धि'—इत्यादिसूत्र में अकर्मक धातु हैं, जिन धातुओं का कर्म विवक्षित नहीं होते हैं, वे नहीं।

इस प्रकार कहने का फल यह है कि 'देवदत्तं मासम् आसयति' देवदत्त को महीने में रखवाता है ऐसा प्रयोग बन सकेगा जिसमें 'मास' आस् धातु का कर्म होने पर भी अणिजन्त कालीन कर्त्ता देवदत्त की णिजन्त काल में कर्मसंज्ञा होती है। और 'देवदत्तः पचति'—देवदत्त पकाता है—इस अविवक्षित कर्मक—'पच्' धातु के अकर्मक होने पर भी णिजन्तावस्था में 'देवदत्तेन पाचयति' देवदत्त से पकवाता है, ऐसा प्रयोग होता है, न कि देवदत्त को कर्म मानकर 'देवदत्तं पाचयति'।

धातोरर्थान्तरे वृत्तेः—इत्यादि पूर्वोक्तकारिका का अर्थ यह है—धातु की दूसरे अर्थ में वृत्ति यानी शक्तिवृत्ति होने पर, धात्वर्थ के भीतर कर्म का उपसंग्रह यानी अन्तर्भाव होने पर, कर्म की प्रसिद्धि रहने पर,

कर्म की विवक्षा न होने पर धातु अकर्मक माना जाता है। जैसे 'भृत्यः भारं वहति'—नौकर बोझ ढोता है, इस वाक्य में 'वह्' धातु का अर्थं है ढोना, और 'नदी वहति'—नदी बहती है—इस वाक्य में 'वह्' धातु की शक्तिवृत्ति 'बहना' दूसरे अर्थं में है, अतः 'नदी वहति' वाक्य में कर्म न होने से 'वह' धातु अकर्मक हुआ है। उसी प्रकार 'गौः शब्दं करोति'—गाय शब्द करती है—इस वाक्य में स्थित 'शब्दं करोति' इस अंश को 'शब्दायते' ऐसे नामधातु में परिवर्त्तित करने पर 'शब्दाय' रूप नाम धातु के 'शब्द करना' रूप अर्थं के भीतर शब्द प्रविष्ट होने से 'शब्दाय' धातु अकर्मक हो जाता है। तथा 'मेघो वर्षति'—बादल बरसता है—इस वाक्य में कर्म की प्रसिद्धि के कारण उसका प्रयोग नहीं होता है, इस स्थिति में 'वृष्' धातु अकर्मक माना जाता है। इसी प्रकार— देवदत्तः पचति'—देवदत्त पकाता है—इस वाक्य में देवदत्त क्या पकाता है इसकी विवक्षा न करने पर 'पच्' धातु अकर्मक होता है।

५४१। हृक्रोरन्यतरस्याम् (१-४।५३)

हृक्रोरणौ यः कर्त्ता स णौ वा कर्म स्यात्[1]। हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्। अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् (वा १११४)। अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

अनुवाद तथा विवृति—

हा च का च हृकरौ तयोः अथवा हृश्च कृश्च हृक्रोः—इस प्रकार प्रथमा-विभक्त्यन्त पद से अथवा परिनिष्ठितविभक्ति[2] के द्वारा सूत्रस्थ 'हृक्रोः' इस पदका विग्रह वाक्य से सूत्र का अर्थं यह होता है कि हृधातु तथा कृधातु के अणिजन्त अवस्था में जो कर्त्ता है वह णिजन्त अवस्था में विकल्प से कर्म हो। 'हारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्'—नौकर से चटाई लिया जाता है।

---

१. कर्मसंज्ञः इति पाठान्तरम्।

२. प्रथमान्तेन परिनिष्ठितविभक्त्या वा विग्रह इति सिद्धान्तात्। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६१८, मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।

'कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्'—नौकर से चटाई बनवाता है। इन दो उदाहरणों में पहले की अणिजन्त अवस्था में 'भृत्यः कटं हरति'—नौकर चटाई ले जाता है—'भृत्य' कर्त्ता था। णिजन्त अवस्था में वह (भृत्य) विकल्प से कर्म हुआ। अतः 'भृत्यम्' अथवा भृत्येन—इसमें द्वितीया और तृतीया विभक्ति होती है। द्वितीया विभक्ति कर्मत्व प्रयुक्त होती है और तृतीया विभक्ति 'कर्त्तृकरणयोतृतीया'—इस सूत्र से होती है। अणिजन्त अवस्था में 'भृत्यः कटं हरति'—नौकर चटाई ले जाता है; ऐसा वाक्य होता है। द्वितीय उदाहरण में 'भृत्यः कटं करोति'—नौकर चटाई बनाता है—यह अणिजन्त अवस्था का वाक्य है। इसकी णिजन्त अवस्था में "कारयति भृत्यं भृत्येन वा कटम्'। यह सूत्र प्राप्ताप्राप्त विभाषा यानी उभयत्र विभाषा है। अभि तो अब उपसर्गपूर्वक हृधातु भक्षणार्थक होने के नाते तथा विकारार्थक कृधातु अकर्मक होने से 'गतिबुद्धि—' इत्यादि सूत्र से अणिजन्त कालीन कर्त्ता को णिजन्त अवस्था में नित्य कर्मसंज्ञा की प्राप्ति होने से तथा अन्य अर्थ अर्थात् हृधातु का 'हरण' या चोरी करना अर्थ होने पर और कृधातु का 'करना' अर्थ होने पर सकर्मक होने के कारण अणिजन्तकालीन कर्त्ता को णिजन्तकाल में कर्मसंज्ञा की अप्राप्ति में इस सूत्र से विकल्प में कर्मसंज्ञा की प्राप्ति करायी जाती है। अतः यह सूत्र स्थलविशेष में कर्मसंज्ञा प्राप्त होने तथा अन्य स्थल में कर्मसंज्ञा प्राप्त न होने से यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा यानी उभयत्र विभाषा है।

'अभिवादिदशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्'—अभि उपसर्गपूर्वक वद्धातु हेतुमण्णिजन्त अवस्था में तथा णिजन्त दृश् धातु के 'णिचश्च' (१-३-७४) इस सूत्र से क्रियाफल कर्त्तृगामी होने पर आत्मनेपदी होंने की स्थिति में अणिजन्तकालीन कर्त्ता णिजन्तावस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है—ऐसा कहना चाहिये। 'अभिवदति देवं भक्तः'—भक्त देवता को नमस्कार करता है। इसकी णिजन्तावस्था में 'अभिवादयते देवं भक्तं भक्तेन वा'—भक्त के द्वारा देवता को नमस्कार कराता है—प्रयोज्य कर्त्ता भक्त में विकल्प से कर्म

प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति हुई है। 'भक्तेन' में 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्रानुसार अनुक्तकर्त्ता में तृतीया विभक्ति हुई है। इसी प्रकार 'पश्यति देवं भक्तः'— भक्त देवता को देखता है। इसकी णिजन्तावस्था में क्रियाफल के कर्तृगामित्व विवक्षा से 'दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा'— भक्त के द्वारा देवता का दर्शन कराता है। यहाँ पर पूर्व उदाहरण के माफिक णिजन्तावस्था में प्रयोज्य कर्त्ता भक्त में विकल्प से द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति हुई है।

यह वार्त्तिक सूत्र भी 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' सूत्र के माफिक प्राप्ताप्राप्त विभाषा है। अभि उपसर्गपूर्वक 'वद्' धातु नमस्कारार्थक होने से सकर्मक होने के कारण 'गतिबुद्धि—इत्यादिसूत्र की प्राप्ति नहीं हुई। इस स्थिति में इस वार्त्तिक से प्रयोज्य कर्त्ता 'देव' में विकल्प से कर्मत्व प्रयुक्त द्वितीया तथा 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया सूत्र से अनुक्त प्रयोज्य कर्त्ता 'भक्त' में तृतीया हुई है। यहाँ अप्राप्ति दशा में विकल्प का विधान हुआ है। 'दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा' यह प्राप्त विभाषा है। कारण 'दृशेश्च' इस वार्त्तिक सूत्र से प्रयोज्य 'भक्त' में कर्मत्व प्रयुक्त द्वितीया नित्य प्राप्त हुई है। इस स्थिति में इस वार्त्तिक के द्वारा विकल्प से द्वितीया का विधान हुआ है। अतः यह वार्त्तिक सूत्र भी प्राप्ताप्राप्त विभाषा (उभयत्र विभाषा) ही है।

५४२। अधिशीङ्स्थासां कर्म (१-४-४६)

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्मस्यात्।

इस सूत्र में 'आधारोऽधिकरणम्' (१-४-४५) इस सूत्र से 'आधारः' इसकी अनुवृत्ति आयी है। शीङ्, स्था तथा आस् इनका द्वन्द्वसमास करने से 'शीङ्स्थासः' यह पद बनता है। अधिपूर्वाः शीङ्स्थासः—इस विग्रह से 'अधिशीङ्स्थासः'—ऐसा शाकपार्थिवादिवत् उत्तरपदलोपी कर्मधारय समास है। उसकी षष्ठी बहुवचन में 'अधिशीङ्स्थासाम्'— यह पद बनता है। तब सूत्र का अर्थ होता है—अधि उपसर्गपूर्वक शीधातु, स्था धातु तथा आस् धातु का आधार कर्म हो। भट्टोजी दीक्षित कृत वृत्ति में 'एषाम्' पद का 'इन का' यानी इन शीङ्, स्था तथा आस धातुओं का—ऐसा अर्थ है।

उदाहरणार्थ—'अधिशेते वैकुण्ठं हरिः'—हरि वैकुण्ठ में शयन करते। 'अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः'—हरि वैकुण्ठ में रहते हैं, 'अध्यास्ते वैकु हरिः'—हरि वैकुण्ठ में हैं। इन उदाहरणों में धातु के पूर्व जो 'अधि' उप है, वह सप्तमी विभक्ति का अर्थ 'आधार' का द्योतक[1] है।

९४३। अभिनिविशश्च (१-४-४७)

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्मस्यात्। अभिनिवि सन्मार्गम्। 'परिक्रयेणे सम्प्रदानम्'—इतिसूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापेऽभिनिवेशः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

अभि और नि यह समुदाय जिस के पहले है ऐसे विश् का आधार कर्मसंज्ञक हो। उदाहरण—'अभिनिविशते सन्मार्गम्'—सन् विषयक आग्रहवान्[2] अर्थात् सन्मार्ग के ऊपर अप्रतिहतप्रवृत्तिमान् है। 'अभिनि' यह समुदाय विश् धातु के पहले है, ऐसी स्थिति में 'अभिनिवि इस क्रिया पद से जो अभिनिवेश क्रिया का बोध होता है, उसका आ सन्मार्ग को कर्मसंज्ञा होने के कारण उसमें द्वितीया विभक्ति हुई है। 'अ और 'नि' इन दोनों उपसर्ग का पहले द्वन्द्वसमास करने के बाद अन्त में धातु के साथ उत्तरपदलोपी कर्मधारय समास करने से अभिनिविश् बनता है। इसमें प्रथम द्वन्द्व समास में 'नि' अल्पस्वर विशिष्ट होने 'अल्पाच्तरम्' इस सूत्र के अनुसार उसका पूर्वनिपात होना उचित परन्तु ऐसा न करके 'अभिनि'—इस प्रकार विपरीत उच्चारण से 'अभिनि ऐसा समुदाय की विवक्षा की गयी है।

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (१-४-४४) सूत्र से यहाँ अ इस सूत्र में (विकल्पार्थक 'अन्यतरस्याम्, पद की मण्डूकप्लुति अनु

१. बालमनोरमा, पृ० ६१९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण, मोतीलाल बनारसी दा
२. सन्मार्गविषयकाग्रहवानित्यर्थः। शब्दकुसुमाकर, पृष्ठ ८८, गुरुप्रसादशास्त्रीकृत संस्क

करा के व्यवस्थित विभाषा को अवलम्बन करने से कहीं-कहीं (आधार की कर्मसंज्ञा) नहीं होती है, जैसे 'पापेऽभिनिवेशः'—पाप में आग्रह।

व्यवस्थित विभाषा से मतलब यह है कि सूत्र की प्रवृत्ति विकल्प से निर्द्धारित स्थलों में ही होती है। इसलिये जहाँ अभिनिपूर्वक विश्धातु का तिङन्त प्रयोग होता है वहाँ कर्मत्वप्रयुक्त द्वितीया विभक्ति होती है। और जहाँ तिङन्तभिन्न अभिनिपूर्वक विश्धातु का प्रयोग होता है वहाँ सप्तमी विभक्ति होती है। इस विषय में 'एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्' इस प्रकार 'समर्थः पदविधिः' सूत्रस्थभाष्यप्रयोग प्रमाण है।

मण्डूकप्लुति अधिकार का मतलब यह है कि मेढक जैसे अल्प अल्पस्थान को छोड़कर कूदकर चलता है, उसी प्रकार कोई कोई सूत्र बीच में कुछ सूत्रों को छोड़कर परवर्त्ती किसी-किसी सूत्र के साथ सम्बद्ध होता है। प्रकृतस्थल में परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (१–४–४४), आधारोऽधिकरणम् (१–४–४५), अधिशीङ्स्थासां कर्म (१–४–४६), अभिनिविशश्च (१–४–४७)—यह सूत्र का क्रम है। यहाँ पर 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्' सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' पद की अनुवृत्ति मध्यवर्त्ती 'आधारोऽधिकरणम्' और 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इन दोनों सूत्रों को छोड़कर—'अभिनिविशश्च' सूत्र में हुई है।

५४४। उपान्वध्याङ्वसः (१–४–४८)

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः। 'अभुक्त्यर्थस्य न' (वा १०८७) वने उपवसति।

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।

द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥ (वा १४४४)

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो लोकम्। 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' (वा १४४२–१४४३) अभितः कृष्णम्। परितः

कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम्, तस्य शो
इत्यर्थः । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' ।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

उप, अनु, अधि तथा आङ् उपसर्गपूर्वकभ्वादिगणीय अलुग्विक
निवासार्थक 'वस्' धातु का आधार, अर्थात् 'वस्' धातुप्रतिपाद्य क्रिया
आधार, कर्मसंज्ञक हो। उदाहरण—उपवसति वैकुण्ठं हरिः, अनुव
वैकुण्ठं हरिः, अधिवसति वैकुण्ठं हरिः, आवसति वैकुण्ठं हरिः—(भगवा
हरि वैकुण्ठ में निवास करते हैं। 'लुग्विकरणादलुग्विकरणं बलीयः,' र
परिभाषा के अनुसार भ्वादिगणीय 'वस निवासे' इस धातु का ग्रहण हो
अदादिगणीय 'वस आच्छादने' इस धातु का नहीं।

महाभाष्य में 'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधः' यह वार्त्तिक उल्लिखित है।
वार्त्तिक में स्थित अर्थशब्द निवृत्ति वाचक है। अमरकोष में अर्थ शब्द के
इस प्रकार कहे गये हैं—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'। अतः अर्थश
'निवृत्ति' भी अर्थ है। 'मशकार्थो धूम इतिवत् अशिनिवृत्त्यर्थस्येति तदर्थ
लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्टजी के इस कथन के अनुसार 'अशि' अर्थात् भो
की निवृत्ति अर्थ होने पर उपपूर्वक 'वस्' धातु के अणिजन्त अवस्था का
वस्था में कर्मसंज्ञक नहीं होगा। यही 'अभुक्त्यर्थस्य न' इस वार्त्तिक सूत्र
भी तात्पर्य है। इस में 'अभुक्ति' शब्द के अन्तर्गत 'भुक्ति' शब्द का 'भो
अर्थ है। 'वने उपवसति'—वन में उपवास करता है।

कर्मकारक के प्रसङ्ग का शेष होने से पहले कर्म का प्रकार भेद को
जान लेना लाभकारी है। कर्म के प्रकार भेद के बारे में महावैया
भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थमें कर्म के सात प्रकार भेद कहे हैं, यथा—

निर्वर्त्यञ्च विकार्यञ्च प्राप्यञ्चेति त्रिधामतम् ।
तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम् ॥
औदासीन्येन यत्प्राप्यं यच्च कर्तुरनीप्सितम् ।
संज्ञान्तरैरनाख्यातं यद्यच्चाप्यन्यपूर्वकम् ॥

यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत् प्रकाशते ।
तन्निर्वर्त्यं विकार्य्यं तु कर्म्म द्वेधा व्यवस्थितम् ॥
प्रकृत्युच्छेदसम्भूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत् ।
किञ्चिद्गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत् ॥
क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न विद्यते ।
दर्शनादनुमानाद् वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते ॥

अर्थात् 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से विहित कर्म निर्वर्त्य, विकार्य्य और प्राप्य भेद से तीन प्रकार माने जाते हैं । और अन्य अर्थात् ईप्सिततम से भिन्न कर्म चार प्रकार के हैं । जैसे, जो कर्म औदासीन्य से प्राप्य है, जो कर्म कर्त्ता का अनीप्सित है, जो कर्म अन्य संज्ञा के द्वारा अकथित है और जो कर्म अन्यपूर्वक अर्थात् संज्ञान्तर से समुच्चित है, अर्थात् अन्य संज्ञा की विवक्षा पूर्वक किसी सूत्र के द्वारा बोधित है ।

जो पहले वर्त्तमान न होता हुआ (बाद में) उत्पन्न होता है, अथवा पहले वर्त्तमान रह कर जन्म के द्वारा जो प्रकाशित होता है, वह निर्वर्त्य कर्म है । विकार्य दो प्रकार के व्यवस्थित हैं । प्रकृति के उच्छेद से कोई कर्म होता है, जैसे काठ से भस्म या राख होता है । कोई कर्म गुणान्तर की उत्पत्ति से होता है, जैसे सोने का विकार कुण्डलादि ।

जिस कर्म में प्रत्यक्ष से या अनुमान से क्रियाकृत विशेष या वैलक्षण्य जाना नहीं जाता वह प्राप्य कर्म कहा जाता है ।

प्रथम प्रकार कर्म का, अर्थात् निर्वर्त्य कर्म का उदाहरण—'घटं करोति', 'ओदनं पचति' इत्यादि । लक्ष्य करना है कि इस कर्म के उल्लेख करते समय प्रकृतिवाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है ।

दूसरे प्रकार का कर्म विकार्य्य कर्म है । वह दो प्रकार के हैं । एक, प्रकृति के उच्छेद से, जैसे, 'काष्ठं भस्म करोति' । यहाँ काष्ठ का उच्छेद या नाश के उपरान्त भस्म या राख बनता है । दूसरा, प्रकृति में गुणान्तर की उत्पत्ति होने पर, जैसे 'सुवर्णं कुण्डलं करोति' । ध्यान देने योग्य है कि

इस द्वितीय प्रकार विकार्य्य कर्म के उल्लेख करते समय प्रकृतिवाचक का प्रयोग किया जाता है।

तीसरा कर्म प्राप्य कर्म है। यथा, 'घटं पश्यति', 'ग्रामं ग... इत्यादि। इस प्रकार के कर्म में क्रियाजनित कोई वैलक्षण्य जान... पड़ता। घट देखा गया या न देखा गया, इस से घट में कोई वै... मालूम नहीं होता।

औदासीन्य से प्राप्य कर्म, कर्म का चौथा प्रकार है। यथा, ग्रामं ... तृणं स्पृशति'। यहाँ तृण या घास को छूने के बारे में कर्त्ता उदासीन है।

कर्त्ता का अनीप्सित कर्म पञ्चम प्रकार का कर्म है। यथा ... भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते'। इस उदाहरण में विष भोजन कर्त्ता का अनी... है। इसी को द्वेष्य कर्म भी कहा जाता जाता है।

'अकथितञ्च' सूत्र से जो कर्म होता है वह संज्ञान्तर के द्वारा अना... षष्ठ प्रकार का कर्म है। यथा, 'गां दोग्धि'। इस उदाहरण में 'गौ' अ... कारक हो सकता था। परन्तु अपादान संज्ञा की विवक्षा न करने प... कर्म हुआ और उस में अनुक्त कर्म कारक की द्वितीया विभक्ति हुई है।

अन्य पूर्वक कर्म सातवाँ प्रकार का कर्म है। अन्य पूर्वक का ... अन्यसंज्ञा की बाधा होने के उपरान्त किसी सूत्र के द्वारा बोधित कर्म[१]। 'क्रूरमभिक्रुध्यति'। इस उदाहरण में 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इस ... द्वारा 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इस सूत्र से प्राप्त सम्प्रदा... की बाधा होने के उपरान्त कर्मसंज्ञा विहित हुई है। ऐसे 'वैकुण्ठमधि... इत्यादि वाक्य में भी इसी प्रकार कर्म का उदाहरण मिलता है।

कर्म के इस प्रकार भेद के बारे में अधिक जानकारी के लिये वाक्य... आदि आकर ग्रन्थ अध्ययन करना लाभदायक है। अधिक विस्तार ... से वे सब बातें यहाँ नहीं कही जा रही हैं।

---

१. अन्यसंज्ञाबाधनपूर्वं शास्त्रबोधितम्—वैयाकरणभूषणसार की दर्पण टीका ... १५९, चौखम्बा संस्करण।

द्वितीया विभक्ति के निरूपण के प्रसङ्ग में कारक विभक्ति का निरूपण करने के बाद उपपद विभक्ति का निरूपण किया जा रहा है। किसी अन्य पद के साथ सम्बन्ध होने से जो विभक्ति होती है उसको उपपद विभक्ति कही जाती है।[1]

उपपदविभक्तियों का विशेष रूप से सम्बन्ध न कहने के कारण सम्बन्ध सामान्य अर्थ है[2]।

'उभसर्वतसोः'—इत्यादि। तस् प्रत्ययान्त उभ तथा सर्व शब्द के योग से जिस शब्द के साथ 'उभयतः' और 'सर्वतः' शब्द का योग या सम्बन्ध होता है उस शब्द में द्वितीया विभक्ति लगानी चाहिये। तथा 'धिक्' शब्द के योग से द्वितीया विभक्ति लगानी चाहिये। उपरि, अधि तथा अधः शब्द सामीप्य अर्थ में 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८-१-७) इस सूत्र के अनुसार जब आम्रेडितान्त यानी द्वित्व प्राप्त होता है तब उसके योग से द्वितीया विभक्ति लगानी चाहिये। उस के सिवाय अन्य स्थल में भी द्वितीया विभक्ति देखने आती है। 'उभसर्वतसोः'—इत्यादि कारिका में 'उभसर्वतसोः' यह ...है। उस की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'उभसर्वयोस्तसौ उभसर्वतसौ, ...त्तयो र्योगे द्वितीया कार्या।,प्रकृतिद्वित्वेन तसोरिति द्वित्वनिर्देशः...वस्तुतस्तु ...तविषये अयच्प्रवृत्तावपि उभशब्दाद् विहितो यस्तस् तदन्तत्वमस्त्येव।' (...त्त्वबोधिनी, पृ० ६२०-६२१, मोतीलाल बनारसी दास)। अर्थात् 'उभ' तथा '...र्व' शब्द के साथ 'तस्' प्रत्यय जोड़ने से 'उभयतः' तथा 'सर्वतः' पद बनते हैं। ...नके योग से द्वितीया हो। श्लोक में 'उभसर्वतसोः' शब्द में 'तसोः' यह द्वित्व ...त निर्देश हुआ है। वृत्ति में 'अयच्' होने पर भी उभशब्द के बाद विहित

---

१. पदान्तरयोगनिमित्तिका विभक्तिः उपपदविभक्तिः—बालमनोरमा, पृ० ६५४

२. उपपदविभक्तीनां सम्बन्धोऽर्थः, विशिष्यानुक्तेः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ६८७, ...प्रसादशास्त्रीसंस्करण।

...अन्येतु उपपदविभक्त्या सम्बन्धसामान्यमवगम्यते—बालमनोरमा, पृ० ६५४, म० म० ...शिखर शर्मा संस्करण।

जो 'तस्' प्रत्यय है, तदन्तत्व यानी तस्प्रत्ययान्तत्व 'उभ' शब्द का 'उभसर्वतसोः' शब्द में 'तसोः' इस प्रत्यय में जो द्वित्वविशिष्ट निर्देश प्रकृति 'उभ' और 'सर्व' में द्वित्व रहने के कारण है।[1] श्लोक में 'डितान्तेषु' शब्द का अर्थ है जिसका द्विर्वचन किया हुआ है। द्वि परवर्ती रूप को आम्रेडित संज्ञा दी जाती है।[2]

यथाक्रम उदाहरण—'उभयतः कृष्णं गोपाः'—कृष्ण (भग के दोनों ओर गोपगण हैं। 'सर्वतः कृष्णम्'—कृष्ण की सब ओर। कृष्णाभक्तम्'—कृष्ण के अभक्त की निन्दा है, अथवा कृष्ण का निन्दनीय है। 'उपर्युपरि लोकं हरिः'—लोक या संसार के उपरिभाग में हरि हैं। 'अध्यधि लोकम्' (हरिः)—लोकके समी (हरि हैं)। 'अधोऽधो लोकम्' (हरिः)—लोक के समीप अधो (हरि हैं)।

'अभितः परितः'—इत्यादि 'अभितः' शब्द, 'परितः' शब्द, 'हा' यह शब्द तथा 'प्रति' उपसर्ग के योग में भी द्वितीया हो। 'अभितः' 'परि समया'— इत्यादि वार्त्तिक के अनन्तर 'द्वितीया' यह शब्द शेष[3] है समझना। 'अभितः कृष्णं (गोपाः)'—कृष्ण की दोनों ओर (गोप 'परितः कृष्णं (गोपाः)'— कृष्ण की चारों ओर (गोप हैं)। यह 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इसी का विस्तार है। 'अभितः' और 'परितः' 'पर्यभिभ्यां च' (५-३-९) इस सूत्र से तसिल् प्रत्यय हुआ है। 'ग्रामं स ग्राम के नजदीक या मध्यभाग में (समयान्तिकमध्ययोः—अमरकोष)। लङ्काम्'—लङ्का के समीप। 'हा कृष्णाभक्तम्' कृष्णजीके अभक्त के बारे

---

१. प्रकृतिद्वित्वात् तसोरितिद्वित्वनिर्देशः। चिदस्थिमाला, पृ० ६८७ लघुश गुरुप्रसादशास्त्री संस्करण।

२. तस्य परमाम्रेडितम् (८-१-२)

३. योगेऽपि इत्यनन्तरं द्वितीयेति शेषः—बालमनोरमा, पृ० ६२२, बनारसीदास

या कृष्णजी का भक्त शोच्य है। 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्'–भूखे को कुछ प्रतिभात नहीं होता है। 'प्रतिभाति'–इस पद में जो 'प्रति' शब्द है वह क्रिया का विशेषण होने से उपसर्ग है, कर्मप्रवचनीय नहीं है। अतएव कर्मप्रवचनीय-युक्ते द्वितीया–इस सूत्र से काम नहीं चलता। क्रियाविशेषण में भी द्वितीया विभक्ति होती है परन्तु वह द्वितीयाविभक्ति 'व्यपदेशिवदेवकस्मिन्' इस परिभाषा के अनुसार धात्वर्थतावच्छेदक क्रियाजन्य फल के साथ अभेद सम्बन्ध में अन्वित क्रिया विशेषण को भी फलवान के रूप से व्यवहार करके कर्मत्व का अतिदेश करने पर 'कर्मणि द्वितीया' (२–३–२) इस सूत्र से ही होती है। जैसे, किसी व्यक्ति का अगर एक ही पुत्र हो तो वही ज्येष्ठ भी है और कनिष्ठ भी है, उसी तरह धात्वर्थतावच्छेदक क्रियाजन्य फल के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वित क्रियाविक्षेषण में अलग रूप से दूसरा कोई क्रियाजन्य फल न रहने पर भी क्रियाजन्य फल के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वित उसी फल से अभिन्न क्रियाविशेषण को फलवान करके भी व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार से उसमें कर्मत्व माना जाता है। यथा–'मृदु पचति'—नरम पकाता है, 'द्रुतं गच्छति'—जल्दी से जाता है।

५४५। अन्तराऽन्तरेण युक्ते (२–३–४)

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां च हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।

अनुवाद तथा विवृति—

इन दोनों के अर्थात 'अन्तरा' और 'अन्तरेण' इन दोनों अव्ययशब्द के योग से द्वितीया विभक्ति हो। 'अन्तरा त्वां मां हरिः'—तुम्हारे और मेरे बीच में हरि हैं। 'अन्तरा मध्ये'—यह अमरकोष में है। अन्तरेण हरिं न सुखम्'-हरि के विना सुख नहीं है। 'अन्तरा त्वां मां च हरिः', और 'अन्तरेण' हरिं न सुखम्'—इन वाक्यों में यथाक्रम 'हरिः' और 'सुखम्' पदों में द्वितीया नहीं होगी। कारण उपपदविभक्ति की अपेक्षा कारकविभक्ति अन्तरङ्ग होने से उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलवान है इस परिभाषा के अनुसार

'हरिः' में अध्याहृत 'अस्ति' क्रियापदघटक' 'ति' प्रत्यय से कर्त्ता का अभि
होने से प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा विभक्ति हुई है। द्वितीय उदाहरण
'सुखम्' पद में प्रथमा विभक्ति इसी कारण से हुई है।

५४६। कर्मप्रवचनीयाः। (१-४-८३)

इत्यधिकृत्य।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

इस सूत्र का अधिकार कर के। 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१-४-५६
इस सूत्र पर्यन्त अधिकार चलेगा।

'कर्मप्रवचनीया' संज्ञा एक महासंज्ञा है। अतएव यह संज्ञा अन्वर्थ
अर्थात् यह एक योगरूढ़ शब्द है। 'कर्म' यानी क्रिया को 'प्रोक्तवन्त
अर्थात् अतीत काल में कहा था, यानी अतीत काल में क्रिया का
कराया था। अतएव वर्त्तमान समय में क्रिया का द्योतक
होता है। अतीत काल में कर्तृवाच्य में 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३-३-११३
सूत्र से 'अनीयर्' प्रत्यय हुआ है। महावैयाकरण एवं दार्शनिक भर्तृहरि
वाक्यपदीय ग्रन्थ में कर्मप्रवचनीय का परिचय देते हुए कहा है—

"क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी[1] सम्बन्धस्य तु भेदकः॥"

(वाक्यपदीय २।२०४

'जपम् अनु प्रावर्षत्'— हेतुभूत जप के द्वारा उपलक्षित अतीत वर्षण
इस वाक्य में जो 'अनु' शब्द है वह 'अनुभूयते सुखम्'—सुख अनुभूत हो
है—इस वाक्य में स्थित 'अनु' उपसर्ग के माफिक अनुभूति रूप क्रिया या
धात्वर्थ का द्योतन नहीं करता है। और जैसे षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध का वा
होता है उस प्रकार कर्मप्रवचनीय शब्द सम्बन्ध का वाचक नहीं होता है
क्योंकि 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (२-३-८) इस सूत्र से 'जपम्

१. नापि क्रियापदापेक्षी इति पाठः प्रमादिकः।

प्रावर्षत्' इस वाक्य में 'जपम्' पद में जो द्वितीया विभक्ति है, उसी द्वितीया विभक्ति के द्वारा ही सम्बन्ध का अभिधान हो चुका है। तथा 'प्रादेशं विपरिलिखति'—आधा हाथ परिमाण (नापके) चिह्न लगाता है—इस वाक्य में स्थित 'विपरिलिखति' क्रियापद में जो 'वि' उपसर्ग है, उसके द्वारा 'मान' क्रिया (नापने की क्रिया) के माफिक अन्य किसी क्रिया का आक्षेप या अनुमान 'अनु' शब्द नहीं करता है, क्योंकि तब वह विभक्ति कारक विभक्ति हो जायगी, उपपद विभक्ति नहीं होगी। परन्तु 'जपसम्बन्धी वर्षण' इस प्रकार 'जपम्' में जो द्वितीया विभक्ति है उस द्वितीया विभक्ति के द्वारा अवगत सम्बन्ध इस स्थल में लक्ष्यलक्षणभाव ही है, ऐसा मालूम होने पर सम्बन्ध ही 'अनु' के द्वारा विशेष में व्यवस्थापित होता है। कहीं कहीं सम्बन्ध विशेष का द्योतक न होने पर भी क्रियागत विशेष के द्योतन के लिये भी यह 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा 'सुः पूजायाम्' (१–४–९४), 'अतिरतिक्रमणे च' (१-४-९४) ऐसे विशेष विशेष सूत्र के द्वारा की जाती है[1]।

अब तक कर्मप्रवचनीय के प्रसङ्ग में जो कुछ बात कही गयी है वह कर्मप्रवचनीय का परिचायक है, लक्षण नहीं। कर्मप्रवचनीय का लक्षण वाक्यपदीय ग्रन्थ की व्याख्याप्रसङ्ग में हेलाराज ने 'क्रियाविशेषोपजनित सम्बन्धविशेषावच्छेदहेतवः'[2] ऐसा बताया है।

सर्वदर्शनसंग्रह में पाणिनिदर्शन के विवरण के प्रसङ्ग में माधवाचार्य ने भी कर्मप्रवचनीय के इसी लक्षण को उद्धृत किया है। जैसे 'जपम् अनु प्रावर्षत्' इस वाक्य में 'अनु' कर्मप्रवचनीय संज्ञक है। वर्षण रूप क्रिया विशेष के द्वारा उपजनित यानी उत्पन्न जो जप के साथ वर्षणका लक्ष्यलक्षण भावरूप सम्बन्ध विशेष का निश्चयात्मक ज्ञान, उस ज्ञान का 'अनु' शब्द हेतु है। ऐसे ही अन्यान्य कर्मप्रवचनीय में लक्षण की संगति समझनी चाहिये।

---

१. तत्त्वबोधिनी टीका, 'कर्मप्रवनीयाः' (१–४–८३) इस सूत्र की व्याख्या प्रसङ्ग में।
२. वाक्यपदीय, ३।१, हेलाराज कृतव्याख्या।

स्वर्गत महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री के अन्तेवासी स्वर्गीय म॰ महोपाध्याय हाराणचन्द्र भट्टाचार्य जी के कथनानुसार 'पाणिनीयसं॰ सम्बन्धेन कर्मप्रवचनीयपदवत्त्वं कर्मप्रवचनीयत्वम्'—यह भी कर्मप्रवच॰ का एक लक्षण हो सकता है। अर्थविशेष में, प्रति, परि, अनु आदि॰ कर्मप्रवचनीय पदवान् से बोध्य हो—इस प्रकार पाणिनिमुनि के संकेत॰ सम्बन्ध से विशिष्ट वे ही प्रति, परि, अनु आदि कर्मप्रवचनीयसंज्ञक॰ होंगे। उपसर्गरूप प्रति, परि, अनु आदि शब्द का आनुपूर्वी कर्मप्रचनीय॰ के बराबर होने पर भी उन शब्दों के अर्थ भिन्न होने से वे शब्द उस अ॰ कर्मप्रवचनीयसंज्ञक पदवान् नहीं होंगे। अर्थभेद से शब्दभेद मानकर॰ द्वारा विशिष्ट लक्षण की उपपत्ति की जा सकती है।

५४७। अनुर्लक्षणे (१-४-८४)

लक्षणे द्योत्ये अनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्ग-संज्ञापवादः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

लक्षण द्योतित होने पर 'अनु' उक्तसंज्ञक यानी कर्मप्रवचनीयसंज्ञक॰ 'गति' तथा 'उपसर्ग'-संज्ञा का (यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा) अपवाद या॰ है। अर्थात् जब 'अनु' कर्मप्रवचनीयसंज्ञक होता है तब उसको॰ तथा 'उपसर्ग' संज्ञा नहीं दी जाती। लक्षण का अर्थ है ज्ञापक, अर्थात्॰ का जनक जो ज्ञान उसका विषय।

५४८। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। (२-३-८)

एतेन योगे द्वितीया स्यात्। जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं व॰ मित्यर्थः। परापि हेताविति तृतीया अनेन बाध्यते। 'लक्षणेत्थम्भू॰ (१-४-१०) इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

इसके साथ (अर्थात् कर्मप्रवचनीय के साथ) योग होने पर द्वि॰ विभक्ति हो। (सूत्रस्थ 'युक्त' शब्द का युज् धातु के साथ भाव॰

करने से योग अर्थ है) 'जपम् अनु प्रावर्षत्'—जप के कारण वर्षा हुई। हेतुभूत जो जो जप (वरुण मन्त्र जप), उस के द्वारा उपलक्षित वर्षण—यह अर्थ है। 'लक्षणेत्थम्भूत'—इत्यादि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध होने पर भी फिर से इस (अनुर्लक्षणे) सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधान के बल से परवर्त्ती होने पर भी—'हेतौ' (२–३ २३) इस सूत्रानुसार तृतीया विभक्ति इस ('कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया') के द्वारा बाधित होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीय.'—इस परिभाषा के अनुसार परवर्त्ती सूत्र पूर्ववर्त्ती सूत्र की अपेक्षा बलवान् होता है। अतएव 'हेतौ' (२–३–२३) यह परवर्त्ती हेतु अर्थ में तृतीया बोधक सूत्र 'लक्षणेत्थम्भूत'—(१–४–९०) इत्यादि सूत्र से हेतुभूतलक्षण वाचक 'जपम् अनु प्रावर्षत्' इत्यादि स्थलीय वर्षण क्रिया का हेतु और लक्षणवाचक 'अनु' शब्द के कर्मप्रवचनीय होने से 'कर्मप्रवचनीय युक्ते द्वितीया' (२–३–८)—इस से प्राप्त द्वितीया विभक्ति को रोक कर हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति की प्राप्ति होती है। परन्तु 'अनुर्लक्षणे' (१–४–८४) सूत्र के द्वारा फिर से दुबारा लक्षण अर्थात् ज्ञापक हेतु अर्थ में 'अनु' शब्द की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा का विधान करने से बोधित पुनर्वार कर्मप्रवचनीय के योग से द्वितीया विधान के कारण 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२–३–८) इस सूत्र से हेतु अर्थ में 'हेतौ' (२–३–२३) सूत्र से प्राप्त तृतीया बाधित हो जाती है।[1]

५४९। तृतीयार्थे (१–४–८५)

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। नदीम् अनु अवसिता सेना। नद्या सम्बद्धेत्यर्थः। 'षिञ् बन्धने' क्तः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

१. 'लक्षणेत्थम्भूते'त्येव सिद्धे पुनःसंज्ञाकरणबोधितपुनर्द्वितीयाविधानसामर्थ्या-दित्यर्थः। लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ६६१, गुरुप्रसादशास्त्री संस्करण।

सूत्रस्थ 'तृतीया' शब्द से उस का निमित्तभूत 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२-३-१९) इस सूत्र में उल्लिखित 'सह' शब्द लक्षित होता है।[1] उस का अर्थ 'साहित्य द्योतित होने पर 'अनु' शब्द पूर्वोक्तकर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। 'नदीम् अनु अवसिता सेना'— नदी के साथ सेना सम्बद्ध—यह अर्थ है। 'अवसिता' शब्द की व्युत्पत्ति 'अव' पूर्वक वन्धनार्थक 'षिञ्' धातु (स्वादिगणीय) के साथ 'क्त' प्रत्यय से की जाती है।

यथाश्रुत 'कर्त्ता', 'करण' रूप तृतीयार्थ यहाँ ग्रहणीय नहीं है। कारण 'रामेण शरेण अनुहतो वाली' इस वाक्य में 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इस परिभाषा के बलपर अनुक्त कर्त्ता तथा अनुक्त करण में तृतीया विभक्ति ही हो जायगी, कर्मप्रवचनीयत्व प्रयुक्त द्वितीया विभक्ति न होने से इस कर्मप्रवचनीय संज्ञा का कोई फल नहीं होगा[2]।

५५० हीने (१-४-८६)

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

जब हीन या न्यून द्योतित होता है तब 'अनु' शब्द पहले के माफिक हो अर्थात् कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हो। 'अनु हरिं सुराः' हरे र्हीना इत्यर्थः—सुर अर्थात् देवगण हरि से हीन हैं—यह अर्थ है।

---

१. 'तृतीया' शब्देन तन्निमित्तशब्दः 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इत्यत्रोपात्तोऽनन्तरत्वात् 'सह' शब्दो लक्ष्यते। तदर्थे साहित्ये द्योत्ये इत्यर्थः। लघुशब्देन्दु०, पृ० ६९१ गुरुप्रसाद संस्करण।

२. अत्र 'तृतीयार्थे' इत्यनेम कर्त्तृकरणे न गृह्येते, रामेण शरेणानुहतो वालीत्यत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्ति र्बलीयसी' इतिन्यायेन तृतीयाया एव प्रवृत्त्या अस्याः संज्ञायाः फलाभावात्—बालमनोरमा, पृ० ६२५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

शब्द शक्ति के स्वभाव से उत्कृष्टवाचक शब्द से ही कर्मप्रवचनीय के योग से द्वितीया विभक्ति होती है, अपकृष्टवाचक शब्द से नहीं[१]।

५५१ उपोऽधिके च (१-४-८७)

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने—उप हरिं सुराः।

अनुवाद तथा विवृत्तिः—

अधिक और हीन द्योतित होने पर 'उप' यह अव्ययशब्द पूर्वसंज्ञक अर्थात् कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। अधिक अर्थ में सप्तमी विभक्ति होती है, यह आगे ६४५ 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (२-३-९) इस सूत्र से कहा जायगा। हीन अर्थ में (उदाहरण)—उप हरिं सुराः'—देवगण हरि से हीन हैं।

५५२ लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः। (१-४-९०)

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादयः उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे, वृक्षं प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा। भागे, लक्ष्मी हरिं प्रति परि अनु वा। वीप्सायाम्, वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्—परिषिञ्चति।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग और वीप्सा अर्थ में 'प्रति', 'परि' और 'अनु' कर्मप्रवचनीय संज्ञक हों।

---

१. उत्कृष्टादेव द्वितीया, नत्वपकृष्टात् शक्तिस्वभावात्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६२६, म० म० गिरिधरशर्मा, मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।
कर्मप्रवचनीयविभक्तिस्तु तेन व्यतिरिच्यमान उत्कृष्ट एव भवति, न हीने, अभिधानशक्तिस्वाभाव्यात्। नोभाभ्याम्, एकयैव द्वितीयया द्विष्ठस्यापि सम्बन्धस्याभिधानात्, षष्ठीवत्। पदमञ्जरी, पृ० ६१७, प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी। तत्र षष्ठ्यां प्राप्तायां तदपवादो द्वितीया अभिधानशक्तिस्वाभाव्यादुत्कृष्टादेव स्यात्। विट्ठलाचार्यकृत प्रक्रियाप्रसाद, पृ० ४००, बम्बई प्राकृत सीरिज।

एष्वर्थेषु इति—ये सब अर्थ यानी लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग तथा वीप्सा जब प्रतिपाद्य विषय होते हैं तब 'प्रति', 'परि' और 'अनु' पूर्वोक्तसंज्ञक अर्थात् कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हों। 'एषु अर्थेषु द्योत्येषु'—ये सब अर्थ द्योतित होने पर—ऐसी व्याख्या नहीं की गयी है। कारण यह है कि व्याप्त करने की इच्छा रूप (वीप्सा) अर्थ 'प्रति' आदि के द्वारा द्योतित नहीं होता, परन्तु द्विर्वचनविशिष्ट वृक्षादिशब्द से बोध्य[1] होता है। लक्षण अर्थ में (उदाहरण), 'वृक्षं प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्'– वृक्षके द्वारा 'ज्ञापित या' बोधित विजली चमकती है। इस उदाहरण में वृक्ष विजली के चमकने का लक्षण यानी ज्ञापक है। वृक्ष को जानने से विजली चमकने का ज्ञान होता है। अतः विजली चमकने का जो ज्ञान, उसका जनक जो वृक्षज्ञान, उसका विषयीभूत वृक्ष, विजली चमकने का लक्षण[2] यानी ज्ञापक होता है।

सिद्धान्त कौमुदी की वालमनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित के मतानुसार वृक्षके द्वारा लक्ष्यमाण विद्युत् प्रकाशित होती है—'यही 'वृक्षं' प्रति परि अनु वा विद्योतते विद्युत्'—इस वाक्य का अर्थ है।[3] इस मत में वृक्ष विद्युत् का ज्ञापक है, विद्युत् के प्रकाश का (विद्योत का नहीं।

शब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्ट के मतानुसार वृक्ष के प्रकाश अर्थात् ज्ञान से विद्युत् के विद्योत का देश यानी चमकने के देश का ज्ञान होता[4] है।

---

१. वीप्साया द्विर्वचनविशिष्टवृक्षशब्दबोध्यत्वादाह विषयभूतेष्विति—लघुशब्देन्दुशेखर पृ० ६९२, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

२. वृक्षज्ञानजन्यज्ञानविषयो विद्युद्विद्योत इति बोधः। चिदस्थिमाला, लघुशब्देन्दुशेखर पृ० ६९२, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

३. वृक्षेण लक्ष्यमाणा विद्युत् विद्योतत इत्यर्थः। वालमनोरमा—पृ० ६२७, मो० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. वृक्षप्रकाशेन विद्युद्विद्योतनदेशज्ञानाद् वृक्षो लक्षणम्। लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

इत्थम्भूताख्याने—'भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा'—विष्णुविषयक भक्तिमान्, यह अर्थ है। 'इत्थम्' शब्द का अर्थ है 'अयं प्रकार:' यह प्रकार। 'प्रकार' विशेषण को कहा जाता है। 'भूत:' शब्द का अर्थ है 'प्राप्त:'। अतएव 'इत्थम्भूत' का अर्थ हुआ 'एतत्प्रकारं प्राप्त:' अर्थात् इस प्रकार यानी विशेषण के द्वारा विशेषित। चुंकि 'एतत् प्रकार' अर्थात् 'यह विशेषण' कौन सा है यह प्रकरण के सहारे निर्धारण करना पड़ता है इसलिये यह प्रकार किसी प्रकरण के अभाव में साधारण रूप से कोई भी प्रकार है ऐसा कहना पड़ेगा। अत: 'इत्थम्भूत:' शब्द की व्याख्या नागेशभट्टजी ने 'कञ्चित् प्रकारं प्राप्त:[1]'—किसी प्रकार यानी विशेषण को प्राप्त'—इस रूप से व्याख्या की है। 'आख्यान' शब्द का 'आख्यायते अनेन' इस व्युत्पत्ति से निरूपक[2] अर्थात् बोधक अर्थ है।

'भक्तो विष्णुं प्रति' इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि 'भक्त' भक्ति-रूप प्रकार विशेष को प्राप्त है यानी विशेषण विशेष के द्वारा विशेषित है। अर्थात् भक्तिमान् ही भक्त कहलाता है। 'भक्ति: अस्य अस्ति'—इस अर्थ में 'भक्ति' शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच्' (३-२-१२७) इस सूत्र से 'अच्' प्रत्यय किया गया है। भक्त के साथ विष्णु का जो सम्बन्ध है वह भक्त में स्थित भक्ति का विषयत्वरूप सम्बन्ध कहा जा सकता है। उस सम्बन्ध का बोध कराने के लिये षष्ठी विभक्ति प्राप्त होने से उसको बाधित करके 'कर्मप्रवच-नीययुक्ते द्वितीया' इस सूत्र से 'प्रति', 'परि' या 'अनु' के योग से द्वितीया विभक्ति हुई है।

भागे—'लक्ष्मी हरिं प्रति परि अनु वा'—लक्ष्मी जी हरि का भाग है। 'भाग' शब्द का स्वत्वविशिष्ट अर्थात् 'स्व'[3] अर्थ है। नागेशभट्टजी के

१। इत्थम्भूत: कञ्चित् प्रकारं प्राप्त:—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ६९२,
गुरुप्रसादशास्त्री संस्करण।

२. स आख्यायने अनेनेति इत्थम्भूताख्यानं प्रकारविशेषनिरूपकम्—लघुशब्देन्दुशेखर,
गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. भागशब्देन च स्वत्वविशिष्टमुच्यते—विषमपदविवृत्ति, लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ६९६
गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

मतानुसार 'भाग' शब्द 'अर्थ' आद्यजन्त है तथा स्वामी का बोधक है। ई
निष्ठस्वामित्वनिरूपितस्वत्ववती लक्ष्मी, ऐसा अर्थ नागेशजी का अभि
मालूम होता है।

वीप्सायाम्—'वृक्षं वृक्ष प्रति परि अनु वा सिञ्चति—प्रत्येक वृक्ष
सींचता है। 'नित्यवीप्सयोः' (८-१-४) इस सूत्र से वीप्सा अर्थ में
शब्द की द्विरुक्ति हुई है। वीप्साशब्द का पूर्णतया सम्बन्ध[1] अर्थ है। व्या
विशेषविषयक शब्द प्रयोग करनेवाले की इच्छा[2] भी वीप्सा कही जाती
इच्छा का विषय व्याप्ति विशेष ही वीप्सा शब्द से समझा जाता[3] है। व
विशेष से 'कात्स्र्येन' अर्थात् 'पूर्णतया व्याप्तिः' विवक्षित है। वीप्सास्
प्रयोग में प्रकृत्यर्थ विषयक कार्त्स्न्य ही व्याप्ति है। यहाँ 'कार्त्स्न्य' शब्द
व्यक्तिओंका कार्त्स्न्यं विवक्षित है, अवयव कार्त्स्न्य नहीं[4]। और
कार्त्स्न्य भी जिस प्रसङ्ग में जिन व्यक्तियों का उल्लेख किया जा
उन्हीं का कार्त्स्न्य समझना चाहिये, न कि संसार भर की व्यक्तियों
जैसे 'सर्वे ब्राह्मणा आमन्त्रिताः'—सब ब्राह्मण आमन्त्रित हुए हैं—क
संसार में जितने ब्राह्मण हैं, वे सभी आमन्त्रित हुए हैं—ऐसी बात
परन्तु अपने गाँव के स्वजातीय समस्त ब्राह्मण आमन्त्रित हुए हैं—

१. सा च कार्त्स्न्येन सम्बन्धात्मिका। तथा च प्रकृत्यर्थकार्त्स्न्यमेव व्याप्तिः—बालम
पृ० ६२७, म० म० गिरिधर शर्मा सं

२. व्याप्तिविशेषविषया प्रयोक्तुरिच्छा वीप्सा—काशिकावृत्ति, पृ० ५२७, अन
फडके कृत संस्करण, चौ. संस्कृत

३. अत्र सन्वाच्या इच्छा स्वरूपसती, व्याप्तिरेव तु विवक्षिता, साच कार्त्स्न्येन
न्धात्मिका—बालमनोरमा, पृ० ६२७ मोतीलाल बनारसीदास। शाब्दबोधविषयस्तु
रेव—तत्त्वबोधिनी—'नित्यवीप्सयोः (८–१–४) सूत्र व्याख्या प्रसङ्ग में।
प्रकृत्यर्थगतकार्त्स्न्यमेव व्याप्तिः—बालमनोरमा, पृ० ६२७

४. व्यक्तिकार्त्स्न्यमिह विवक्षितम् न तु अवयवकार्त्स्न्यम् इति नित्यवीप्सयोरित्य
स्थ बालमनोरमा, पृ० ६२७,

म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

समझा जाता है। कारण, संसारभर के सभीं ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना किसी के लिये भी सम्भव नहीं। उसी प्रकार 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति'—ऐसे वाक्य प्रयोग के स्थल में भी संसार भर के सभी वृक्षों का सेचन करने की शक्ति किसी भी मनुष्य को न होने से जिस बगीचे में वृक्षों का सेचन करने का अधिकार है उसी बगीचे में स्थित सभी वृक्षों का सेचन समझना चाहिये। जहाँ पर वीप्सास्थलीय द्विरुक्त प्रयोग में अर्थ का संकोच करने का कोई कारण नहीं है वहाँ अर्थसंकोच न होकर सभी व्यक्तिओं का बोध होता[1] है। जैसे 'जातो जातो निधनमुपैति'—जो पैदा होते हैं वे सभी मरते हैं।

कात्स्न्र्य का बोध होने पर भी वीप्सास्थलीय 'वृक्षं वृक्षम्' इत्यादि वाक्य में वृक्ष शब्द में बहुवचन की आपत्ति नहीं करनी चाहिये, बहु का ज्ञान होने पर भी वहां बहुत्वसंख्या का ज्ञान नहीं होता है, बल्कि प्रत्येकनिष्ठ एकत्व का ही ज्ञान होता है।

अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्—'प्रति' 'परि' तथा 'अनु' कर्मप्रवचनीय संज्ञक होने के नाते उपसर्ग न होने से 'उपसर्गात् सुनोति—' (८-३-६५) इत्यादि सूत्र से प्रसक दन्त्य 'स' का मूर्द्धन्य 'ष' नहीं हुआ है।

एषु किम् इत्यादि—सूत्र में 'एषु' क्यों कहा गया है? अर्थात् लक्षण आदि अर्थ में प्रति आदि कर्मप्रवचनीय न होने पर उपसर्ग होता है एवं 'उपसर्गात् सुनोति—' इत्यादिसूत्र से 'परिषिञ्चति' क्रियापद में 'सिच्' धातु

१। व्याप्तिरिह कार्त्स्न्यं तच्चाधिकारिकम्। 'सर्वे च ब्राह्मणा आमन्त्रिताः' इत्यादौ यथा। नहि जगतीतले विद्यमाना ब्राह्मणाः सर्वेऽपि केनचिदामन्त्रयितुं शक्यन्ते इति स्वग्रामस्थस्वजातीयब्राह्मणपरतया तत्र सङ्कोचो यद्यभ्युपेयते तर्हि अत्रापि सकलवृक्षसेचनसामर्थ्यं कस्यापि मनुष्यस्य नास्तीति यत्र वाटिकादौ वृक्षसेचनार्थमधिकार स्तद्वाटिकास्थवृक्षाणामेव कार्त्स्न्यं वृक्षं वृक्षं सिञ्चतीत्यादौ गम्यते इत्यभ्युपेयम्। यत्र तु सङ्कोचे कारणं नास्ति, तत्रासङ्कोच इष्ट एव 'जातो जातो निधनमुपैति' इति यथा। न चैवं वृक्षं वृक्षमित्यादौ बहुवचनप्रसङ्गः—बहूनां भानेऽपि बहुत्वसंख्यायास्तत्राभानात् प्रत्येकनिष्ठमेकत्वमेव हि तत्र भासते।"
'तत्त्वबोधिनी, नित्यवीप्सयोः' सूत्र व्याख्या प्रसङ्ग में।

के 'दन्त्य 'स' का मूर्द्धन्य 'ष' हुआ है। 'परिषिञ्चति' शब्द का 'सब
से सेचन करता है' (सर्वतः सिञ्चति), यह अर्थ है।

५५३ अभिरभागे (३-४-९१)

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिम् अभिवर्त्तते। भक्तो हरिम्
अभि। देवं देवम् अभिसिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्
तद्दीयताम्।

अनुवाद तथा विवृति। लक्षणेत्थम्भूताख्यान—(१-८-९०) इत्
पूर्व सूत्र में उल्लिखित लक्षण, इत्थम्भूताख्यान, भाग तथा वीप्सा इन
में से 'भाग' को छोड़कर बाकी अर्थ में 'अभि' शब्द कर्मप्रवचनीय संज्ञक
'हरिम् अभि वर्त्तते—' हरि के द्वारा लक्षणीय (जय) है अर्थात हरि
जय की सूचना मिलती है। 'भक्तो हरिम्' अभि—हरिविषयक भक्ति
अर्थात् भगवान् हरि का भक्त।

देवं देवम् अभि सिञ्चति—देवसमूह को सींचता है। ये तीन यथा
लक्षण, इत्थम्भूताख्यान और वीप्सा विषय होने पर 'अभि' शब्द की
प्रवचनीय संज्ञा के उदाहरण हैं।

अभागे किम्? सूत्र में 'अभागे'—भाग के न होने पर ऐसा क्यों
गया है? उत्तर 'यदत्र मम अभिष्यात् तद् दीयताम्'—इन में जो मेरा
है वह (मुझे) दीजिये। यहाँ 'भाग' अर्थ ज्ञान का विषय होने से 'अ
कर्मप्रवचनीयनहीं हुआ है, परन्तु क्रिया के साथ योग होने से उपसर्ग ही
है, और उपसर्ग होने से 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' (८-३-८७)—इस
से 'स्यात्' क्रियापद में स्थित दन्त्य 'स' का मूर्द्धन्य 'ष' आदेश हुआ है।

५५४ अधिपरी अनर्थकौ (१-४-९२)

उक्तसंज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसंज्ञाबा
'गतिर्गतौ (८-१-७०) इति निघातो न।

अनुवाद तथा विवृति। धात्वर्थ से अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ का द्योतक

ने से 'अधि' तथा 'परि' शब्द अनर्थक कहे जाते हैं। इस प्रकार अनर्थक ने से वे दोनों कर्मप्रवचनीय संज्ञक होते हैं।

उदाहरण—'कुतः अध्यागच्छति'—कहाँ से आ रहा हैं, 'कुतः पर्या- च्छति'—कहाँ से आ रहा है। इन दोनों उदाहरणों में 'अधि' तथा 'परि'— शब्दों मे 'आ' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु का जो आगमन रूप अर्थ है के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ द्योतित नहीं होता है। इसी तात्पर्य से को अनर्थक कहा गया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में इस प्रसङ्ग में कहा है—'अनर्थान्तरवाचिनौ धातुना उक्तक्रियामेव आहतुः'—अर्थात् ये दोनों धि' तथा 'परि' किसी दूसरे अर्थ के वाचक नहीं हैं, केवल धातु के द्वारा क्रिया बोधित की गयी है, उसीके वाचक हैं।

तात्पर्य यह है कि 'शास्त्रार्थम् अधिगच्छति'—शास्त्रार्थ को जानता -इत्यादि प्रयोग में 'अधि' शब्द के योग से 'आ' पूर्वक 'गम्' धातु का मृति रूप धात्वर्थ (क्रिया) द्योतित होता है। अतः क्रिया विशेष का तक होने से इस वाक्य में 'अधि' उपसर्ग है। परन्तु 'कुतः अध्यागच्छति'— वाक्य में ऐसी बात नहीं है। वहाँ 'अधि' शब्द 'आगमन' रूप धात्वर्थ से रिक्त अन्य किसी अर्थ का द्योतक न होने से पारिभाषिकरूप से अनर्थक ा गया[1] है और उसको कर्मप्रवचनीयसंज्ञा दी गयी है, 'गति' या 'उपसर्ग' नहीं। कर्मप्रवचनीय संज्ञा से 'गति' संज्ञा की बाधा होने से 'गतिर्गतौ' ८-१-७०) सूत्र से 'निघात' या अनुदात्तस्वर नहीं होगा। 'गतिगतौ'

१ अत्र प्रभवति पराभवति अनुभवति इत्यादौ प्रादेरिवार्थान्तरद्योतकत्वाभावेऽपि धात्वर्थद्योतकत्वमस्त्येव। अर्थान्तरद्योतकत्वाभावेन अनर्थकत्वव्यवहारः। उक्तं च भाष्ये 'अनर्थान्तरवाचिनौ धातुनोक्तक्रियामेवाहतुः इति'—बालमनोरमा, पृ० ६२९, मोतीलाल बनारसीदास।

धात्वर्थमात्रद्योतकत्वेन क्रियायोगाद् गतित्वं प्राप्तम्, विशेषद्योतकत्वाभावात्तु अनर्थकत्वव्यवहारोऽपीति भावः।

लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ११६, उत्तमराम शास्त्री संस्करण।

(८-१-७०) सूत्र में 'पदात्' (८-१-१७) सूत्र से 'पदात्' इसका
आने से पद के पर है—इस को प्रतिपादित करने के लिये उदाहरण में
यह पद पहले कहा गया[1] है।

५५५ सुः पूजायाम् (१-४-९४)

क्षेपोऽयम्। सुसिक्तम्, सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्वान्न षः। पूजायां
सुषिक्तं किं[2]तवात्र।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

'सु' शब्द पूजा यानी प्रशंसा अर्थ में कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हो।
हरण—सुसिक्तम्—अच्छी तरह से सींचा हुआ, सुस्तुतम्—अच्छी
स्तुति की गयी। यहाँ पर 'सु' कर्मप्रवचनीय होने से उपसर्ग न होने से
उपसर्गात् सुनोति—(८-३-६५) इत्यादिसूत्र से 'सुसिक्तम्',
इन पदों के अन्तर्गत 'सिक्तम्', 'स्तुतम्' में जो दन्त्य 'स'कार है वह मूर्धन्य
नहीं हुआ है।

सूत्र में 'पूजायाम्' अर्थात् प्रशंसा गम्यमान होने पर—ऐसा क्यों
गया है? उत्तर—सुषिक्तं किं तवात्र। क्या यहाँ पर तुम्हारा अच्छी
से सींचा हुआ है? यह 'क्षेप' या निन्दा है। अतः निन्दा अर्थ में
प्रवचनीय न होने के कारण 'उपसर्गात्सुनोति'—इत्यादि सूत्र से मूर्धन्य
कार हुआ है।

'सु' शब्द सेक के पूज्यत्व का द्योतक है। सेक क्रिया के पूज्यत्व से
के कर्त्ता का पूज्यत्व गम्यमान होने पर यह कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है[3]।

---

१ अत्र 'गतिर्गतौ' इत्यत्र पदादित्यधिकारात्
पदात्परत्वसम्पत्तये 'कुतः' इत्युपात्तमिति भावः।
बालमनोरमा, पृ० ६२६

२। सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र—इति बालमनोरमासम्मतः पाठः।

३। सेकगतपूज्यत्वद्योतकः सुः। क्रियापूज्यत्वकृते तत्तत्क्रियाकर्त्तुः पूज्यत्वे
संज्ञा—[illegible], पृ० [illegible], गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

५५६ अतिरतिक्रमणे च (१–४–९५)

अतिक्रमणे पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। अति देवान् कृष्णः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

अतिक्रमण यानी उचित से अधिक अनुष्ठान[1] या उचित से आधिक्य[2] और पूजा अर्थ में 'अति' शब्द कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। उदाहरण—'अति देवान् कृष्णः'—कृष्ण (भगवान्) देवताओं से बढ़कर हैं या कृष्ण (भगवान्) देवताओं के पूज्य हैं।

५५७ अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु (१–४–९६)

एषु द्योत्येषु अपिरुक्तसंज्ञः स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते। सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो नत्वपिना इत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद् विष्णुम्, सम्भावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः। अपि स्तुहि, अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्, गर्हा। अपि सिञ्च अपि स्तुहि, समुच्चये।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

(अप्रयुज्यमान) पदान्तरका अर्थ, सम्भावन यानी बढ़ाचढ़ा कर कहना, अन्ववसर्ग यानी इच्छानुसार काम करने की आज्ञा, गर्हा यानी निन्दा और समुच्चय—अनेक वस्तुओं का एकत्रित होना—ये सब अर्थ द्योतित होने पर 'अपि' शब्द पूर्वोक्तसंज्ञा को यानी कर्मप्रवचनीयसंज्ञा को प्राप्त करता है। उदाहरण—'सर्पिषोऽपि स्यात्'—घी का बिन्दु हो सकता है।[3] (अपि)

१। अतिक्रमणम् उचितादधिकानुष्ठानम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ६६६.

२। अतिक्रमणम् उचितादाधिक्यम्—बालमनोरमा, पृ० ६२९, मोतीलाल बनारसीदास।

३। सर्पिर्बिन्दुः स्यादित्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६३०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

उपसर्ग न होने के कारण 'स्यात्' क्रियापद के दन्त्य 'स' के स्थान पर
सर्गप्रादुर्भ्यामस्ति यंच्परः' (८-३-८७) इस सूत्र से मूर्द्धन्य 'ष'
हुआ। सम्भावना अर्थ में 'उपसंवादाशङ्कयो श्च' (३-४-८) इस
भाष्य में पठित 'उपसंवादाशङ्कयोर्लिङ्' इस वचन के अनुसार लिङ्।
'भवन' अर्थात् सत्ता उस सम्भावना का ही विषय होता है उस
'स्यात्' क्रियापद से बोध्य 'भवन' या 'सत्ता' रूप क्रिया (धात्वर्थ
कर्त्ता 'बिन्दु' के दौर्लभ्य-यानी दुर्लभता प्रयुक्त भवन क्रिया का
प्रकाशित कर के 'अपि' शब्द 'स्यात्' इस क्रिया वाचक पद के साथ
होता है। 'सर्पिषः' इस पद में जो षष्ठी विभक्ति है वह किन्तु 'अपि'
बल से गम्यमान बिन्दु के अवयवायविभाव सम्बन्ध में हुई है, अर्थात्
वावयविभाव सम्बन्ध का वाचक है। अपिशब्द से 'भवन' या सत्ता का
ही द्योतित होता है, और वह भवनदौर्लभ्य भवन के कर्त्ता का दौर्लभ्य
अर्थापत्ति प्रमाण या अनुमान प्रमाण से मालूम कराता है। इस वा
'स्यात्' इस क्रिया पद से बोध्य कर्त्ता बिन्दु ही है जिसका दौर्लभ्य
दौर्लभ्य से प्रतीत होता है। इसलिये अपि शब्द के बल से बिन्दु गम
होता है ऐसा कहा गया है, न कि साक्षात् अपिशब्द से।[1] यहां
बिन्दु के दौर्लभ्य से बिन्दु के भवन (सत्ता) के दौर्लभ्य की द्योतक
पदार्थद्योतकता हैं।

यहाँ पर अर्थात् "सर्पिषः अपि स्यात्' इस वाक्य के अन्तर्गत' सर्पिष
में द्वितीया विभक्ति किन्तु नहीं हो सकती। क्योंकि सर्पि का 'बिन्दु' के
योग है, 'अपि' शब्द के साथ नहीं, यह प्राय कहा गया है। 'अपि'
'स्यात्' इस पद से सम्बद्ध होता है—ऐसा कहने पर 'स्यात्' पद अपि श
सम्बद्ध है, सर्पि से नहीं यह प्रतीत होता है। अतः 'सर्पिः' का 'बिन्दुः' के

१। अपिना द्योत्य भवनदौर्लभ्यमेव कर्तृदौर्लभ्यमाक्षिपति। कर्त्तास्विह बिन्दुरे
प्रतीयते। अतएव अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य इत्युक्तम्, न तु अपिना ग
नस्येति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६३१

योग है 'अपि' के साथ नहीं, यह अर्थ कहा गया है, इसीलिये 'उक्तत्वात्' का अर्थ 'उक्तप्रायत्वात्' किया गया है।

'अपि स्तुयाद् विष्णुम्'—विष्णु (भगवान्) की स्तुति करे। इस कथन का तात्पर्य यह है कि वाक्य तथा मन के अगोचर विष्णु भगवान् की स्तुति करना किसी के द्वारा सम्भव नहीं। अतएव विष्णु भगवान् की स्तुति करे,—ऐसा किसी के बारे में कहना उसकी शक्ति को बढ़ाचढ़ा कर ही कहना है। 'सम्भावन' का मतलब है किसी की शक्ति का उतकर्ष प्रकट करने के लिये बढ़ाचढ़ा कर कहना। 'सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे' (३–३–१५४) इस सूत्र से 'सम्भावन' अर्थ में लिङ् लकार हुआ है।

अपि स्तुहि—चाहो तो स्तुति करो—यह अन्ववसर्ग का बोधक अपि शब्द के कर्मप्रवचनीय होने का उदाहरण है। अन्ववसर्ग का अर्थ है इच्छानुसार काम करने की आज्ञा। यहाँ 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' (३–३–१६३) इस सूत्र से लोट् हुआ है।

'धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्'—देवदत्त की निन्दा है, वह शूद्र की भी स्तुति करे। यहाँ 'हेतुहेतुमतो लिङ्' (३–३–१५६) सूत्र से सम्भावना रूप अर्थ समझाने के लिये लिङ् लकार हुआ है। 'अपि' शब्द से निन्दा द्योतित होती है। क्रिया का निन्दनीयत्व अपिशब्द द्योत्य है। वृषल पद के साथ एक वाक्य में उच्चरित होने से स्तुति की निन्दनीयता प्रतीत होने के कारण स्तुति कर्त्ता की निन्दनीयता पर्यवसित होती है। वही निन्दनीयता 'धिक्' शब्द से अनूदित होती है।[1]

अपि सिञ्च अपि स्तुहि'—सेचन भी करो स्तुति भी करो। यहाँ 'अपि' शब्द समुच्चय यानी एकाधिक वस्तुओं का मेल का बोधक हुआ है। सेचन करना और स्तुति करना—इन दोनों विषयों का समुच्चय यहाँ 'अपि' शब्द से प्रतीत होता है।

१। क्रियागतं गर्ह्यत्वमपिद्योत्यम् वृषलशब्दसमभिव्याहारात् स्तुते गर्ह्यत्वं फलति, तदेव धिक्शब्देनानूद्यते। शब्देन्दुशेखर, पृ० ७०७, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

५५८ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (२–३–५)

इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासम् अधीते । मासं गुड़धानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशम् अधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य द्विरधीते, क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः ॥

अनुवाद तथा विवृत्ति—

इस अर्थ में अर्थात् अत्यन्त संयोग अर्थ में द्वितीया हो ।

उदाहरण—मासं कल्याणी—महीने भर मङ्गलवान् । मासम् अधीते—महीने भर पढ़ता है । मासं गुड़धानाः—महीने भर गुड़ से मिले हुए धान हैं । क्रोशं कुटिला नदी—कोस भर नदी टेढ़ी है । क्रोशम् अधीते—कोस भर पढ़ता है । क्रोशं गिरिः—कोस भर पहाड़ है ।

अत्यन्तसंयोगे ऐसा क्यों कहा गया है ?

उत्तर—मासस्य द्विरधीते—महीने में दो बार पढ़ता है । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः—कोस के एक प्रान्त में पहाड़ है ।

अत्यन्त संयोग शब्द का अर्थ है निरन्तर सम्बन्ध । वह निरन्तर सम्बन्ध गुण, क्रिया, द्रव्य और अभाव के साथ होता[1] है ।

यहाँ निरन्तर सम्बन्ध प्रतीत न होने से अत्यन्तसंयोगे द्वितीया नहीं हुई है ।

५५९ । स्वतन्त्रः कर्त्ता (१–४–५४)

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ।

---

१ । अत्यन्तसंयोगो निरन्तरसंयोगः । स च गुणक्रियाद्रव्यैरभावेन च ।
लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७००, गुरुप्रसाद शास्त्री सं०
अन्तं विरामम् अतिक्रान्तः अत्यन्तः । स चासौ संयोगश्च अत्यन्तसंयोगः निरन्तर सन्निकर्ष इत्यर्थ-तत्त्वबोधिनी, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण, पृ० ६३२ ।
अन्तो विच्छेदः, तमतिक्रान्तः अत्यन्तः । स चासौ संयोगश्चेति विग्रहः ।
बालमनोरमा, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ६...

अनुवाद तथा विवृत्ति—

क्रिया के उत्पादन में स्वतन्त्ररूप से विवक्षित अर्थ कर्त्ता हो।

'स्वातन्त्र्य' शब्द का अर्थ प्राधान्य है। 'विवक्षा के अनुसार सब कारक होते हैं' (विवक्षातः कारकाणि भवन्ति), भाष्यकार के इस कथन के अनुसार जब जिस कारक का क्रिया के उत्पादन में प्राधान्य विवक्षित होता है, तब वह कर्त्ता कहा जाता है। अतएव 'स्थाली पचति'—बरतन पकाता है, 'काष्ठानि पचन्ति'—लकड़ियाँ पकाती हैं—इस प्रकार का व्यवहार होता है।

इस प्रसङ्ग में 'स्वातन्त्र्य' शब्दार्थ का परिष्कार व्याकरणाचार्योंने अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया है 'प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्वं स्वातन्त्र्यम्'[१]—यानी प्रधानीभूत धात्वर्थ का आश्रयत्व कर्त्ता का स्वातन्त्र्य है। बालमनोरमाकार के मतानुसार धात्वर्थ व्यापार का आश्रयत्व ही स्वातन्त्र्य[२] है। शब्देन्दुशेखर-कार नागेशभट्ट के मतानुसार कर्तृ प्रत्यययुक्त पद के प्रयोगस्थल में प्रधानीभूत धात्वर्थ का आश्रयत्व ही स्वातन्त्र्य है। महावैयाकरण कोण्डभट्ट ने वैयाकरण-भूषणसार ग्रन्थ में धात्वर्थ व्यापार का आश्रयत्व ही स्वातन्त्र्य कहा है। यहाँ पर धात्वर्थ से प्रकृतधात्वर्थ अर्थात् जिस धातु का मुख्य रूप से प्रयोग किया गया हैं उस धात्वर्थ व्यापार का आश्रयत्व ही स्वातन्त्र्य है।

क्रिया के जनन में या उत्पादन में इसी प्रकार के स्वातन्त्र्य से विशिष्ट कारक ही कर्त्ता कहलाता है। महामनीषी भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ

---

१. तत्त्वबोधिनी, पृ० ६३३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण

२. 'स्वातन्त्र्यं च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम्'—बालमनोरमा, पृ० ६३३ म० म० गिरिधर शर्मा

३. स्वातन्त्र्यञ्च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्वम्' लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७०१, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

४. स्वातन्त्र्यं च धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वम्—वैयाकरणभूषणसार, दर्पण टीका सहित पृ० १५४, चौखम्बा संस्करण। धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वमित्यत्र प्रकृतेत्यादिः वै० भूषण-सार टिप्पणी, पृ० १५४

में कहा है कि धातु अर्थात् प्रकृत धातु के द्वारा जिस कारक की क्रिया उक्त अभिहित होती है वही कारक नियमित रूप से कर्त्ता के रूप में जाता है[1]।

'देवदत्तः वह्निना तण्डुलं पचति'—देवदत्त आग से चावल पकाता है इस वाक्य में देवदत्त कर्त्ता है, क्योंकि उसके द्वारा की गयी पाक क्रिया (विक्लृत्त्यनुकूल व्यापार) प्रकृत 'पच्' धातु के द्वारा अभिहित हुई। वह्नि की ज्वलन क्रिया का आश्रय वह्नि कर्त्ता नहीं है, कारण वह ज्वलन क्रिया प्रकृत 'पच्' धातु वाच्य नहीं है।

स्वातन्त्र्य के परिष्कार में प्रधानी भूत धात्वर्थाश्रयत्व कहने से विक्लृत्ति रूप जो 'पच्' धातु का अप्रधानीभूत अर्थ है, उसका आश्रयत्व लेकर तण्डुल में कर्तृत्व प्राप्त नहीं होता। 'पच्' धातु का विक्लृत्त्यनुकूल व्यापार अर्थ है। विक्लृत्ति या शिथिल अवयव संयोग फल है, और उस फल का अनुकूल व्यापार 'पच्' धातु का प्रधानीभूत अर्थ है। प्रधान का अर्थ है विशेष्य। विक्लृत्त्यनुकूल व्यापार रूप 'पच्' धात्वर्थ में व्यापार ही प्रधान या विशेष्य है। कारण अनुकूलत्व सम्बन्ध से विक्लृत्ति विशिष्ट व्यापार ही विक्लृत्त्यनुकूल व्यापार कहलाता है जिसमें विक्लृत्ति विशेषण है और व्यापार प्रधान या विशेष्य।

अतएव स्वातन्त्र्य का प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्व या धात्वर्थव्यापाराश्रयत्व किसी भी प्रकार से निर्वचन करने पर भी पदार्थ एक ही आता है।

यह कर्त्ता तीन प्रकार के माने जाते हैं[2]—शुद्ध, प्रयोजक हेतु और कर्म कर्त्ता। शुद्ध कर्त्ता, प्रयोजक हेतुत्व तथा कर्मकर्तृत्व का अनधिकरणीभूत कर्त्ता। प्रयोजक हेतु कर्त्ता, 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१–४–५५) इस सूत्र से ...

---

१. धातुनोक्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते—वाक्यपदीय। धातुना उक्तक्रिये कर्तृता नित्यमिष्यते इति हरिपद्ययोजना–परमलघुमन्जूषायाः सदाशिवशास्त्रिकृत दीपिका, पृ० ६२, चौखम्बा संस्करण।

२. अयन्च त्रिविधः—शुद्धः, प्रयोजको हेतुः, कर्मकर्ता च—दर्पणटीका सहित वैयाकरण भूषणसार, चौखम्बा संस्करण, पृ० १५४

कर्त्ता, और कर्म कर्त्ता वह कर्त्ता है जिसकी 'गतिबुद्धि' इत्यादि (१-४-५२) सूत्र से कर्मसंज्ञा की जाती है। क्रमशः उदाहरण—'मया हरिः सेव्यते', 'कार्य्यते हरिणा', 'गमयति कृष्णं गोकुलम्'।

५६० साधकतमं करणम् (१-४-४२)

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं कारकं करणसंज्ञं स्यात्। तमब्ग्रहणं किम्? गङ्गायां घोषः।

अनुवाद तथा विवृति—

सबसे उत्कृष्ट साधक करण है।

क्रियासिद्धौ इत्यादि—क्रिया की सिद्धि अर्थात् फलनिष्पत्ति में सबसे उत्कृष्ट उपकारक जो कारक वह करणसंज्ञक हो। सूत्र में 'साधकतमम्' ऐसा क्यों कहा गया है? उत्तर, गंगा तट पर घोष अर्थात् आहीर का गाँव (बसा हुआ है)। तमब्ग्रहणं किम् इस प्रश्नका तथा 'गंगायां घोषः' इस उत्तर का तात्पर्य्य यह है—इस सूत्र में 'कारके' (१-४-२३) सूत्र का अधिकार रहने से 'साधकतमम् करणम्' ऐसा सूत्र न करने पर भी 'तमप्' प्रत्यय का जो अतिशय रूप अर्थ है उसका बोध हो जाता है। कारण यह है कि 'साधक' और 'कारक' शब्द पर्य्याय शब्द अर्थात् एकार्थवाचक होने के नाते 'साधकम्' 'कारकम्' इन दोनों समानार्थक पदों का सहोच्चारण से ही प्रकर्ष या अतिशय रूप अर्थ का बोध हो जाता है। अथवा 'करणाधिकरणयोश्च' (३-३-११७) इस सूत्र से करणार्थक ल्युट् प्रत्ययनिष्पन्न 'करण' इस महासंज्ञा के सामर्थ्य से ही क्रिया का असाधारण कारण रूप करण का बोध हो जाता है। इस स्थिति में अतिशय या उतकर्ष वाचक 'तमप्' प्रत्ययान्त' 'साधकतमम्' इस पद का ग्रहण सूत्र में क्यों किया गया है? यही 'तमव्ग्रहणं किम्'—इस प्रश्न का अभिप्राय है। यहाँ पर भी 'तमव्ग्रहणम्' शब्द का 'तमपः ग्रहणं यत्र', इस प्रकार विग्रह वाक्य से बहुव्रीहि समास करने पर 'साधकतमम्' यह सम्पूर्णपद प्राप्त होता है। अतएव यह भी 'तमप्'

प्रत्यय रूप अवयव के द्वारा' साधकतम' रूप 'तमप्' प्रत्ययान्त समुदाय विष
प्रश्न है।

इसके उत्तर में 'गंगायां घोषः' यह वाक्य कहा गया है। इस वाक्
स्थित 'गंगायाम्' पद का 'गंगातीरे' ऐसा अर्थ है। यह लाक्षणिक अर्थ
अगर कारक प्रकरण में शब्द सामर्थ्यगम्य प्रकर्ष का ही ग्रहण किया
तो अधिकरण कारक के स्थल में अधिकरण वाच्य में ल्युट्प्रत्ययान्त 'अधि
करण' इस महासंज्ञा से सर्वावयव व्याप्त करके रहने के स्थल में जो मुख्य आ
होता है वही अधिकरण[1] होगा और उसी में अधिकरणे सप्तमी का प्र
होगा। तब केवल 'तिलेषु तैलम्'–तिलों में तैल है, 'दधनि सर्पिः'–दही में घ
इस प्रकार मुख्य आधार में ही सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होने से 'गंगा
घोषः'—गंगातट पर आहीर का गाँव है—ऐसे गौण आधार के स्थल
अधिकरणे सप्तमी का प्रयोग नहीं हो सकती।

अब 'साधकतम करणम्' इस करण संज्ञा विधायक सूत्र में 'तमप्' प्र
का ग्रहण करने से कारक प्रकरण में गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति इस क
विधायक सूत्र को छोड़कर अन्य स्थलों में नहीं होती है,[2] यह सूचित
गया है। अतः अधिकरणे सप्तमी के प्रयोग के स्थल पर गौण मुख्य न
के अनुसार केवल मुख्य आधार में ही अधिकरणे सप्तमी का प्रयोग न क
'गंगायां घोषः' इत्यादि गौण आधार के स्थल में भी अधिकरणे सप्तमी
प्रयोग हो सका। 'तमप्' ग्रहण करके ऐसा सूचित न करने पर 'गंगायां घ
आदि गौण आधार में सप्तमी प्रयोग नहीं हो सकता था, यह अभिप्राय

१। 'अधिकरण' मित्यधिकरणल्युडन्तमहासंज्ञयैव सिद्धे 'आधार' ग्रहणसा
सर्वावयवव्याप्त्या यः आधारः सोऽधिकरमित्यर्थः स्यात, एवन्चेदं सूत्रं
तैलम्' इत्यादावेव प्रवर्त्तेत, नहि गङ्गा तीरं वा सर्वावयवै 'र्व्याप्तम्'—लघुश
शेखर, पृ० ७०४, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

२। 'कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्याय एतत्सूत्रादन्यत्र न प्रवर्त्तते इति
तमब्ग्रहणम्'—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६३५, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण।

कारक प्रकरण में शब्द सामर्थ्य से गम्यमान प्रकर्ष' नहीं लिया जाता है'— यह तमप् ग्रहण से मालूम होता है।

गौणमुख्यन्याय का अर्थ यह है कि जहाँ गौण और मुख्य या प्रधान— इन दोनों का एकत्र समावेश होता है वहाँ मुख्य को लेकर ही काम किया जाता है। "गौणमुख्ययोः एकत्र समावेशे मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः"—इस रूप में गौण मुख्य न्याय का उल्लेख किया जाता है।

कर्त्ता के द्वारा क्रिया जन्य फल की उत्पत्ति के समय जो सहाय होता है वह उपकारक कहलाता है। सूत्रस्थित 'साधकतमम्' शब्दान्तर्गत' साधक' शब्द का यह तात्पर्य्य है। अतिशय प्राप्त 'साधक' को साधकतम कहा जाता है, अर्थात् अतिशयित साधक ही साधकतम है। जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया जन्य फल की सिद्धि होती है वह प्रकृष्ट है। कर्त्ता के व्यापार के अधीन जिसके व्यापार के अनन्तर क्रियाजन्य फल की निष्पत्ति होती है वह उस फल के लिये करण होता है, यही तात्पर्य्य है[२]।

भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में कहा है—

[३]"क्रियायाः [४]परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनतरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥

---

१. तमब्ग्रहणेन शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते—इति ज्ञाप्यते इति गौणाधारस्यापि अधिकरणसंज्ञा सिद्धयति—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७०५। गुरु प्रसाद शास्त्री संस्करण।

२. कर्त्रा क्रियायां जनयितव्यायां यत् सहायभूतं तदुपकारकमित्युच्यते।............ यद्व्यापारानन्तरं क्रियानिष्पत्तिस्तत् प्रकृष्टम्। कर्तृव्यापाराधीनयद्व्यापाराव्यवहिता क्रियानिष्पत्तिस्तत् तस्यां करणमितियावत्—बालमनोरमा, पृ० ६३३, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण; यद्व्यापारानन्तरं फलनिष्पत्तिस्तत् प्रकृष्टम्— तत्त्वबोधिनी, पृ० ६३३ म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. अत्र क्रियापदम् फलपरम्—भूषणसार की दर्पण टीका, पृ० १५६, चौखम्बा संस्करण।

४. क्रियायाः फलनिष्पत्तिरिति पाठान्तरम्। अत्र क्रियापदं साध्यत्वेन प्रतीयमानधात्वर्थपरम्—सदाशिवशास्त्रिकृत—परमलघुमञ्जूषा टीका पृ० २०१, चौखम्बा संस्करण।

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ।।

—क्रियाजन्य फल की निष्पत्ति जिसके व्यापार के अनन्तर है और प्रकार विवक्षा जिस समय और जहाँ पर की जाती है वही उस समय करण करके स्मृत होता है।

वस्तु विशेष में वह करणत्व निर्देश योग्य नहीं है, अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि करणत्व सदैव किसी पदार्थ में निश्चित रूप से रहेगा, यानी कोई पदार्थ सदैव करण ही रहेगा। वह करणत्व किसी वस्तु में व्यवस्थित नहीं है, क्योंकि 'स्थाल्या पच्यते'—बरतन से पकाया जाता है, इस प्रकार की विवक्षा भी पायी जाती है।

'वस्तुतस्तदनिर्देश्यम्—' इत्यादिश्लोक का तातपर्य यह है कि कारकत्व तथा उस कारकत्व का व्याप्य कर्त्तृत्वादि छः धर्म किसी वस्तु विशेष में नियत नहीं हैं, किन्तु विवक्षाधीन हैं। जैसे कि कोई गाय सभी मनुष्य के लिये गाय है, किसी के लिये गाय नहीं है ऐसी बात नहीं, उसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि विशेषण सब के लिये विशेषण ही है। ऐसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि जो करण है वह हमेशा के लिये करण ही है। परन्तु वह विवक्षाधीन है[1]।

५६१। कर्तृकरणयोस्तृतीया (२-३-१८)

अनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा १४६६)। प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनैति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि।

---

१. 'कारकत्वं तद्व्याप्यकर्त्तृत्वादिषट्कं च वस्तुविशेषे विशेषणविशेष्यभाववन्न नियतं, किन्तु वैवचिकम्। नहि 'गौः सर्वं प्रति गौरेव नतु कञ्चित् प्रति अगौः' इति विशेषणं सर्वं प्रति विशेषणमेवेति वक्तुं शक्यम्—इत्यादि', बालमनोरमा, ६३३-३४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति हो। अनभिहित यानी अनुक्त कर्त्ता और अनुक्त करण में तृतीया विभक्ति हो। 'रामेण बाणेन हतो वाली'—राम के द्वारा बाण से वाली मारा गया। इस उदाहरण में 'हतः' शब्द हन् धातु के साथ कर्मवाच्य में विहित 'क्त' प्रत्यय जोड़ने से बना है। यहाँ 'क्त' प्रत्यय कर्मवाच्य में विहित होने से उस का कर्म अर्थ है। 'क्त' प्रत्यय के द्वारा कर्म अभिहित यानी उक्त हुआ है, कर्त्ता या करण नहीं। अतः कर्त्ता और करण अनभिहित होने से उन में 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र से तृतीया विभक्ति हुई है।

प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति का प्रयोग करना चाहिये। प्रकृति शब्द का स्वभाव[1] यानी यावदाश्रयभावी धर्मविशेष[2] अर्थ है। 'प्रकृत्या चारुः' इस वाक्य का अर्थ है स्वभावसम्बन्धिचारुत्ववान् अथवा यावदाश्रयभाविधर्मविशेषसम्बन्धिचारुत्ववान्। चारुशब्द का अर्थ अभिरूप या सुन्दर। यावदाश्रयभावी धर्म से वह धर्म समझना जो उसका आश्रय जब तक रहता है तब तक ही रहता है। प्रकृति आदि शब्द में जो तृतीया विभक्ति होती है वह उपपदविभक्ति है। 'शिवाय नमः' इत्यादि वाक्य में 'नमः' शब्द के योग से चतुर्थी विभक्ति होती है वह भी उपपद विभक्ति ही है। परन्तु 'प्रकृत्या चारुः, और 'शिवाय नमः' ये दो उपपद विभक्तिओं के प्रयोग के स्थल में विभक्ति किस शब्द के साथ लगती है, यह देखना। 'प्रकृत्या चारुः' इस वाक्य में 'प्रकृति' शब्द से ही तृतीया विभक्ति हुई है और 'शिवाय नमः' इस वाक्य में 'नमः' शब्द के योग से 'नमः' से भिन्न नमस्कार का उद्देश्यवाचक 'शिव' शब्द से चतुर्थी विभक्ति आयी है।

१। प्रकृतिः स्वभावः—बालमनोरमा, पृ० ६३६, मोतीलाल बनारसीदास संस्करण

२। प्रकृतिर्यावदाश्रयभावी धर्मविशेषः—म० म० पण्डित दाधिमथ शिवदत्तकृत टिप्पनी, सि० कौ०, पृ० १७३, वेङ्कटेश्वर प्रेस संस्करण।

महाभाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार "प्रकृत्या चारु." इत्यादि मे
में स्थित 'प्रकृति' आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति गम्यमान क्रिया के
करणत्व प्रयुक्त[1] है। 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' यह वार्त्तिक कि
शब्दों में इस प्रकार तृतीया विभक्ति होती है इसका प्रपञ्च[2] या वि
पूर्वक कथन के लिये है।

दूसरे पद के योग से होनेवाली विभक्ति को उपपद विभक्ति कही
है।[3] प्रकृति आदि शब्दों से जो तृतीया विभक्ति लगायी गयी है व
दूसरे पद के योग से हुई है।

वह दूसरा पद 'चारुः' यह पद है। जहाँ उपपद परिगणित है
उपपदों का उल्लेख किया गया है, जैसे 'नमः स्वस्तिस्वाहा स्वधालंवषड्
च्च' इत्यादि वार्त्तिक में देखा जाता है। और जहाँ उपपद परिग
हैं वहाँ उपपदों का उल्लेख न करके उपपद विभक्ति के प्रकृति भुत श
उल्लेख भी किया जाता है। जैसे 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्ति
में देखा जाता है। 'प्रायेण याज्ञिकः'—इस वाक्य में स्थित 'प्राय'
अर्थ है 'बहुल'। पूरे वाक्य का अर्थ है वहुलाचारसम्बन्धियाज्ञिकत्ववा

'गोत्रेण गार्ग्यः'—गार्ग्य इसका गोत्र है। 'समेनैति'—समान
गमन करता है अर्थात् सीधा जाता है। विषमेनैति'—विषमरूप
करता है अर्थात् टेढ़ा मेढ़ा जाता है। 'द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति'—
धान खरीदता है। 'द्रोण' एक प्रकार प्राचीन तौल का नाम है।
दुःखेन वा याति'—सुख से या दुःख से जाता है।

१। यदा तु स्वभावेनैवायमभिरूपः नतु अलङ्कारादिनेति करणान्तरव्युदास
करणत्वं विवक्ष्यते तदा 'कर्त्तृकरणयो' रित्येव सिद्धमिति भाष्यम्—
पृ० ६३६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२। वार्त्तिकमिदं प्रपञ्चार्थम्—वरवर्णिनीटीका, पृ० ७०६, लघुशब्देन्दु
प्रसादशास्त्री संस्करण

३। पदान्तरयोगनिमित्तिका विभक्तिः उपपद विभक्ति बालमनोरमा, पृ०
लाल बनारसीदास संस्करण।

५६२ दिवः कर्म च (१-४-४३)

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात् करणसंज्ञम् ।

अनुवाद तथा विवृति—

दिव्धात्वर्थ के प्रति साधकतम कारक कर्मसंज्ञक हो । (सूत्र में स्थित समुच्चायक) 'च' कार से करणसंज्ञक भी हो ।

'अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति'—पासों से या पासों को खेलता है ।

यहाँ पासा दिव्धात्वर्थ जुआ के खेल के प्रति करण कारक है । विकल्प से उसमें करण कारक की तृतीया विभक्ति तथा कर्मकारक की द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है ।

५६३ अपवर्गे तृतीया (२-३-६)

अपवर्गः फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः ।

अनुवाद तथा विवृति—

अपवर्ग अर्थ में तृतीया हो ।

अपवर्ग का अर्थ है 'फलप्राप्ति' । जब वह फलप्राप्ति द्योतित होती है तब कालवाचक और अध्ववाचक शब्दों से अत्यन्तसंयोग अर्थ में तृतीया हो ।

'अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः'—एक दिन या एक कोस में अनुवाक पढ़ा गया । अर्थात् समूचे दिन भर अध्ययन कर के या पूरे एक कोस पथ चलते चलते अनुनाक पढ़ा गया और पढ़ने का जो फल है, ज्ञान को प्राप्त करना, वह भी कर लिया गया । वेद के अंशविशेष को अनुवाक कहा जाता है । पहले जो 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (२-३-५) सूत्र से द्वितीया विभक्ति कही गयी थी उसका यह सूत्र बाधक है ।

'अपवर्ग' अर्थात् फल प्राप्ति होने से, ऐसा क्यों कहा गया है? 'मासम् अधीतो नायातः'—महीने भर पढ़ा गया, परन्तु आया नहीं। अध्ययन का फल, जो कि ज्ञान है, वह नहीं मिला। यहाँ 'मासम् इतना ही प्रत्युदाहरण है। 'न आयातः' अंश उसके स्पष्टीकरण के लि

५६४ सहयुक्तेऽप्रधाने (२–३–१९)

सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकंसार्द्धसमंयोगेऽपि। विनाऽपि तद्योगं तृतीया 'वृद्धो यूना—इत्यादिनिर्दे

अनुवाद तथा विवृति —

सहार्थक शब्द के योग से अप्रधान में तृतीया हो। 'पुत्रेण स पिता'—पुत्र के साथ पिता आया है। ऐसे साकम् शब्द, सार्द्धम् शब्द, शब्द के साथ योग होने पर भी (तृतीया हो)। सहार्थक शब्द के योग न होने पर भी सहार्थ साहित्य का बोध होने पर तृतीया होती है। पाणिनि ने 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' (१–२–६५) इस 'यूना सह' इस तात्पर्य में केवल 'यूना' ऐसा ही कहा है। अत तरह के निर्देश से यह प्रतीत होता है कि सहार्थक शब्द के साथ होने पर भी सहार्थ-साहित्य का बोध होने पर अप्रधान में तृतीया होती

सूत्र में जो 'अप्रधान' शब्द है उससे प्रतीयमान अप्राधान्य व्यवहार से नहीं समझना, बल्कि शब्द सुनकर जो शाब्दबोध होता है उस के आधार पर ही समझना चाहिये। जैसे 'पुत्रेण सह आगतः इस वाक्य में आगमन क्रिया के साथ पिता का सम्बन्ध शब्दोपात्त है। 'आगतः' शब्द में जो 'क्त' प्रत्यय है वह कर्तृवाच्य में होने से कर्ता कराता है। आगमन क्रिया के साथ उस क्रिया के कर्त्ता का जो वह शब्द से प्रतीयमान होता है, वह 'शाब्द' या शब्द श्रवणगम्य है का आगमन क्रिया के साथ सम्बन्ध 'आर्थ' या अर्थ विचार करने से प्रतीयमान होता है। क्योंकि यदि पुत्र के साथ पिता आता है तो

क्रिया का साक्षात् सम्वन्ध शब्द सुनने पर मालूम होने पर भी चूंकि पुत्र भी पिता के साथ आता है इसलिये उसका भी अवश्य आगमन क्रिया के साथ सम्बन्ध है, यह बाद में अर्थ पर्य्यालोचना करने पर प्रतीत होता है। इसी 'शाब्द' और 'आर्थ' आगमन क्रिया के साथ सम्वन्ध को लेकर प्राधान्य और अप्राधान्य समझना चाहिये।[१] शाब्दबोध का विषय गुण आदि का अन्वयित्व ही प्रावान्य है, और उक्त गणाद्यन्वयित्व का अभाव ही अप्राधान्य है।

'सहेन अप्रधाने' ऐसा सूत्र न कहकर 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस प्रकार सूत्र बनाने का फल पहले ही बताया गया है कि केवल 'सह' शब्द के योग से ही अप्रधान में तृतीया नहीं होती है, बल्कि सहार्थक[२] अन्य शब्द, जैसे साकम्, सार्द्धम्, समम् इत्यादि के योग से भी अप्रधान में तृतीया होगी।

५६५ येनाङ्गविकारः (२-३-२०)

येनाङ्गेन विकृतेन अङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्वन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अङ्गविकारः किम् ? अक्षि काणम् अस्य।

अनुवाद तथा विवृति—

जिस से अङ्गी का विकार है उससे तृतीया हो। जिस अङ्ग के विकृत होने से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस से अर्थात् उस के वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति हो।

१। पितुरेवागमनक्रियासम्वन्धः शाब्दः पुत्रस्य तु आर्थ इत्येतावतैव तस्याप्राधान्य मुच्यते--तत्त्वबोधिनी. पृ० ६३८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। पितुरागमक्रियासम्वन्धः शाब्दः, पुत्रस्य तु तत्साहित्यगम्यः आर्थिक इति तस्याप्राधान्यम्—वालमनोरमा पृ० ६३६। पूर्वोक्तप्रधानत्वं शाब्द गुणाद्यन्वयित्वम् अप्रधानत्वञ्च शाब्दगुणाद्यन्वयित्वाभाववत्त्वम्, वरवर्णिनी टीका, लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७०७, गुरु प्र० शास्त्री संस्करण।

२। सहेनाप्रधान इत्येव वाच्ये युक्तग्रहणादर्थग्रहणम्--तत्त्वबोधिनी, पृ० ६३९, 'पृथग्विनानानाभि' रितिवत्' 'सहेने'त्येवसिद्धे युक्तग्रहणं सहार्थकान्यशब्द-योगेऽपि भवत्वित्यर्थम्, लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७७, गुरु प्र० शास्त्री संस्करण

'अक्ष्णा काणः'—आँख से काना। आँख के साथ सम्बन्धित जो काणत्व या कानापन उस के द्वारा विशेषित—यह अर्थ है।

सूत्र में अङ्गी का विकार—ऐसा क्यों कहा गया है? उत्तर, 'अक्षि काणम् अस्य'—इस की आँख कानी है। इस प्रत्युदाहरण में शरीर का अङ्ग आँख के विकृत होने से अङ्गी शरीर का विकार लक्षित न होकर अङ्ग का ही विकार समझा जाता है, इस लिये यहाँ 'अक्षि' शब्द से तृतीया विभक्ति नहीं हुई।

सूत्रस्थ 'अङ्ग' शब्द 'अङ्गानि अस्य सन्ति'—इस के अङ्ग हैं—इस अर्थ में 'अङ्ग' शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच्' (५-२-१२६)—इस सूत्र से मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय लगाकर बना है। इस 'अङ्ग' शब्द का इस तरह 'अङ्गी' अर्थात् शरीर अर्थ होता[1] है। अङ्ग या शरीर का अवयव अर्थात् विकृत होने से शरीर को विकृत कहे जाने से उस शरीर के द्वारा अवच्छिन्न या उपहित आत्मा को भी विकृत कहना अनादिकाल से प्रचलित[2] है।

५६६ इत्थम्भूतलक्षणे। (२-३-२१)

कञ्चित् प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्।

जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृति—

किसी प्रकार विशेष को प्राप्त का लक्षण अर्थात् ज्ञापक से तृतीया विभक्ति हो।

---

१. अङ्गानि अस्य सन्तीत्यङ्गं शरीरम्। अर्श आद्यच्। तस्य विकार इति। बालमनोरमा पृ० ६३८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अवयवधर्मस्य समुदाये आरोपात् शरीरे तदवच्छिन्ने च व्यवहारो... लघुशब्देन्दु पृ० ७०८ गुरु प्रसाद शास्त्री संस्करण। अवयवधर्मस्य शरीरे तदवच्छिन्नात्मनि व्यवहारो निरूढः—बालमनोरमा पूर्वोक्त संस्करण।

'जटाभिः तापसः'—जटा से ज्ञाप्य जो तापसत्व उसके द्वारा विशेषित—यह अर्थ है।

सूत्र में जो 'इत्थम्' शब्द है वह 'अयं प्रकारः'—यह प्रकार—इस अर्थ का बोधक है, और प्राप्त्यर्थक चुरादिगणीय 'भू' धातु से कर्तृवाच्य में 'क्त' प्रत्यय लगाकर 'भूत' शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'प्राप्त'। लक्षण का अर्थ है ज्ञापक। 'भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्व' ही प्रकारत्व है। उस प्रकारत्व से विशेषित को 'प्रकार' कहा जाता है। अर्थात् भासमान यानी ज्ञान का विषयीभूत जो वैशिष्ट्य या सम्बन्ध उसका जो प्रतियोगी है, वही 'प्रकार' कहलाता है। जिसका सम्बन्ध वही सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, जैसे 'घटत्व' का समवाय सम्बन्ध घट में है तो 'घटत्व' उस समवाय सम्बन्ध का प्रतियोगी है। वह घटत्व घट का प्रकार कहलाता है। उसी प्रकार तापसत्व तापस का 'प्रकार' है। उस तापसत्वरूप 'प्रकार' को तापस ने प्राप्त किया है, और उस तापस का ज्ञापक है 'जटा'। इसलिये उसके वाचक जटा शब्द से तृतीया विभक्ति लगायी गयी है।

इस सूत्र की व्याख्या प्रसङ्ग में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जहाँ 'इत्थम्भूत' का लक्षणवाचक से पृथक् उपस्थिति, अर्थात् जहाँ 'इत्थम्भूत' की उपस्थिति लक्षणवाचक पद से प्रयुक्त न हो[1], वहीं 'इत्थम्भूतलक्षणे' सूत्र से तृतीया होगी। इसलिये 'कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीत्' इस वाक्य में कमण्डलु शब्द से तृतीया नहीं होगी[2]। कमण्डलु भी छात्र का लक्षण या ज्ञापक है। 'अनुर्लक्षणे' (१–४–९४) इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है 'सकृदसौ कमण्डलुपाणिं छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव

१। लक्षणवाचकपदाप्रयोज्या यत्र इत्थम्भूतस्योपस्थितिः—तरंगिणी पृ० ७१०. लघुशब्देन्दु०, गु० प्र० शास्त्री संस्करण

२. इत्थम्भूतस्य यत्र लक्षणवाचकात् पृथगुपस्थितिरेव तत्रैवानेन तृतीया तेन कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीदित्यादौ कमण्डलुपदान्न तृतीया—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१०, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

लक्षणम्'। लक्षण या ज्ञापक समास के अन्तर्गत होने पर उसके वाचक
से तृतीया विभक्ति नहीं होती है, काशिका वृत्ति में भी इस सूत्र की व्या
प्रसङ्ग में यह बात कही गयी है।

५६७ संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि। (२–३–२२)

संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा संजानी

अनुवाद तथा विवृति।

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' धातु के कर्मकारक में विकल्प से तृ
विभक्ति हो।

उदाहरण, "पित्रा पितरं वा संजानीते"—पिता को भली
जानता है।

इस उदाहरण में 'संजानीते'—इस क्रिया पद में 'संप्रतिभ्यामनाध्या'
(१–३–४६) सूत्र से आत्मनेपद हुआ है। 'आध्यान' का अर्थ उत्कण्ठा
पूर्वक स्मरण। उत्कण्ठा पूर्वक स्मरण से भिन्न अर्थ में 'सम्' पूर्वक
धातु आत्मनेपदी होता है। जब आध्यान रूप अर्थ हो तब 'पित्रा पितरं
संज्ञानाति'—पिता को उत्कण्ठापूर्वक याद करता है—ऐसा 'संजाना
परमैस्पद का प्रयोग होगा।

५६८ हेतौ। (२–३–२३)

हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वं
करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन
हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। 'गम्यमानाऽपि क्रिया
विभक्तौ प्रयोजिका'। अलं श्रमेण। श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह सा
क्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः। शतेन परि
द्यंत्यर्थः। 'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' (वा ५०४०)
दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति।

अनुवाद तथा विवृति—

हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति हो। हेतुत्व द्रव्य आदि अर्थात् द्रव्य, गुण या क्रिया के लिये साधारण यानी द्रव्य, गुण तथा क्रियारूप जो कार्य हैं, न कार्यों के कारणों में वर्त्तमान है, तथा व्यापाररहित और व्यापारसहित ारणों में वर्त्तमान रहता है परन्तु करणत्व केवल क्रियात्मक कार्य्यं के कारण वर्त्तमान है, तथा केवल व्यापारवान् कारण में ही वर्त्तमान रहता है।

कहने का मतलब यह है कि हेतु और करण दोनों ही कारण हैं। 'हेतौ' त्र में हेतु शब्द लौकिक कारणवाचक है, 'तत् प्रयोजको हेतुश्च' (१-४-५४) स सूत्रोक्त 'हेतु' नहीं है। कारण, उस सूत्र में जो 'च' शब्द है उससे कर्त्तृ ज्ञा का भी लाभ होने से 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' (२-३-१८) सूत्र से ही र्त्तृ कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त होने से 'हेतौ' सूत्र व्यर्थ हो जाता[1] है। 'हेतौ' सूत्र व्यर्थ होकर यह मालूम कराता है कि इस शास्त्र में 'हेतु' और करण' में कुछ अन्तर है।

अन्तर यह है कि हेतु द्रव्य, गुण या क्रिया का जनक है और उसके साथ ापार हो भी सकता है, न भी हो सकता है। करण तो केवल क्रिया के नक को कहा जाता है और उसके साथ व्यापार अवश्य ही रहता । अतएव व्याकरण सिद्धान्तानुसार हेतुत्वशक्ति और करणत्व शक्ति स्पर भिन्न[1] है। शक्ति शब्द का कारक अर्थ है। भर्त्तृहरि ने भी वाक्यपदीय कहा है :—

१। हेतुरिह कारणपर्यायो लौकिक एव विवक्षितः, न तु 'तत्प्रयोजको हेतुश्च त्र कृत्रिमः। तस्य चकारेण कर्त्तृसंज्ञाया अपि सत्त्वेन कर्त्तृतृतीययैव सिद्धेः—बाल रमा, पृ० ६४०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

हेतुरिह लौकिकः, फल साधनीभूतो गृह्यते न तु 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इति कृत्रिमः' चकारेण कर्त्तृसञ्ज्ञाविधानात कर्त्तृत्वादेव तृतीयासिद्धेः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४० म० गि० श० संस्करण।

हेतुरिह कारणम्, न शास्त्रीयः, तस्य कर्त्तृसंज्ञाया अपि सत्त्वेन कर्त्तृतृतीययैव द्धेः—लघुशब्देन्दु पृ० ७१३, [illegible]

'द्रव्यादिविषयो हेतुः कारकं नियतक्रियम्।
अनाश्रिते तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते॥'

अर्थात् हेतु द्रव्यादि विषयक है यानी द्रव्य, गुण और क्रिया का जनक। करण कारक नियमित रूप से क्रिया विषयक है यानी क्रिया का जनक। व्यापार न रहने पर कारण हेतु के रूप से इष्ट होता है।

द्रव्यरूप कार्य्य के स्थल में हेतु के उदाहरण के लिये 'द घटः' –दण्डहेतुक घट अर्थात् दण्ड घट का हेतु है, यह वाक्य कहा है। इस उदाहरण में दण्ड से घट उत्पन्न होने में दण्ड के साथ व्या रहने पर भी घट क्रिया न होने के कारण उसका जनक दण्ड को 'क न कहकर 'हेतु' कहा जाता है। इसी प्रकार क्रियात्मक कार्य्य के स्थल में का उदाहरण 'पुण्येन दृष्टो हरिः'—पुण्य के कारण (भगवान्) हरि गये। यहाँ पर पुण्य शब्द से परमापूर्व समझा गया अर्थात् जिस पु अव्यवहित उत्तर काल में हरि का दर्शन होता है वही पुण्य यहाँ पुण्य से विवक्षित है। तब इस उदाहरण में हरि का दर्शन रूप जो क्रिया, क्रिया का जनक होने पर भी पुण्य और हरि दर्शन के बीच में कोई व न रहने से पुण्य को हरि दर्शन का हेतु माना गया है,[2] क्रिया का जनक पर भी करण नहीं।

गुणात्मक कार्य्य के स्थल में हेतु का उदाहरण 'पुण्येन ब्रह्मवर्चस पुण्य से ब्रह्मतेज या 'पुण्येन गौरवर्णः'—पुण्य से गौरवर्ण।

इस 'हेतौ' सूत्र के उदाहरण में फल या कार्य्य भी हेतु के रूप में क्षित होता है। उदाहरण, 'अध्ययनेन वसति'—अध्ययन के लिये वास है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि गुरुगृह में वास करने से उस वा

१। एवञ्च करणत्वशक्तेर्भिन्नैव हेतुत्वशक्तिरत्र तृतीयार्थ इति तात्पर्य्यम्—लघु शेखर, पृ० ७१२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२। पुण्यशब्देनेह परमापूर्वमुच्यते, तस्य हरिदर्शनरूपक्रियान्वयित्वसम्भवेऽपि करणत्वमिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४२ म० म० गिरिधर शर्मा सं

फलस्वरूप अध्ययन होता है। परन्तु इस अध्ययन रूप फल को ही वास के हेतु के रूप में विवक्षा करणे पर 'हेतौ' सूत्र के अनुसार उस फलवाचक अध्ययन शब्द से तृतीया विभक्ति लगायी गयी है। शब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्ट जी का कहना है कि अध्ययन रूप फल अपने ज्ञान के द्वारा वास का हेतु होता[1] है—ऐसा कहा जा सकता है।

बालमनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित ने इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा है कि अध्ययन यद्यपि वास का फल है फिर भी वह वास के लिये हेतु भी होता है। कारण यह है कि इष्ट साधनता ज्ञान अर्थात् 'इदं मदिष्टसाधनम्' इस आकार का निश्चयात्मक ज्ञान प्रवृत्ति का कारण होता है। अतएव अध्ययन रूप फल अपने ज्ञान के द्वारा वास का जनक[2] होता है। दीक्षित जी के इस प्रकार कथन का अभिप्राय यह मालूम पड़ता है कि अध्ययन रूप फल, जो कि इष्ट है, उसका साधन है गुरुगृह वास। अतएव गुरुगृह वास की प्रवृत्ति के लिए ही 'वास अध्ययन रूप इष्ट का साधन है' यह ज्ञान कारण होता है, न कि वास का ही कारण। फिर भी वास की प्रवृत्ति के हेतु को ही वास के हेतु के रूप से विवक्षा करके 'अध्ययनेन वसति' ऐसा प्रयोग किया गया है।

'अलं श्रमेण'—श्रम से (कुछ) साध्य नहीं है—इस उदाहरण में कोई क्रियावाचक पद न रहने पर क्रिया का बोध न होने से श्रम करण कैसे हो सकता है इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि केवल श्रूयमाण क्रिया ही विभक्ति का प्रयोजक नहीं है बल्कि गम्यमान क्रिया भी विभक्ति का प्रयोजक होता है। गम्यमान का तात्पर्य 'श्रमेण' इत्यादि पदजन्य शाब्दबोध

१। क्वचित् फलमपि हेतुत्वेन विवक्ष्यते इत्यर्थः, तस्यापि स्वज्ञानद्वारा जनकत्वात्—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२। अध्ययनं यद्यपि वासफलं तथापि वासं प्रति हेतुरपि भवति। इष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवृत्तिहेतुतया अध्ययनस्य फलस्य स्वज्ञानद्वारा वासजनकत्वात्—बालमनोरमा, पृ० ६४०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

का विषय। श्रूयमाण का तात्पर्य है उच्चार्य्यमाण क्रियावाचक पदजन्य शब्दबोध का विषय[१]।

तब 'अलंश्रमेण'—इस वाक्य का अर्थ हुआ श्रम से (कुछ) साध्य नहीं है। इस उदाहरण में अध्याहृत 'साध्य' शब्द का प्रकृतिभूत जो 'साध्' धातु है उसका अर्थ जो साधनरूप अर्थात् उत्पत्तिरूप क्रिया है उसी के लिये श्रम करण[२] है। अतएव 'श्रम' शब्द में करणत्व प्रयुक्त तृतीया विभक्ति हुई है।

क्रिया गम्यमान होने पर भी कारकविभक्ति का प्रयोजक होती है इसका दूसरा उदाहरण 'शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः'—सौ सौ करके बछड़ों को (अलग करके) पानी पिलाता है।

इस उदाहरण में 'नित्यवीप्सयोः' (८–१–४) इस सूत्रानुसार 'शत' शब्द में द्विरुक्ति हुई है। 'शतेनशतेन' इस प्रकार दुहराये गये 'शत' शब्द घटित वाक्य से सौ सौ संख्या से परिच्छेद करके बछड़ों को पानी पिलाता है, यह अर्थ समझा जाता है। इस स्थल में 'परिच्छेद' क्रिया के प्रति शत करण है।

अशिष्टव्यवहारे इत्यादि वार्त्तिक का अभिप्राय यह है कि वैदिक मार्ग के जो अनुयायी न हों अर्थात् जिनका आचरण धर्मशास्त्र के विरुद्ध हो, ऐसे व्यक्तियों के व्यवहार में अर्थात् उस व्यवहार के बोधक पद का प्रयोग होनेपर, जिसके सम्बन्ध से व्यवहार को अशिष्ट व्यवहार कहा जाता है तद्वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति के अर्थ में तृतीया[३] विभक्ति हो।

१. न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया विभक्तौ प्रयोजिका, किन्तु गम्यमानाऽपीतिभावः। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
श्रमेणेत्यादिपदजबोधविषयाऽपीत्यर्थः। न तूच्चार्य्यमाणतद्वाचकपदजबोधविषयैवेति भावः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. साध्यमित्यत्र प्रकृतिभूतो यो धातु स्तदर्थं प्रतीति भावः, तत्त्वबोधिनी पृ० ६४२।

३. अशिष्टाणां सङ्कीर्णाचाराणां जो व्यवहारः क्रिया तद्बोधकपदप्रयोगे प्रत्यासत्त्या यत्सम्बन्धेन व्यवहारस्य सङ्कीर्णाचारत्वं तद्वाचकाच्चतुर्थ्यर्थे तृतीयेत्यर्थः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१२–७१३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

उदाहरणार्थं—'दास्या संयच्छते कामुकः'—कामुक व्यक्ति दासी को देता है। उदाहरण में 'कामुकः' इस शब्द से रति के मतलब से दान किया जा रहा है, यह मालूम होता[1] है। दासी में रति धर्मशास्त्र निषिद्ध होने के कारण अशिष्ट व्यवहार[2] माना जाता है।

उदाहरण में जो 'संयच्छते' क्रियापद है, वह 'सम्' उपसर्गपूर्वक भ्वादिगणीय 'दाण' धातु के लट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन का रूप है। 'दाण्' धातु के स्थान में 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिब-जिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः' (७-३-७८) इस सूत्र से 'यच्छ' आदेश हुआ है। फिर 'दाणश्च साचेच्चतुर्थ्यर्थे' (१-३-५५) इस सूत्र से आत्मनेपद हुआ है।

अशिष्ट व्यवहार न होकर धर्म्य या धर्म्म सङ्गत व्यवहार होने पर चतुर्थी विभक्ति ही होती है। यथा 'भार्य्यायै संयच्छति'—पत्नी को देता है।

इति तृतीया विभक्ति।

६९ कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (१-४-३२)

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

अनुवाद तथा विवृति—

कर्म के द्वारा (कर्त्ता) जिसको अभिप्रेत करता है वह सम्प्रदान है।

दान क्रिया के कर्म के द्वारा कर्त्ता जिसको सम्बन्धित करता है या सम्बन्धित करना चाहता है वह कारक सम्प्रदान संज्ञक[3] हो। टि, घु आदि के माफिक घुसंज्ञा न करके 'सम्प्रदान' यह महासंज्ञा करने का अभिप्राय यह है कि यह

---

१. कामुक इत्यनेन रत्यर्थमिति गम्यते—बाल मनोरमा, पृ० ६४२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. दास्यां रतिः धर्मशास्त्रविरुद्धत्वादशिष्टव्यवहार इति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६४२।

३. दानक्रियाकर्मणा कर्त्ता यमभिप्रैति—संबध्नाति संबन्धुमीप्सति (इच्छति ?) वा तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकमित्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

संज्ञा अन्वर्थं[1] है। अर्थात् सम्प्रदान शब्द योगरूढ़ है। इसके प्रकृति तथा प्र[...]
का अर्थ विवेचन करने से इस शब्द का अर्थ कुछ दूर तक मालूम हो[...]
'सम्यक् प्रदीयते अस्मै तत् सम्प्रदानम्[2]'—जिसको पूरी तरह से दिया ज[...]
है, ऐसा देय द्रव्य का उद्देश्य[3] सम्प्रदान संज्ञक होता है। कर्मसंज्ञक [...]
आदि द्रव्य के द्वारा कर्त्ता जिसको अभिप्रेत करता है, अर्थात् जिसको [...]
द्रव्य के भोक्ता के रूप से निश्चय करता है, वह सम्प्रदान[4] है। 'सम्[...]
प्रदीयते अस्मै' अर्थात् पूरी तरह से इसको दिया जाता है, इस प्रकार अर्थ[...]
'सम्प्रदान' इस महासंज्ञा से 'दानस्य', अर्थात् 'दान का' यह अर्थ समझा जा[...]
है। प्रातिपदिक दानशब्द किया न होने से उसका कोई कर्म नहीं हो सक[...]
इसलिये दानशब्द का दा धातु का अर्थ दान क्रिया ऐसा अर्थ करना है[6]। [...]
की व्याख्या में जो 'दानस्य कर्मणा' ऐसा कहा गया है उसमें 'दानस्य'
का अर्थ है दा धातु के अर्थ का[7]। वास्तव में दाधातु का अर्थ दानरूप क्रि[...]

१। महासंज्ञाकरणमन्वर्थसंज्ञाविधानार्थम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४२,
म० म० गिरिधर शर्मा सं[...]

२। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३। देयद्रव्योद्देश्यं सम्प्रदानमिति फलितम्—बालमनोरमा,
पृ० ६४२, म० म० गिरिधर शर्मा सं[...]

४। कर्मसंज्ञकेन गवादिद्रव्येण यमभिप्रैति,
शेषित्वेनाध्यवस्यति स सम्प्रदानमित्यर्थः। शेषित्वं भोक्तृत्वम्—बालम[...]
पृ० ६४२, म० म० गिरिधर शर्मा सं[...]

५। सम्प्रदीयतेऽस्मै इत्यर्थक सम्प्रदानमिति
महासंज्ञया दानस्येति लब्धमित्याशयः—वरवर्णिनी टीका, पृ० ७१२,
लघुशब्देन्दुशेखर, गु० प्र० शास्त्री [...]

६। ननु दानेतिप्रातिपदिकस्य क्रियात्वाभावेन 'दानस्य कर्मणेत्यनुपपन्नं[...]
आह दाधात्वर्थस्य, वरवर्णिनी टीका, पृ[...]

७। दानस्येति दा धात्वर्थस्येत्यर्थः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१२, गु० प्र० शास्त्री[...]

सभी प्रकार क्रिया का उपलक्षण है[1]। सूत्र के 'अभिप्रैति' पद का अर्थ है इच्छा करता[2] है, चाहता है। दान क्रिया के या क्रियामात्र के कर्म से कर्त्ता जिसको सम्बद्ध करना चाहता है, वह सम्प्रदान कहलाता है। कर्म के साथ सम्बन्ध स्वत्वादि[3] रूप है। दान का अर्थ है फिर से ग्रहण न करने के मतलब से अपने स्वत्व की निवृत्ति करके दूसरे के स्वत्व की उत्पत्ति का अनुकूल व्यापार।[4]

धोबी को कपड़ा देता है—उस व्याख्या के अनुसार 'रजकस्य वस्त्रं ददाति'—ऐसा ही रजक शब्द से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है, चतुर्थी का नहीं, 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इस प्रयोग में 'दा' धातु का मुख्यार्थ नहीं लिया गया है।

यह उपरोक्त मत वृत्तिकार, के अनुसार[5] है।

भाष्यकार पतञ्जलि के मतानुसार सम्प्रदान संज्ञा की अन्वर्थता में आग्रह नहीं है। 'खडिकोपाध्याय: शिष्याय चपेटां ददाति' बच्चे का शिक्षक शिष्य को थप्पड़ देता है—ऐसा प्रयोग भाष्यकार ने किया है। इस मत के अनुसार 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' यह प्रयोग शेषत्व की विवक्षा में हो सकता[6] है।

१। इदमुपलक्षणं क्रियामात्रस्य—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२। अभिप्रैति—इच्छति, लघुशब्देन्दु, पृ० ७१५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३। कर्मणा सम्बन्धश्च स्वत्वादि रूपः—लघुशब्देन्दु० ७१५, गु० प्र० शास्त्री, संस्करण।

४। दानञ्च अपुनर्ग्रहणाय स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

५। अतएव रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादौ न भवति तत्र हि ददाति र्भाक्तः—एतच्च वृत्तिमतम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४३

६। भाष्यमते तु नान्वर्थतायामाग्रहः खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति' इत्यादि प्रयोगात्। रजकस्य ददातीति प्रयोगस्तु शेषत्वविवक्षायां भविष्यति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४३।

'रजकाय वस्त्रं ददाति'—धोबी को कपड़ा देता है—यह प्रयोग भी ठीक है। इस प्रयोग में दा धातु का अर्थ 'अधीनीकरण' अर्थात् जो चीज नहीं थी उसको अधीन करना। धोबी को कपड़ा देने के पूर्व वह कपड़ा के अधीन नहीं था। बाद में जब धोबी को दिया गया तब वह कपड़ा के अधीन हो गया। अधीन होने का मतलब यह नहीं है कि उस धोबी का स्वत्वरूप सम्बन्ध उत्पन्न हुआ। बल्कि धोबी के घर में समय उस कपड़े की देखभाल और सुरक्षा का उत्तरदायित्व धोबी के आ गया, ऐसा प्रतीत होता है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के मतानुसार यह सम्प्रदान तीन प्रकार का उन्होंने कहा है—

"अनिराकरणात् कर्त्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्।
प्रेरणानुमतिभ्यां च लभते सम्प्रदानताम्॥"

अर्थात् अनिराकरण से यानी अप्रत्याख्यान से, प्रेरणा तथा अनुमति अर्थात् दानविषयक प्रेरणा और दानविषयक अनुमति से, कर्म के द्वारा का ईप्सित त्यागाङ्ग अर्थात् त्याग का निर्वाहक कारक संम्पदान संज्ञा को करता[2] है।

श्लोक के 'अनिराकरणात्' इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि सम्प्रदान कहलायगा वह या तो (१) दानकर्त्ता के दान में प्रवृत्ति या

१। तस्माद् रजकाय वस्त्रं ददातीत्यादि भवत्येव। अत्राधीनीकरणार्थे दद परमलघुमञ्जूषा पृ० १०२, चौखम्बा संस्करण।

रजकाय वस्त्रं ददातीत्यपि खण्डिकोपाध्यायः चपेटां ददातीतिभाष्योदाहरणादि दर्पण सहित वैयाकरणभूषणसारः, पृ० १७३–४, चौखम्बा संस्करण।

२। कर्त्तुः कर्मणा ईप्सितम्, अनिराकरणात = अप्रत्याख्यानात्, प्रेरणानुमति दानविषयकप्रेरणानुमतिभ्याम्, त्यागाङ्ग=त्यागवर्निाहकम्, अर्थात एतादृशसम्प्रदानसंज्ञां लभते इति पद्यार्थः—सदर्पणभूषणसार टिप्नी, पृ० चौखम्बा सं

देने से निवृत्ति के अनुकूल व्यापार रहित होगा, या (२) कोई दानकर्त्ता अगर दान देने में प्रवृत्त न हो तो उसको 'दान मेरा इष्ट साधन है' इस प्रकार दानधर्मिक इष्ट साधनता ज्ञान प्राप्त कराने के लिये अनुकूल शब्द प्रयोगादिरूप व्यापारात्मक प्रेरणा देगा, (३) या दान क्रिया से देय वस्तु में दान ग्रहीता का जो स्वत्वादिरूप फल उत्पन्न होता है उस फल को स्वीकार करने के अनुकूल शब्द प्रयोगादिरूप व्यापारात्मक अनुमति देगा[1]। इस तरह से सम्प्रदान के तीन प्रकार भेद होते हैं।

यथाक्रम उदाहरण (१) सूर्याय अर्घ्यं ददाति—सूर्य को अर्घ्यं देता है, (२) 'विप्राय गां ददाति'—ब्राह्मण को गाय देता है, (३) 'उपाध्यायाय गां ददाति'—अध्यापक को गाय देता है[2]।

इन तीन प्रकार के उदाहरणों में से 'सूर्याय अर्घ्यं ददाति'—इस प्रथम उदाहरण में सम्प्रदानभूत सूर्य किसी दाता को अर्घ्यं देने के लिये न तो प्रवृत्त करता है, न तो उससे निवृत्त ही कराता है। दिये हुए अर्घ्यं का प्रत्याख्यान भी नहीं करता है[3]।

'विप्राय गां ददाति'—इस द्वितीय उदाहरण में विप्ररूप सम्प्रदान गाय देने के लिये दाता को प्रेरित करता है। तथा तृतीय उदाहरण में 'उपाध्या-

---

१। अनिराकरणादिति। प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरानुकूलव्यापारशून्यत्वादित्यर्थः प्रेरणेति। अप्रवृत्तस्य कर्त्तुस्त्यागादाविष्टसाधनताबोधनम्…………कर्मनिष्ठ (जन्य ?) स्वत्वादिफलाभ्युपगममात्रानुकूलव्यापारवत्त्वं वा अनुमतिस्ताभ्यामित्यर्थः—वैयाकरणभूषण सार की दर्पण टीका, पृ० १७६ चौखम्बा संस्करण।

२। सूर्यायार्घ्यं ददातीत्याद्यम्। नात्र सूर्यः प्रार्थयते, नानुमन्यते, न निराकरोति। प्रेरकम्—विप्राय गां ददाति। अनुमन्तृ—उपाध्याय गां ददाति। वै० भूषणसार, पृ० १७६ चौखम्बा संस्करण।

३। सूर्यादीनां प्रेरकत्वानुमन्तृत्वाभावेऽपि निराकर्त्तृत्वाभावात् प्रथमं सम्प्रदानत्वम्—म० म० पण्डितदाधिमथशिवदत्तशास्त्रिकृतटिप्पनी, पृ० १७६, सिद्धान्तकौमुदी, वेङ्कटेश्वर प्रेस संस्करण।

याय गां ददाति'—इस वाक्य में उपाध्यायरूप सम्प्रदान केवल दान
अनुमति देते हैं।

५७० चतुर्थी सम्प्रदाने (२-३-१३)

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दीयतेऽस्मै दानीयो वि
'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' (वा १०८५)। पत्ये शेते।
कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा' (वा १०८६) पशुना रुद्रं यज
पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति हो। 'विप्राय गां ददाति'—ब्राह्
को गाय देता है। सम्प्रदान अनभिहित यानी अनुक्त होने से ही (सम्
कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है)। नहीं तो 'इसको दिया जाता है'-
अर्थ में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३-३-११३) इस सूत्रानुसार सम्प्रदान
में दा धातु के साथ 'अनीयर्' प्रत्यय जोड़कर 'दानीय' पद बनता है।
'अनीयर' प्रत्यय के द्वारा सम्प्रदान अभिहित होने से 'विप्र' में, जो
सम्प्रदान है, 'प्रातिपदिकार्थ'—इत्यादिसूत्र से प्रथमा विभक्ति हुई है,
'चतुर्थी सम्प्रदाने' सूत्र से चतुर्थी।

'क्रियया यमभिप्रैति—'इत्यादि। क्रिया के द्वारा कर्त्ता जिसको सम्ब
करता है, वह भी सम्प्रदान है। अर्थात् क्रिया का उद्देश्य भी सम्प्रदान
को प्राप्त करता है[1]। उदाहरणार्थ—'पत्ये शेते'—पति के उद्देश्य लेट रही

इस उदाहरण में 'शीङ् शयने' इस अकर्मक 'शी' धातु का
किया गया है।

'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इस सूत्र में दान क्रिया के कर्म
जो उद्देश्य है उसी की सम्प्रदान संज्ञा की गयी है। तब अकर्मक क्रि
उद्देश्य को सम्प्रदानसंज्ञा प्राप्त नहीं होगी इसलिये 'क्रियया यमभिप्रैति

१। क्रियोद्देश्यमपि सम्प्रदानमितियावत्—बालमनोरमा, पृ० ६४४, म० म०
शर्मा संस्करण।

इत्यादि वार्त्तिकसूत्र कहा गया है। इस वार्त्तिक में स्थित 'क्रियया' का अर्थ है अकर्मक क्रिया का[1]।

'यजेः कर्मणः'—इत्यादि। यह वार्तिक वैदिक प्रयोग के लिये है, यह कैयट का मत है। तत्त्वबोधिनीकार का भी यही मत है। इस वार्त्तिक में 'यजेः' यह पद सब संस्करण में न मिलने पर भी इस पद से घटित वार्त्तिक पाठ ही उदाहरण देखने पर संगत मालूम पड़ता है। वासुदेव दीक्षित जी ने तो अपनी टीका बालमनोरमा में स्पष्ट ही कहा है 'यज्धातुविषयमेवेदमित्यभिप्रेत्योदाहरति' (बालमनोरमा, पृ० ६४४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण)। नागेश भट्टजी का भी यही अभिमत है[2]।

जब एक ही वाक्य में कर्म तथा सम्प्रदान कारक दोनों का समावेश होता है तभी यह उदाहरण दिया जाता[3] है—'पशुना रुद्रं यजते'—रुद्र को पशु देता है, यह अर्थ है। इस वाक्य में प्रयुक्त तृतीयान्त 'पशुना' पद में जो तृतीया विभक्ति है उसका कर्म अर्थ है और 'रुद्रम्' पद में जो द्वितीया विभक्ति है उसका सम्प्रदान अर्थ[4] है।

५७१ रुच्यर्थानां प्रीयमाणः। (१-४-३३)

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

१। ननु 'कर्मणे' त्युक्तावकर्मक क्रियोद्देश्यस्य सम्प्रदानत्वं न स्यादत आह क्रिययेति। कर्मरहितक्रिययेत्यर्थः। सकर्मकेषु कर्मसंज्ञा अस्या बाधिकेत्याशयेनाह—पत्ये शेते इति—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७१८, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. एतच्चदानार्थकयज्धातुविषयम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७१६, गु०प्र०शास्त्री संस्करण।

३. एकस्मिन् वाक्ये कर्मणः सम्प्रदानस्य च समवाये सतीति शेषः—बालमनोरमा, पृ० ६४४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. कर्म तृतीयार्थः सम्प्रदानं द्वितीयार्थः—लघुशब्देन्दु० पृ०७१६; गु०प्र०शास्त्री संस्करण।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

रुचि अर्थात् प्रीति अर्थवाले धातुओं के प्रयोग से प्रीत होने वाला प... सम्प्रदानसंज्ञक हो। उदाहरण, 'हरये रोचते भक्तिः'—हरि को भक्ति अ... लगती है। सूत्र में प्रीयमाण शब्द का अर्थ है समवाय सम्बन्ध से प्रीति... आश्रय[1] अर्थात् प्रीत होनेवाला व्यक्ति, जिसमें समवाय सम्बन्ध से प्री... रहती हो। सूत्रस्थ 'रुच्यर्थं (क)' शब्द में जो 'रुच्' धातु प्रविष्ट है उस... अर्थ है समवाय सम्बन्ध से प्रीति के आश्रय की अपेक्षा जो भिन्न तत्कर्तृ... अभिलाष या इच्छाविशेष[2]। शब्देन्दु शेखर में नागेश भट्ट जी ने अन्यकर्तृ... अभिलाष शब्दार्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहा अभि उपसर्ग... 'लष्' धातु के कर्त्ता की अपेक्षा अभिपूर्वक 'लष्' धातु का कर्म भिन्न... वह कर्म जिस अभिलाष का कर्त्ता है वही अभिलाष इस सूत्र में रुचि... का अर्थ है[3]। किसी वस्तु के बारे में जो प्रीति, उस प्रीति के लिये अनुकूल... व्यापार का आश्रय ही अभिपूर्वक 'लष्' धातु का कर्त्ता[4] है। कारण... का इस प्रकार अनुभव होता है 'हरिर्भक्तिमभिलष्यति'—हरि भक्ति... चाहते हैं। अतएव इस अनुभव के आधार पर यह सिद्ध होता है कि... विषयक जो प्रीति, उसके अनुकूल व्यापार का आश्रय ही अभिपूर्वक '... धातु का कर्त्ता होता है। और किसी में रहने वाली जो प्रीति, उस... के लिये अनुकूल अथवा उस प्रीति के अधिकरण में न रहनेवाला जो व्यापार...

---

१. प्रीयमाण इति। समवायेन प्रीत्याश्रय इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६४४, म०... गिरिधर शर्मा संस्करण।

२। समवायेन प्रीत्याश्रयापेक्षया यदन्यत् तत्कर्तृकाभिलाषो रुच्धात्वर्थः—... मनोरमा पृ० ६४५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३। अभिलष्यतिकर्त्रपेक्षया अन्यत् अभिलष्यतिकर्म तत्कर्तृक इत्यर्थः—लघुश... पृ ७१९, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

४। यत्किञ्चिद्विषयकप्रीत्यनुकूलव्यापाराश्रयोऽभिलष्यतिकर्त्ता 'हरिर्भक्तिमभिल...' प्रत्ययात्—लघुशब्देन्दु० पृ० ७१९, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

उस व्यापार का आश्रय ही 'रुच्' धातु, का कर्त्ता है। 'हरये रोचते भक्तिः' इस वाक्य से 'रुच्' धातु का अर्थ रुचि का जो भक्ति रूप कर्त्ता है, उस भक्ति का जो हरि में रहनेवाली प्रीति की अभिव्यक्ति के अनुकूल व्यापार, जो प्रीति के साथ एक अधिकरण में नहीं रहता है, उस व्यापार का आश्रय भक्ति[1] है। इस प्रसङ्ग में इस बात के ऊपर ध्यान देना चाहिये कि 'रुच्' धातु का कर्त्ता 'भक्ति' हरि में अपने अर्थात् भक्ति के बारे में प्रीति उत्पन्न करा देती[2] है या तो प्रीति की अभिव्यक्ति करा देती है। वह भक्ति 'हरि-र्भक्तिम् अभिलष्यति' इस वाक्य में स्थित 'अभिलष्यति' पद बोध्य क्रिया के कर्त्ता हरि से भिन्न है, कारण उस वाक्य में 'भक्ति' 'अभिलष्यति पद बोध्य क्रिया का कर्म है। अतएव सूत्र की व्याख्याप्रसङ्ग में भट्टोजीदीक्षित ने कहा है 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः'—अर्थात् दूसरा कोई जिसका कर्त्ता है, ऐसा अभिलाष रुचि शब्द का अर्थ है। अन्य या दूसरा कहने से किसकी अपेक्षा अन्य या किस से दूसरा—यह प्रश्न स्वभावतः मन में उठता है। इसी प्रश्न के उत्तर में शब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्टने कहा है कि 'हरिर्भक्तिम् अभिलष्यति' इस वाक्य में स्थित अभिपूर्वक 'लष्' धातु से बोध्य क्रिया का कर्त्ता जो हरि है, उससे भिन्न या दूसरा जो उसी क्रिया का कर्म 'भक्ति' है, वही भक्ति 'हरये रोचते भक्तिः' इस वाक्य में स्थित 'रोचते' पद से बोधित 'रुच्' धातु का अर्थ रुचि क्रिया का कर्त्ता है। इस स्थल में भक्तिगत व्यापार प्रयोज्य प्रीतिरूप फल का आश्रय होने से 'हरि' की कर्मसंज्ञा प्राप्त होने पर अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति थी। उस कर्म संज्ञा की बाधा[3] इस

१। यत्किञ्जिन्निष्ठप्रीत्यनुकूलः प्रीतिव्यधिकरणो जो व्यापारस्तदाश्रयो रोचतेः कर्त्ता—लघुशब्देन्दु पृ० ७१६

२. भक्तिः स्वविषयां प्रीतिं हरौ जनयतीत्यर्थः—बालमनोरमा, ० ६४४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. भक्तिगतव्यापारप्रयोज्यप्रीत्याश्रयत्वाद्धरेः कर्मत्वं प्राप्तम्, तदपवादोऽयम्—बाल मनोरमा, ० ६४४।

‘रुच्यर्थानां प्रीयमाणः’ सूत्र से की जाती है, और सम्प्रदान संज्ञा
करने से सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

सूत्र में जो ‘प्रीयमाणः’ पद है, उसका अर्थ पहले बताया गया है
समवाय सम्बन्ध से प्रीति का आश्रय, अर्थात् जिसमें समवाय सम्ब
प्रीति रहती है, वही प्रीयमाण कहलाता है। वह ‘प्रीयमाण- पद क्यों
गया है ? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है ‘देवदत्ताय
मोदकः पथि’—देवदत्त को रास्ते में मिठाई अच्छी लगती है। यहां दे
ही प्रीयमाण’ या समवाय सम्बन्ध से प्रीति का आश्रय है, इसलिये देवद
सम्प्रदान है, पथ या रास्ता नहीं। पथ या रास्ता अधिकरण है, अतः
अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति हुई है। ‘प्रीयमाणः पद न
पथ को भी सम्प्रदान संज्ञा होती थी और उसमें चतुर्थी की प्राप्ति होती
सूत्र में ‘प्रीयमाण’ पद देने का यह भी फल है कि रुच् धातु का दी
अर्थ होने पर भी वह अर्थ नहीं लेकर अभिप्रीति रूप अर्थ ही लेना है
तो ‘प्रीयमाणः’ पद के अर्थ से विरोध हो जाता है।[1]

काशिका वृत्ति में ‘देवदत्ताय रोचते मोदकः’ देवदत्त को
अच्छी लगती है, यह उदाहरण देकर उसकी व्याख्याप्रसंग में कहा
‘देवदत्तस्थाभिलाषस्य मोदकः कर्त्ता’—‘देवदत्त में रहनेवाली अभिला
मोदक या मिठाई कर्त्ता है। ‘देवदत्तस्थाभिलाषस्य’ शब्द से स्पष्ट
होता है कि वह अभिलाष समवाय सम्बन्ध से देवदत्त में रहता है।
देवदत्त ‘प्रीयमाण’ है। ‘प्रीञ् तर्पणे’ इस क्र्यादिगणीय धातु के कर्म

---

१. देवदत्तयैव प्रीयमाणत्वं न तु पथः इति न तस्य सम्प्रदानत्वम्, प्रीयमा
मावे तु पथोऽपि स्यादिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४५, म० म०
शर्मा संस्करण।

२। ‘प्रीञ् तर्पणे’ अस्मात् कर्मणि लट्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४४, म० म०
शर्मा संस्करण।

लट्[1] के स्थान में 'शानच्' प्रत्यय से प्रीयमाण शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'जिसको प्रसन्न किया जा रहा है'। दिवादिगणीय 'प्री' धातु से कर्त्ता में 'शानच्' प्रत्यय से भी प्रीयमाण पद वन सकता है। तब उसका अर्थ है 'प्रसन्न होनेवाला[2]'।

काशिका वृत्ति में भी सूत्रस्थ 'रुचि' शब्द का अर्थ बतलाया गया है 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः'। और 'अभिलाष' शब्द का अर्थ बालमनोरमा टीका में स्पष्ट कहा गया है' 'प्रीत्याश्रयकर्तृकः किञ्चिद्विषयक इच्छा विशेषः[3]' अर्थात् प्रीति का जो आश्रय है वह किसी वस्तु के बारे में जो इच्छा करता है वही इच्छा 'अभिलाष' शब्द का अर्थ है। जब हरिः भक्ति से प्रीत होते हैं, या देवदत्त मिठाई से प्रीत होता है, तब प्रीतिका समवाय सम्बन्ध से आश्रय हरि या देवदत्त है। वह हरि या देवदत्त किसी वस्तु की इच्छा करता है तो वही इच्छाविशेष 'अभिलाष' शब्द का अर्थ माना गया है। जैसे कि 'हरिर्भक्तिम् अभिलष्यति' या 'देवदत्तः मोदकम् अभिलष्यति' इस वाक्य से भक्ति या मिठाई के बारे में हरि या देवदत्त में इच्छा विशेष रूप अभिलाष है। इस इच्छा का कर्त्ता तो हरि या देवदत्त ही है, जो भक्ति या मिठाई से प्रीत होने के कारण शमवाय सम्बन्ध से प्रीति का आश्रय होते हैं। इसी समवाय सम्बन्ध से प्रीति के आश्रय से भिन्न जो 'भक्ति' या 'मोदक' है, वही 'रुच्' धातु के अर्थ अन्य कर्तृक इच्छाविशेष रूप रुचि का कर्त्ता है। यही विषय शब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्ट जी ने 'यत्किञ्चिन्निष्ठप्रीत्यनुकूलः प्रीतिव्यधिकरणो जो व्यापारस्तदाश्रयो रोचतेः कर्त्ता' इस पंक्ति से स्पष्ट किया है, जिसका विवरण पहले किया जा चुका है।

१। सिद्धान्त कौमुदी, (कारक प्रकरण), पृ० ९३, पं० श्रीधरानन्द शास्त्री, मोतीलाल वनारसीदास संस्करण।

२। बालमनोरमा, पृ० ६४५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३। 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च'—दीप्तिरिह व रुच्यर्थः' प्रीयमाण इति विरोधात्—बाल मनोरमा, पृ० ६४४,

तब नागेश भट्ट जी की व्याख्यानुसार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हरि उत्पन्न होनेवाली प्रीति के लिये अनुकूल अथच उस प्रीति के आश्रय रहनेवाला जो कोई व्यापार है, वही व्यापार 'रोचते' इस क्रियापद के प्र भूत 'रुच्' धातु का अर्थ है। वह व्यापार पूर्वोक्त उदाहरण में 'भक्ति' 'मोदक' में रहा है, जो कि समवाय सम्बन्ध से प्रीति के आश्रय 'हरि' 'देवदत्त' से भिन्न है। 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः'—इस कथन का ता इन सब बातों से स्पष्ट रूप से समझना है।

स्वर्गत महामहोपाध्याय बाल शास्त्री के मतानुसार 'विषयतासम्ब च्छिन्नप्रीत्यनुकूलः प्रीतिसमानाधिकरणः प्रीतिविषयीभवन रूपो जो व्य स रुचेरर्थः। इस कथन का तात्पर्य्य यह है कि 'हरये रोचते भक्ति वाक्य में जो 'रोचते' क्रियापद है, उस क्रियापद की प्रकृतिभूत 'रुच्' का अर्थ है—विषयतासम्बन्ध के द्वारा अवच्छिन्न तथा प्रीतित्वरूप द्वारा अवच्छिन्न जो प्रीति में रहनेवाली जन्यता या प्रयोज्यता, उस या प्रयोज्यता के द्वारा निरूपित जो जनकता या प्रयोजकता, उस ज या प्रयोजकता का आश्रय तथा विषयता सम्बन्ध से अवच्छिन्न जो प्रीति वच्छिन्न प्रीतिनिष्ठ आधेयता के द्वारा निरूपित जो अधिकरणता, अधिकरणता के आश्रय में वर्त्तमान पहले प्रीति का विषय न होने पर बाद में प्रीति का विषय होना रूप व्यापार। इस व्यापार का आश्रय है, इसलिये 'भक्तिः' 'रोचते' पद बोध्य क्रिया का कर्त्ता हुआ है। यह जो रुच् धातु के अर्थ रुचि का कर्त्ता है, वह कर्त्ता प्रीयमाण अर्थात् सम्बन्ध से प्रीति के आश्रय रूप हरि से भिन्न होने के नाते अन्य अभिलाष रूप रुच्यर्थक धातु के योग से प्रीयमाण हरि को सम्प्रदान प्राप्त हुई है, और उसके वाचक हरि शब्द से सम्प्रदान में चतुर्थी वि हुई है।

१। लघुशब्देन्दु शेखर की वरवाणिनी टीका, पृ० ७२०, गुरुप्रसाद शास्त्री सं

५७२ श्लाघह्नु‌ङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः । (१-४-३४)

एषां प्रयोगे वोधयितमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शयते वा । ज्ञीप्स्यमानः किम् ? देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

अनुवाद तथा विवृति—

श्लाघ्, ह्नुङ्, स्था तथा शप्—इन धातुओं के प्रयोग से जो बोधित कराने के लिये इष्ट है अर्थात् जिसको समझाना अभिप्रेत है वह सम्प्रदानसंज्ञक हो। 'गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते'—गोपी कामभाव से कृष्ण की स्तुति करती है। इस उदाहरण में और परवर्त्ती उदाहरणों में 'श्लाघ' आदि धातुओं का स्तुति' आदि के द्वारा समझाना अर्थ[1] है, कारण सूत्र में जो 'ज्ञीप्स्यमान, पद है, वह ज्ञापनवाचक 'ज्ञप्' धातु के साथ इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय लगाकर कर्मवाच्य में शानच्[2] प्रत्यय से बना है। 'ज्ञीप्स्यनान' पद की प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ विचार से यह मालूम होता है कि जिसको वोधित कराने की यानी समझाने की इच्छा होती है, इच्छा का विषयीभूत वह व्यक्ति 'ज्ञीप्स्य-मान' शब्द का अर्थ है। 'गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते'—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि गोपी काम भाव से कृष्ण[3] की स्तुति करके कृष्णके प्रति अपना अनुराग कृष्ण को समझाती[4] है। इस व्याख्या के अनुसार कृष्ण का कर्मत्व प्राप्त था, इस सूत्र से उसकी बाधा होकर सम्प्रदान संज्ञा होने से सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

१. श्लाघादीनां स्तुत्यादिना वोधनमर्थः ज्ञीप्स्यमान इति लिङ्गात्—बालमनोरमा, पृ० ६४५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. श्लाघादेः स्तुत्यादिना वोधनमर्थः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७६१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। ज्ञापनवाचिनो ज्ञपः सन्नन्तात् कर्मणिशानच्—बालमनोरमा, पृ० ६४५।

३. कृष्णं स्तौतीत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। स्तुतिश्च कृष्णस्यैव—लघुशब्देन्दु० पृ० ७२१।

४. स्तुत्या आत्मानुरागं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः, लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७२१ गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

वाल मनोरमाकार वासुदेव दीक्षित की व्याख्यानुसार कामपीड़ावश अपनी स्तुति के द्वारा विरह वेदना कृष्ण को मालूम कराती[1] है।

गोपी स्मरात् कृष्णाय ह्नुते'—गोपी कामभाव से कृष्ण को छिपाती है। इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि गोपी अपनी सपत्नियों से कृष्ण को छिपाकर अपना अनुराग कृष्ण को मालूम कराती[2] है।

'गोपी स्मरात् कृष्णाय तिष्ठते'—गोपी काम भाव से रहकर[3] कृष्ण को (अपना अनुराग) मालूम कराती है। इस वाक्य में 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१-३-२३) सूत्र से 'प्रकाशन' यानी 'अपना अभिप्राय'[4] अर्थ में स्थाधातु का आत्मनेपद हुआ है।

'गोपी स्मरात् कृष्णाय शपते'—गोपी कामभाव से कृष्ण को गाली बकती है। इस वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि गोपी कृष्ण को गालि देकर उनके प्रति अपना अनुराग प्रगट करती है। इस वाक्य में 'शप्' धातु से 'शप उपालम्भे' इस वार्त्तिक सूत्र से आत्मनेपदी हुआ है।

५७३। धारेरुत्तमर्णः। (१-४-३५)

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णः उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

अनुवाद तथा विवृति—

णिच्प्रत्ययान्त 'धृ' धातु (धारि धातु) के प्रयोग होने पर कर्ज देने वाला व्यक्ति उक्तसंज्ञक अर्थात् सम्प्रदानसंज्ञक हो।

---

१. मन्मथपीड़ावशात् गोपी आत्मस्तुत्या विरहवेदनां कृष्णं बोधयतीत्यर्थः—बाल मनोरमा, पृ० ६४५।

२. एवं ह्नुत्या स्वानुरागं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः। ह्नुतिः सपत्न्यादिभ्यः कृष्ण… लघुशब्देन्दु० पृ० ७२१, गु० प्र२ शास्त्री संस्करण।

३. गन्तव्यमित्युक्तेऽपि स्थित्यास्वाशयं कृष्णं बोधयति—बालमनोरमा, पृ० … म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. स्वाभिप्रायकथनं प्रकाशनम्—काशिकावृत्ति (-३-२३)।

'भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः'—(भगवान्) हरि भक्त के पास मोक्ष लिये ऋणी हैं ।

सूत्र में जो 'उत्तमर्ण' शब्द है उसका अर्थ है ऋण देनेवाला धनस्वामी ।' त्तमं ऋणं यस्य सः' इस प्रकार विग्रह वाक्य से बहुव्रीहि समास करने र 'उत्तमर्ण' पद बनता है ।

कर्ज देनेवाले धनस्वामी को उत्तमर्ण क्यों कहा जाता है इस प्रश्न के र बालमनोरमा टीका में 'उत्तमर्ण' शब्द की व्याख्या में मिलता है । तिमास अस्सीभाग आदि वृद्धि से जिसका ऋण अधिकता प्राप्त होता है वह स्वामी उत्तमर्ण[1] कहलाता है । काशिकावृत्ति में भी कहा गया है 'कस्य त्तममृणम् ? यदीयं धनम्, धनस्वामी प्रयोक्ता उत्तमर्णः[2]' अर्थात् किसका ण उत्तम है ? धन का मालिक, जो ऋण देता है, वह उत्तमर्ण कहलाता है । 'हेतुमतिच' (३–१–२६) इस सूत्र से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्ययान्त 'धृ तु को सूत्र में 'धारि' धातु कहा गया । उस 'धारि' धातु का प्रयोग होने पर मर्ण को सम्प्रदान संज्ञा होती है और सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

भगवान् हरि भक्त के पास अपने को ऋणी मानते हैं, इस बात को लमनोरमाकार वासुदेव दीक्षितजी ने पुराण का वचन उद्धृत करके बताया । उनका कहना है—पूजा करते समय भक्त तुलसी पत्र आदि द्रव्य भगवान् दान करता है । उस द्रव्य को ग्रहण करते हुए सन्तुष्ट होकर भगवान् के द्वारा दिये गये द्रव्य के प्रतिदान में मोक्षदान कर के उऋण होते[3]

---

१. प्रतिमासमशीतिभागादिवृद्ध्या उत्तमम् अधिकतां प्राप्तमृणं यस्येति विग्रहः—बाल-मनोरमा, पृ० ६४६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ।

२. 'धारेरुत्तमर्णः' सूत्र की व्याख्या प्रसङ्ग में ।

३. पूजयन् हि भक्तस्तुलसीदलादिद्रव्यं प्रयच्छति, तच्च गृह्णन् तुष्टो हरि स्तवप्रत्तद्रव्यं मोक्षदानेन निष्क्रीणाति । तदाहुः पौराणिकाः—'तोयं वा पत्रं वा यद्वा किञ्चिद्व समर्पितं भक्त्या । तदृणं मत्वा देवो निःश्रेयसमेव निष्क्रयं मनुते ॥'—बाल-मनोरमा, पृ० ६४६ ।

हैं। इस प्रसंग में ऋण शब्द का भी अर्थ उन्होंने बताया कि निश्चित
पर फिर से वापस देने की बुद्धि से लिये गये दूसरे व्यक्ति के द्रव्य को
कहा जाता[1] है।

यहाँ 'धृ' धातु के अकर्मक होने से उसके अणिजन्तकालीन कर्ता
को णिजन्तकाल में 'गतिबुद्धि'—इत्यादि सूत्र से कर्मसंज्ञा होनेपर कर्म
में द्वितीया विभक्ति हुई है। अणिजन्त काल में 'मोक्षः धरते'—
अवस्थान करता है, यह वाक्य था। णिजन्तावस्था में 'हरिः मोक्षं धार
हरि मोक्षको अवस्थान कराता है, यह अर्थ हुआ है।

नागेश भट्ट जी ने भी शब्देन्दुशेखर में कहा है 'ध्रियमाणं स्वरूपेणा
मानं मोक्षं हरिः प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः'—अर्थात् मोक्ष अपने स्वरूप में
करता रहा,[2] उसको भगवान् हरि ने प्रेरित किया है। और वह
भक्त के न रहने से न होने पर भक्त भी प्रेरणा का जनक होने से
हुआ है।[3]

सूत्र में 'उत्तमर्णः' पद क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में
'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे'—देवदत्त का गाँव में सौ (रुपये)
है। इस उदाहरण में 'ग्राम' उत्तमर्ण न होने से उसकी सम्प्रदान
हुई और उसमें चतुर्थी विभक्ति न होकर अधिकरणे सप्तमी विभक्ति

५७४ स्पृहेरीप्सितः। (१-४-३७)

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति।
किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविव
परत्वात् कर्मसंज्ञा, पुष्पाणि स्पृहयति।

---

१. अन्यस्वामिकं द्रव्यं नियतकाले पुनरर्पणबुद्ध्या गृहीतम् ऋणमित्युच्यते।
२. धृञोऽकर्मकत्वादणौ कर्त्तुर्मोक्षस्यणौ कर्मत्वम्—तत्त्वबोधिनी, बालमनोरमा,
३. प्रेरणाया भक्तासत्त्वेऽभावात् तस्यापि प्रेरणाजनकत्वेन कारकत्व बोध
शब्देन्दुशेखर, पृ० ७२२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

अनुवाद तथा विवृत्ति—

'स्पृह' धातु के प्रयोग में इष्ट (ईप्सित) संप्रदान हो।

उदाहरण, 'पुष्पेभ्यः स्पृहयति'—फूलों को चाहता है। साधारण रूप से ईप्सित होने पर यह संज्ञा अर्थात् सम्प्रदानसंज्ञा होती है। यदि प्रकृष्टरूप से ईप्सित की विवक्षा की जाय तो इस सूत्र की अपेक्षा परवर्त्ती 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (१-४-४९) सूत्र से कर्मसंज्ञा होती है, यथा 'पुष्पाणि स्पृहयति'—फूलों को विशेष रूप से चाहता है।

इस सूत्र में चुरादिगणीय अकारान्त 'ईप्सा' अर्थात् प्राप्त करने की इच्छार्थक 'स्पृह' धातु के उत्तर स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय हुआ है।

शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्टजी कहते हैं कि 'स्पृह' धातु केवल इच्छा का वाचक तथा फलावच्छिन्न इच्छा का अर्थात् फलसहित इच्छा का वाचक है। जब केवल इच्छा का वाचक है, तब इसके प्रयोग में ईप्सितवाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है, यथा—'पुष्पेभ्यः स्पृहयति'—फूलों की इच्छा करता है। और जब फलसहित इच्छा का वाचक होता है तब 'पुष्पाणि स्पृहयति'—फूलों की विशेषरूपसे इच्छा करता है।

कहने का मतलब यह है कि 'स्पृह' धातु जब केवल इच्छा का वाचक होता है तब धात्वर्थतावच्छेदक क्रियाजन्य फल तक अर्थ का अनुसन्धान नहीं किया जाता है[1]। अतएव उन्होंने सूत्रवृत्ति में स्थित प्रकर्षविवक्षायाम्' इस पद की व्याख्या में कहा है 'फलाश्रयत्वेन विवक्षायाम् इत्यर्थः'—अर्थात् धात्वर्थतावच्छेदक क्रिया जन्य प्राप्तिरूप फल का आश्रय के रूप से विवक्षा करने पर पुष्प की कर्मसंज्ञा होगी।

५७५ क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः (१-४-३७)

१. स्पृहधातु इच्छामात्रवाची फलावच्छिन्नेच्छावाची च। आद्ये सम्प्रदानत्वम्, अन्त्ये कर्मत्वम्। ईप्सितत्वं धात्वर्थजन्यफलाश्रयत्वं न तु फलस्य धात्वर्थत्वपर्यन्तमाग्रहः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७२२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात् हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम् ? भार्यामीर्ष्यति । मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः । द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्या अक्षमा । असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोपः' इति ।

अनुवाद तथा विवृति—

क्रोधाद्यर्थक धातुओं के प्रयोग होने पर जिसके प्रति कोप (किया जाता) है, वह उक्तसंज्ञक, अर्थात् सम्प्रदानसंज्ञक हो । उदाहरण, 'हरये क्रुध्यति'—हरि के ऊपर क्रोध करता है । 'हरये द्रुह्यति'—हरि से द्रोह करता है । 'हरये ईर्ष्यति'—हरि के ऊपर ईर्ष्या करता है । 'हरये असूयति'—हरि से असूया करता है । सूत्र में 'यं प्रति कोपः—अर्थात् जिसके प्रति कोप है—यह क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर 'भार्यामीर्ष्यति'—भार्या के प्रति ईर्ष्या करता है । इस प्रत्युदाहरण से भार्या के प्रति कोप नहीं बतलाया गया है, परन्तु भार्या को दूसरा कोई व्यक्ति देखे इस बात को बर्दास्त नहीं करता ।

सूत्र में स्थित 'क्रुध्' धातु का जो क्रोध अर्थ है वह 'अमर्ष' शब्द से समझाया जाता है, इसलिये क्रोध का पर्यायशब्द कहा गया है 'अमर्ष'। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस प्रसङ्ग में कहा है 'न ह्यकुपितः क्रुध्यति' अर्थात् जिसका कोप न हुआ हो वह क्रोध नहीं करता । इस कथन से मालूम पड़ता है कि 'कोप' 'क्रोध' की पहली अवस्था है । अर्थात् पहले कोप होता है और बाद में जब 'कोप' अधिक हो जाता है तब उसको 'क्रोध'

---

१. भार्यामीर्ष्यतीत्यत्र केवलं परैर्दृश्यमानां भार्यां न क्षमते न तु तां प्रति प्रति कोपः । पदमञ्जरी=(काशिकावृत्ति), पृ० ५५४, प्रांच्य भारतीय प्रकाशन, वाराणसी। भार्यायामीर्ष्या, न तु तां प्रति कोपः। केवलं परैर्दृश्यमानां तां न क्षमते । न्यास—(काशिकावृत्ति), पृ० ५५४, प्रा० भा० प्रकाशन वाराणसी । नात्र प्रति कोपः, किन्तु परैर्दृश्यमानां तां न सहते इत्येव—लघुशब्देन्दु०, पृ० गु० प्र० ।शास्त्री संस्करण ।

जाता है। बालमनोरमा टीका में यह बात स्पष्ट कही गयी है कि कोप जब अधिक होता है तभी उसको क्रोध कहा जाता है[1]। 'कोप' की व्याख्या भी उसी टीका में की गयी है—'घातेच्छासमनियतश्चित्तवृत्तिविशेषः कोपः'—अर्थात् कोप एक विशेष चित्तवृत्ति है जिसके साथ साथ आघात करने की इच्छा भी रहती हो।

सूत्रस्थ 'द्रुह्' धातुका जो 'द्रोह' अर्थ है, वह अपकार है। अपकार का अर्थ है दुःखजनक क्रिया[2]। तत्त्वबोधिनी टीका में धातु पाठ उद्धृत करके धातु का अर्थ बतलाया गया है जिघांसा' अर्थात् हनन करने की इच्छा[3]। तत्त्वबोधिनी टीका में 'द्रोहोऽपकारः'—इसकी व्याख्या प्रसङ्ग में कहा गया हैं 'द्रुह द्रोहे' इस प्रकार अन्य धातु पाठ उल्लेख करके कहा गया है कि 'जिघांसा' और द्रोह एक ही है।[4]

सूत्र में स्थित 'ईर्ष्य्' धातु का अर्थ है 'ईर्ष्या'। ईर्ष्या का अर्थ कहा गया है। 'अक्षमा' अर्थात् असहन यानी बर्दास्त न करने का भाव। इसका मतलब तत्त्वबोधिनी कार ने बतलाया है कि दूसरे की सम्पत्ति को बर्दास्त न करने का भाव ईर्ष्याका अर्थ है।[5]

सूत्रस्थित 'असूय' धातु का जो असूया अर्थ है उसका मतलब गुणों में दोष देखना। अर्थात् गुण में दोष का आरोप, जैसे, शास्त्र में विहित शौच आदि के आचरण में यह आरोप लगाना कि ये सब आचार अपने दम्भ अहङ्कार आदि के कारण किये जाते हैं।[6]

---

१. प्ररूढ़कोप एव हि क्रोधः—बालमनोरमा, पृ० ६४८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अपकारो दुःखजनिका क्रिया—बालमनोरमा, पृ० ६४७।

३. 'द्रुह् जिघांसायाम्'—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. द्रुह द्रोहे' इतिपाठाभिप्रायेणोक्तम्, जिघांसा द्रोह एवेत्यर्थतोऽनुभाषणं वा—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४७।

५. परसम्पत्त्यसहनमित्त्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४७।

६. गुणेषु दोषारोपः, यथाविहितकर्माचारे दम्भादिकृतत्वारोपणम्—बालमनोरमा, पृ० ६४७, दम्भादिदोषाध्यासः—पदमञ्जरी, पृ० ५५४ (काशिका वृत्ति), प्राच्य भारतीय प्रकाशन।

सूत्र में द्रोह आदि उल्लिखित हुए हैं वे भी जब कोप से उत्पन्न हों तभी लिये जाते हैं। इसलिये क्रोध आदि सबके लिये साधारणरूप से 'यं प्रति कोपः'—जिसके ऊपर कोप है—यह विशेषण दिया गया है।

कहने का मतलब यह है कि 'यं प्रति, कोपः' 'यं प्रति द्रोहः', 'यं प्रति ईर्ष्या' और 'यं प्रति असूया'—इस रूप से प्रत्येक स्थल के लिये अलग-अलग विशेषण न देकर सब स्थलों के लिये जो साधारण विशेषण दिया गया 'यं प्रति कोपः', इसका तात्पर्य यह कि क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या और असूया कोप से उत्पन्न होते हैं तभी इस सूत्र के उदाहरण में प्रयुक्त होते हैं, तो नहीं प्रयुक्त किये जाते। इसीलिये 'कुप्यसि कस्मैचित्'—किसी के कोप करते हो—यह प्रयोग गलत है। कारण कोप कोप से उत्पन्न नहीं है। अवश्य तत्त्वबोधिनी टीका में 'कुप्यसि कस्मैचित्'—इस प्रयोग का धातु यहाँ द्रोहार्थक है, यह कहकर प्रकारान्तर से समर्थन भी किया गया

क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या तथा असूया ये सभी चित्त के दोष विशेष हैं। भी इसी प्रकार चित्त के दोष द्वेष आदि का ग्रहण न करने के लिये अलग रूप से क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या तथा असूयार्थक धातुओं का उल्लेख गया है। अतएव 'अस्मान् द्वेष्टि'—हम सबको द्वेष करता है, यही होगा, न कि 'अस्मभ्यं द्वेष्टि'।

'क्रुधद्रुहादि सूत्र में 'क्रुध' 'धातु' 'द्रुह' धातु, 'ईर्ष्य' धातु तथा धातुओं का पहले 'क्रुधश्च' द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च इस प्रकार विग्रह से द्रुहेर्ष्यासूयाः' ऐसा द्वन्द्वसमास करके बाद में 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयानाम् अर्थ

१. कुप्यसि कस्मैचित् इत्याद्यसाधु एव–लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। तथाच 'कुप्यसि कस्मैचित् इत्याद्यसाध्वेव, कोपस्य कोपमूलकत्वाभावात् क्रुधार्थकत्वभावाच्च—बालमनोरमा, पृ० ६४८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण

२. अत्र व्याचख्युः—'कुपिरत्र द्रोहार्थ' इति–तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४८, म० म० शर्मा संस्करण।

र्थायेषां तेषां धातूनाम्' इस प्रकार बहुव्रीहिसमासान्त पद बनाकर 'क्रुध-द्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्' इस पद की व्याख्या करनी चाहिये।

७६ क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म (१-४-३८)

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभि-क्रुध्यति अभिद्रुह्यति।

अनुवाद तथा विवृति।

उपसर्गयुक्त इन दोनों के, अर्थात् 'क्रुध्' तथा 'द्रुह्' धातुओं के, योग से जिसके प्रति कोप किया जाता है वह कारक सम्प्रदान संज्ञक हो। उदाहरण, 'क्रूरम् अभिक्रुध्यति'—क्रूर के प्रति कोप करता है। 'क्रूरम् अभिद्रुह्यति'—क्रूर के प्रति द्रोह करता है। यह सूत्र पूर्व सूत्र (क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् इत्यादि) का अपवाद है। पूर्व सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी। इस सूत्र से उसकी बाधा होकर कर्म संज्ञा प्राप्त हुई है। सूत्र, में 'उपसृष्ट' शब्द का अर्थ उपसर्ग युक्त किया गया है। वैयाकरण सम्प्रदाय में उपसृष्ट पद का सोपसर्ग अर्थात् उपसर्गयुक्त—यह अर्थ माना गया है[२]।

७७ राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः। (१-४-३९)

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात् यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः।

---

१. एषामर्थाइव अर्था येषां तेषां धातूनामित्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४७।

२. वैयाकरणनिकाये सोपसर्गार्थकम् उतसृष्टपदमिति भावः—सि० कौमुदी, दाधिमथ पण्डित शिवदत्त शास्त्रिकृत टिप्पणी, पृ० १७६, वेङ्कटेश्वर प्रेस संस्करण। उपसृजन्तीत्युपसर्गाः, पचाद्यचि न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्। तेनोपसृष्टयोरित्यस्योपसर्गेण सम्बद्धयोरित्ययमथो भवति। स्वनिकाय प्रसिद्धिर्वा—पदमञ्जरी (काशिका वृत्ति), पृ० ५५५, प्राच्यभारती प्रकाशन, वाराणसी।

३. वैयाकरणनिकाये एष एतदर्थकत्वेन प्रसिद्धः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७२३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

अनुवाद तथा विवृति –

इन दोनों के अर्थात् राध् तथा ईक्ष् धातुओं के प्रयोग में जिस के बारे में नाना प्रकार के प्रश्न किए जाते हैं वह कारक सम्प्रदानसंज्ञक है।
'कृष्णाय राध्यति' अथवा 'कृष्णाय ईक्षते'—कृष्ण के बारे में पूछे पर कृष्ण के शुभ तथा अशुभ की पर्यालोचना करता है। गर्ग (ऋषि) पूछे जाने पर वे शुभ तथा अशुभ की पर्यालोचना करते हैं—यही गर्ग ज्योति:शास्त्र के ज्ञाता कोई एक ऋषि[1] थे। कृष्ण का क्या शुभ अशुभ है ऐसा पूछे जाने पर गर्ग ऋषि कृष्ण का शुभ और अशुभ का करते हैं। शुभ और अशुभ से शुभ और अशुभ कर्म[2] समझना चाहिये।

सूत्र में 'यस्य' इस पद में कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति हुई है। यद् विषयक विविध प्रश्न—यह अर्थ आता है। यहाँ षष्ठी विभक्ति होती है। उस षष्ठी की बाधा देकर इस सूत्र से सम्प्रदानत्व प्रयुक्त विभक्ति की गयी है।[3]

कृष्ण सम्बन्धी शुभ तथा अशुभ को पर्यालोचना करते हैं— होने से कृष्ण में सम्बन्ध में षष्ठी प्राप्त थी। उसकी बाधा होकर इस सम्प्रदान संज्ञा होने पर सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

न्यास और पदमञ्जरी कार के मतानुसार 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूया' इत्यादि सूत्र से 'यं प्रति' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति करने पर ही बारे में 'विविध प्रश्न—ऐसा अन्वय करके अर्थबोध हो जाता है,

---

१. गर्गो नाम ज्योति:शास्त्रविद् ऋषिविशेष:—बालमनोरमा, पृ० ६४८, गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. शुभाशुभं कर्म—न्यास, पृ० ५५५, (काशिकावृत्ति), प्राच्य भारती वाराणसी।

३. यस्येति कर्मणि षष्ठी—पदमञ्जरी, पृ० ५५५, कृष्णसम्बन्धि शुभाशुभ पर्यालोचनात् षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनमिदम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४९ म० शर्मा संस्करण।

पद सूत्र में कहना अनावश्यक है[1]। तब सूत्र में 'यस्य' यह पद कहना अर्थ को स्पष्ट करने के लिये है[2]।

५७८ प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता। (१-४-४०)

आभ्यां परस्य श्रृणोते र्योगे पूर्वस्य प्रवर्त्तनारूपव्यापारस्य कर्त्ता सम्प्रदानं स्यात् विप्राय गां प्रतिश्रृणोति आश्रृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृति :—

प्रति और आङ् उपसर्ग से पर श्रु धातु होने से उसके योग में पहले का अर्थात् प्रवर्त्तना रूप व्यापार का कर्त्ता सम्प्रदान संज्ञक हो।

'विप्राय गां प्रतिश्रृणोति' या विप्राय गाम् आश्रृणोतिब्राह्मण को गाय देने का वचन देता है। ब्राह्मण के द्वारा पहले 'मुझे दीजिये' इस प्रकार प्रवर्त्तित होकर वचन देता है—यह अर्थ है।

इन दोनों वाक्यों में प्रति या आपूर्वक श्रु धातु का प्रयोग हुआ है और ब्राह्मण पहले गाय देने के लिये प्रवर्त्तना या प्रेरणा देता है बाद में देनेवाला व्यक्ति देने के लिये वचन देता है। इसलिये प्रथम व्यापार का अर्थात् प्रवर्त्तना या प्रेरणा देना रूप व्यापार का कर्त्ता 'विप्र' सम्प्रदान हुआ है, और उसके वाचक 'विप्र' शब्द में सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

इस सूत्र में 'अभिनिविशश्च' (१-४-४७) सूत्र में जैसे 'अभि' तथा 'नि' इन दोनों उपसर्गों का विश् धातु के पहले एक साथ प्रयोग होता है उसी प्रकार 'प्रति' और 'आ' इन दोनों उपसर्गों का श्रु धातु के पहले एक ही साथ प्रयोग नहीं होता, परन्तु अलग अलग रूप से ही प्रयोग होता है। इसका कारण यह है कि 'अभिनिविशश्च' सूत्र को 'अभिनिभ्यां विशश्च'

१. यस्यग्रहणमनर्थकम्, यं प्रतीत्येव, तत्र यं प्रति इत्यन्वये किं न विवक्षितं सिध्यति— पदमञ्जरी, पृ० ५५५, प्राच्य भारतीय प्रकाशन।

२. यस्येतिग्रहणं विस्पष्टार्थम्। तथाहि—'यं प्रति' इत्यनुवर्त्तते, तत्र यं प्रति विप्रश्न इत्येवमभिसम्बन्धे क्रियमाणे यस्येत्यस्यार्थोऽप्रयुज्यमानस्यापि गम्यत एव—न्यास, पृ० ५५५।

ऐसा नहीं कहा गया है, परन्तु 'अभि' और 'नि' एक साथ मिलाकर गया है। इससे यह मालूम होता है कि उस सूत्र में 'अभि' और 'नि' साथ मिलाकर ही 'विश् धातु के पहले रखकर प्रयोग किया जाता है। 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इस सूत्र में 'प्रति' और 'आ' इन दोनों को सीधा 'श्रु' धातु के साथ मिलाकर 'प्रत्याङ्श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता' ऐसा कहकर पञ्चमी द्विवचनान्त 'प्रति' और 'आङ्' उपसर्गों को 'श्रु' से अलग अन्वय कर के कहने से यह झलकता है कि इस सूत्र में 'प्रति' और उपसर्गों को 'श्रु' धातु के पहले एक साथ मिलाकर प्रयोग नहीं करना, अलग रूप से ही प्रयोग करना चाहिये[1]।

सूत्र में 'पूर्वस्य कर्त्ता' ऐसा कहकर पूर्व व्यापार के कर्त्ता को संप्रदान संज्ञा की गयी है। नहीं तो पूर्व व्यापार का 'कर्त्ता प्रयोजक होने के हेतु संज्ञा प्राप्त करने से 'विप्रेण प्रतिशृणोति' इस प्रकार 'विप्र' में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति की प्राप्ति होती। अतः इस प्रकार अनिष्ट प्रयोग निवृत्ति के लिये 'पूर्वस्य कर्त्ता' कहकर उसकी सम्प्रदान संज्ञा दी गयी। ऐसे पूर्वस्य कर्त्ता' ऐसा न कहने पर अभ्युपेयमान अर्थात् स्वीकृत गवादि रूप कर्म की कर्मसंज्ञा की बाधा होकर इस सूत्र से सम्प्रदान होने से 'विप्राय गां प्रतिशृणोति इस वाक्य में स्थित गोरूप कर्म में सम्प्रदानत्व प्रयुक्त चतुर्थी विभक्ति की आपत्ति होती[2]।

बालमनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित के मतानुसार 'विप्राय गां

---

१. प्रत्याङ्भ्यामित्यनेन समुदिताभ्यां परस्य इति नार्थो विवक्षितः, किन्तु प्र तयो र्निमित्तत्वम्, अन्यथा 'अभिनिविशश्च' इतिवत् 'प्रत्याङ्श्रुवः इत्येव तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अत्र हेतुसंज्ञायां प्राप्तायां देवदत्तेन प्रतिशृणोतीतिप्रयोग–निवृत्तय वचनमिदं पदमञ्जरी, पृ० ५५६, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. पूर्वस्य कर्त्तेति किम्? विना तेन गवादेरभ्युपेयमानस्य कर्मण एव स्यात् पृ० ५५६ (काशिकावृत्ति), प्रा० भा० प्रकाशन।

शृणोति' इस वाक्य में 'विप्र' की जो सम्प्रदान संज्ञा की गयी है वह कर्तृ तृतीया का बाधक है[1]।

१७९ अनुप्रतिगृणश्च । (१-४-४१)

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसंज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति वा । होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहतीत्यर्थः ।

अनुवाद तथा विवृति :—

इन दोनों के ('अनु' तथा 'प्रति' उपवर्ग के) परवर्ती 'गृ' धातु के प्रयोग में पूर्व व्यापार का जो कर्त्ता है वह उक्तसंज्ञक यनी सम्प्रदानसंज्ञक हो ।

'होत्रे अनुगृणाति'—होता को प्रोत्साहित करता है, 'होत्रे प्रतिगृणाति'—होता को प्रोत्साहित करता है ।

इस सूत्र में 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' (१-४-४०) इस पूर्व सूत्र से 'पूर्वस्य कर्त्ता' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति होती है । तथा उसी पूर्वसूत्र में 'प्रत्याङ्भ्याम्' इस द्विवचनान्त निर्देश के वल से प्रत्येक उपसर्ग के साथ धातु का सम्वन्ध है, यह निश्चित रूप से जानने पर उस सूत्र के साथ साहचर्य के कारण इस 'अनुप्रतिगृणश्च' सूत्र में भी प्रत्येक उपसर्ग के साथ 'गृ' धातु का सम्वन्ध है, इसी अभिप्राय से 'अनु' तथा 'प्रति' उपसर्ग को अलग अलग रूप से धातु के साथ जोड़कर दो अलग अलग उदाहरण दिये गये हैं ।[2]

पदमञ्जरी टीका में हरदत्तजी ने कहा है कि 'अनु' तथा 'प्रति' उपसर्ग-पूर्वक 'गृ' का धातु वेदमन्त्र का शंसनकारी होता का प्रोत्साहन अर्थ

---

१. तत्र विप्रस्य प्रेरणाकर्त्तृत्वात् सम्प्रदानत्वं, कर्तृ तृतीयापवादः—बालमनोरमा पृ० ६४९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ।

२. पूर्वसूत्रे प्रत्याङ्भ्यामिति द्विवचननिर्देशवलात् प्रत्येकमेव धातुसम्वन्धावधारणात् तत्साहचर्यादिहापि प्रत्येकमेव धातुसम्वन्धः—बालमनोरमा, पृ० ६४९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ।

'प्रत्याङ्भ्याम्'—इति पूर्वसूत्रे द्विवचननिर्देशात् प्रत्येकमेव धातुसम्बन्ध इति निर्धारिते तत्साहचर्यादिहापि प्रत्येकमेव धातुसम्बन्धः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६४९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ।

है।[1] वेद में 'अनुगर' तथा 'प्रतिगर' नामक मन्त्र विशेष है जिसके द्वारा होता को पहले प्रशंसा की जाती है।[2] वह मन्त्र ऐसा है—'ओऽथमोदै व'। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—ओ=यह सम्बोधनार्थक अव्यय पद है, अथ=यह अव्यय पद है, इसका अर्थ है अनन्तर, मोदै=यह 'मुद्' धातु का लोट् उत्तम पुरुष एकवचनान्त पद है, इसका अर्थ है—मैं प्रसन्न होता हूँ। व=यह अव्यय पद है, इसका 'एव' शब्द के अर्थ अवधारण के बराबर अर्थ है। पूरे मन्त्र का अर्थ हुआ—हे होतः, आपके प्रशंसन के उपरान्त मैं प्रसन्न हुआ हूँ[3]।

होत्रे अनुगृणाति' अथवा 'होत्रे प्रतिगृणाति'—इस उदाहरण में अध्वर्यु कर्त्तृक प्रोत्साहन क्रिया में होता का कर्मत्व प्राप्त था, परन्तु वेदमन्त्र शंसनरूप पूर्वव्यापार का कर्त्ता होने से इस सूत्र से कर्मत्व का बाधा होकर सम्प्रदानत्व प्रयुक्त चतुर्थी विभक्ति हुई[4] है। पहले होता वेदमन्त्र का शंसन अर्थात् पाठ करता है, बाद में अध्वर्युं उसको प्रोत्साहन देता है, यही 'होत्रे अनुगृणाति' या 'होत्रे प्रतिगृणाति' वाक्य का अर्थ है।

शब्देन्दुशेखर कार नागेशभट्ट के मतानुसार सूत्र में स्थित 'अनु' 'प्रति'—ये दोनों पञ्चम्यन्त भिन्न पद हैं जिनकी पञ्चमी विभक्ति लुप्त है। 'गृणः' यह 'श्नान्त' के अनुकरण शब्द में षष्ठी विभक्ति है[5]। यहां

---

१. अनुप्रतिपूर्वो गृणातिः शंसितुः प्रोत्साहने वर्त्तते—पदमञ्जरी, पृ० ५५६, भारतीय प्रकाशन, वाराणसी।

२. अनुगीर्यते होता प्रथमं प्रशस्यते येन शब्देन सोऽयमनुगरः। एवं प्रतिगरः स प्रतिगरः—न्यास, पृ० ५५७, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. 'ओऽथ मोदै व' इति प्रतिगरमन्त्रः। ओ इति सम्बोधने, मोदै इति लोडुत्तमैकवचनम्। व इत्येवकारार्थे। हे होतः अथ त्वदीयशंसनानन्तरं तुष्याम्येवेति—बालमनोरमा, पृ० ६४६, म० म० गिरिधर शास्त्री संस्करण।

४. प्रोत्साहने होतुः कर्मत्वं प्राप्तम्, पूर्वव्यापारं शंसनं प्रति कर्त्तृत्वाद् सम्प्रदानत्वम्—बालमनोरमा, पृ० ६४६।

५. अनुप्रतीति भिन्नं पदं लुप्तपञ्चम्यन्तम्। 'गृण' इति श्नान्तानुकरणात् षष्ठी—शब्देन्दुशेखर, पृ० ५२३, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

बात पर ध्यान देना है कि 'गृ' धातु को 'श्ना' के साथ उल्लेख करने से क्र्यादिगणीय 'गृ शब्दे' इस धातु का ग्रहण करना, न कि तुदादिगणीय 'गृ निगरणे' इस धातु का।[1]

सूत्र में 'पूर्वस्य कर्ता' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति करने से पूर्वव्यापार के कर्त्ता की ही सम्प्रदानसंज्ञा होती है। अतः 'होत्रेऽनुगृणाति सदसि' इस वाक्य में 'सदः'—अधिकरण की संम्प्रदान संज्ञा नहीं होती[2]।

५८० परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्। (१-४-४४)

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणंतस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात्। शतेन शताय वा परिक्रीतः। 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' (वा १४५८)। मुक्तये हरिं भजति। 'क्लृपि सम्पद्यमाने च (वा १४५९) भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते इत्यादि। 'उत्पातेन ज्ञापिते च' (वा १४६०)। 'हितयोगे च' (वा १४६१)। ब्राह्मणाय हितम्।

अनुवाद तथा विवृत्ति।

परिक्रयणरूप अर्थं समझाने के लिये (साधकतम कारक की) विकल्प से सम्प्रदानसंज्ञा हो।

नियमितकाल के लिये वेतन या मजदूरी देकर स्वीकार कर लेना परिक्रयण कहलाता है। उस परिक्रयण रूप अर्थं समझाने लिये साधकतम कारक अर्थात् करणकारक विकल्प से सम्प्रदानसंज्ञक हो।

'शतेन शताय वा परिक्रीतः'—सौ (रुपये आदि) से रख लिया गया है।

'परिक्रयण' शब्द का अर्थं भट्टोजी दीक्षित की वृत्ति में बतलाया गया है नियमित काल या निश्चित अवधि के लिये वेतन या मजदूरी देकर स्वीकार कर लेना। परिक्रयण और क्रयण (क्रय) में इतना ही अन्तर है कि

---

१. अनुप्रतिगृण इति श्नात्ययेन निर्देशात् क्र्यादिपठितस्य 'गृ शब्दे' इत्यस्य, 'न गृ निगरणे' इत्यस्य तौदादिकस्य—न्यास पृ० ५५६, प्राच्य भारतीय प्र० वाराणसी।

२. पूर्वस्य कर्त्तर्येव, होत्रेऽनुगृणाति सदसीत्यधिकरणस्य मा भूत्—न्यास, पृ० ५५७।

परिक्रयण आत्यन्तिक क्रय नहीं है परन्तु कुछ सीमित काल के लिये वे
आदि के द्वारा किसी वस्तु को अपने पास रख देना[1]। क्रय का अर्थ
आत्यन्तिक स्वीकरण[2] अर्थात् सदा के लिये मूल्य देकर किसी वस्तु
लेना। परिक्रयण शब्द में जो परि उपसर्ग है वह 'सामीप्य' का द्योतक है
सामीप्य का मतलब समझाने के लिये न्यास टीकाकार ने कहा है कि
आदि के द्वारा केवल सीमित कालके लिये जो अपने पास रख लिया
है, वह आत्यन्तिक क्रय के समीप है—यह 'परि' शब्द के द्वारा कहा गया

'तादर्थ्यं चतुर्थी वाच्या'—तादर्थ्य में अर्थात् तादर्थ्य को समझाने
लिये चतुर्थी विभक्ति कहनी चाहिये।

'मुक्तये हरिं भजति'—मुक्ति के लिये हरि का भजन करता है।

'तादर्थ्य' शब्द का अर्थ बतलाने के लिये तत्त्वबोधिनी टीका में कहा
है 'उस कार्य के लिये' इस अर्थ में तदर्थ शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'का
उसका भाव 'तादर्थ्य'[4] 'तदर्थ' शब्द से 'भाव' अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय से
'तादर्थ्य' शब्द बनता है। तद्धितप्रकरण में 'भाव' शब्द का अर्थ है प्रवृ

---

१. परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणम्, नात्यन्तिकः क्रय एव—
वृत्ति, पृ० ५६०, प्राच्य भारतीय प्रकाशन, वाराणसी।

२. क्रयो नामात्यन्तिकं स्वीकरणम्—पदमञ्जरी, पृ० ५६० नियतकालं
(क्रयस्य) समीपमेवेति परिशब्दस्यार्थः—पदमञ्जरी, पृ० ५६० नियतका
नात्यन्तिकम्—न्यास (काशिकावृत्ति), पृ० ५६० क्रयो हि नामा
वेतनादिना केवलं यत्तु नियतकालं तदात्यन्तिकस्यान्तिकस्य क्रयस्य स
परिशब्देनाख्यायते—न्यास, पृ० ५६०।

३. परिशब्दः सामीप्यं द्योतयति—परिशब्दोऽत्र प्रत्यासत्तिं द्योतयति—
काशिकावृत्ति पृ० ५६०। न्यास, पृ० ५६०।

४. तस्मै कार्यायेदं तदर्थम् कारणम् तस्य भावस्तादर्थ्यम्—तत्त्वबोधिनी,
म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

बोध में प्रकारीभूत अर्थ[1]। 'प्रकार' शब्द से मुख्यविशेष्यतानिरूपित विषयताश्रय[2] को समझना। अब 'तादर्थ्य' शब्द से 'तदर्थ' यानी कारण का 'भाव' अर्थात् कारणत्व को लेना है। यहाँ 'ष्यञ्' प्रत्यय का प्रकृतिभूत जो 'तदर्थ' शब्द है, तज्जन्य बोध में प्रकार 'कारणत्व' ही होगा। इस कारणत्व को एक प्रकार सम्बन्ध भी माना जा सकता है, जो कि 'कार्य' और 'कारण' के बीच में है। 'कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन' अर्थात् कृदन्त, तद्धितान्त और समास के साथ जो भावविहित प्रत्यय लगाया जाता है, उससे सम्बन्ध का अभिधान होता है—इस सिद्धान्त के आधार पर यहाँ सम्बन्ध का बोध 'ष्यञ्' प्रत्यय से होता है। वह सम्बन्ध केवल कार्य कारण भाव ही है, ऐसा नहीं, परन्तु नाना प्रकार का है। अतएव 'ब्राह्मणाय दधि'—ब्राह्मण के लिये दही है—यह भी तादर्थ्य में चतुर्थी का उदाहरण हो सकता है। ब्राह्मण दधि से जन्य यानी उत्पाद्य न होने पर भी दधि का उपकार्य या संस्कार्य हो सकता है।[3]

बाल मनोरमा टीका में भी प्रायः इसी प्रकार से 'तादर्थ्य' की व्याख्या की गयी है। वहाँ 'तस्मै कार्याय इदम्' ऐसी व्याख्या न करके 'तस्मै इदम्'[4] ऐसी व्याख्या की गयी है।

---

१. प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः—सिद्धान्तकौमुदी, 'तस्यभावस्त्वतलौ' (५-१-११९) सूत्र की वृत्ति।

२. प्रकार इति—मुख्यविशेष्यतानिरूपितविषयताश्रय इत्यर्थः—'तस्यभावस्त्वतलौ' सूत्र वृत्ति की टिप्पणी, निर्णयसागर प्रेस संस्करण।

३. तस्मै कार्यायेदं तदर्थं कारणम्, तस्य भावस्तादर्थ्यम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। 'कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन' इति सिद्धान्तात् ष्यञा सम्बन्धोऽभिधीयते। स च सम्बन्धोऽनेकविधः, न तु कार्यकारणभाव एव। तेन ब्राह्मणाय दधि इत्याद्यपि सिद्धम्। ब्राह्मणस्य दध्यजन्यत्वेऽपि तत्संस्कार्यत्वात्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. तस्मै इदं तदर्थम्। अर्थेन नित्यसमासः। तदर्थस्य भावस्तादर्थ्यम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। तेन च उपकार्योपकारकभावसम्बन्धो विवक्षितः—बालमनोरमनोरमा, पृ० ४९०, म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

'तस्मै इदम्'—उसके लिये यह कहने पर भी 'तस्मै कार्याय इदम्' उस कार्य के लिये यह—ऐसा अर्थ प्रतीत हो सकता है। कारण 'तादर्थ्य' शब्द से 'तदर्थ' का सम्बन्ध बोधित होता है। वह सम्बन्ध जहां पर सम्भव है वहीं समझना। अतः वह सम्बन्ध नाना प्रकार कहा गया है। कहीं वह सम्बन्ध कार्यकारणभावरूप है, यथा—'यूपाय दारुः'—यूप के लिये दारु या लकड़ी; कहीं वह सम्बन्ध प्राप्य प्रापकभाव रूप है यथा—'मुक्तये हरिं भजति—' मुक्ति के लिये हरि का भजन करता है। यहां मुक्ति हरिभजन से प्राप्य[1] है। यह सब बातें तादर्थ्यशब्द की व्याख्याप्रसङ्ग में बालमनोरमा टीका में—'तदर्थस्य भावस्तादर्थ्यम्। ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। तेन च उपकार्योपकारकभावसम्बन्धो विवक्षितः……उपकार्यत्वं च वहुविधं जन्यत्वादि'[2] —अर्थात् तदर्थ का भाव तादर्थ्य है। ब्राह्मणादिगण के अन्तर्गत होने से (तदर्थशब्द के साथ) 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है। उस (ष्यञ् प्रत्यय) से उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध विवक्षित है। उपकार्यत्व जन्यत्व आदि से नाना प्रकार का है।

'पदमञ्जरी' टीका में आचार्य हरदत्त जी की व्याख्या भी प्रायः इसी प्रकार की ही है। 'तस्मै इदम् तदर्थम्' इस प्रकार समास से 'तदर्थ' शब्द से विशिष्ट कार्य है प्रयोजन जिसका ऐसा 'कारण' प्रतिपादित होता है। 'तदर्थ' का 'भाव' 'तादर्थ्य' है। 'तादर्थ्य' शब्द में जो 'ष्यञ्' प्रत्यय है कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध अभिहित होता[3] है।

'न्यास' टीका में आचार्यजिनेन्द्रबुद्धि के मतानुसार 'तादर्थ्य' में जो 'तत्' शब्द है उस से चतुर्थ्यन्त का अर्थ निर्दिष्ट होता है।

१. प्राप्यत्वं वा—बालमनोरमा, पृ० ६५०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
२. बालमनोरमा, पृ० ६५०।
३. तस्मै इदं तदर्थमिति समासेन विशिष्टकार्यप्रयोजनं कारणमभिधीयते। तस्य भावस्तादर्थ्यमिति ष्यञा कार्यकारणभावसम्बन्धोऽभिधीयते, समासकृत्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनेतिवचनात्—पदमञ्जरी, पृ० १६६-१६७, भारतीय प्रकाशन, वाराणसी।

इदं तदर्थम्, तस्य भाव स्तादर्थ्यम्'—उसके लिये यह है, तदर्थ शब्द का यह अर्थ है। तदर्थ का भाव तादर्थ्य[1] है। इस व्याख्यानुसार चतुर्थ्यन्त शब्द, जैसे 'यूपाय दारु'—इस वाक्य में 'यूप' शब्द के अन्त में चतुर्थी विभक्ति होने से वही 'यूप' शब्द चतुर्थ्यन्त कहा जाता है। उसका अर्थ 'यूप'। उस 'यूप' के लिये 'दारु' अभिप्रेत है। अर्थात् उस 'यूप' का कारण होने से दारु यूप का उपकारक भी हुआ तो 'यूप' और 'दारु' में उपकार्योपकारक भाव सम्बन्ध रहा है। वही सम्बन्ध चतुर्थी विभक्ति से विशेष रूप से 'यूपाय दारु' इस स्थल में कार्य कारण भाव के रूप से बोधित होता है।

तादर्थ्य चतुर्थी के बारे में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सम्बन्ध द्विष्ठ होने पर भी, अर्थात् सम्बन्ध दोनों सम्बन्धी में रहने पर भी, उपकार्य वाचक विशेषण पद में ही चतुर्थी होगी, जैसे षष्ठी विभक्ति के स्थल में भी होता है[2]।

आचार्य कैयट ने भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए विशेषण वाचक 'यूप' आदि शब्द में ही तादर्थ्य चतुर्थी विभक्ति प्रयोग करने का कारण बतलाया है। चतुर्थी तत्पुरुष समास विधायक सूत्र के द्वारा चतुर्थ्यन्त पद के साथ तत्पुरुष समास का विधान करने से यह ज्ञापित हुआ है कि 'यूपाय दारु' यूप के लिये दारु, 'कुण्डलाय हिरण्यम्'—कुण्डल के लिये सोना—ऐसे प्रयोग में विशेषणी भूत 'यूप' या 'कुण्डल' में ही चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग[3] करना है, न कि विशेष्य भूत 'दारु' या 'हिरण्य' में। 'चतुर्थी

---

१. तच्छब्देन चतुर्थ्यन्तस्यार्थो निर्दिश्यते। तस्मादिदं तदर्थम्। तस्य भावस्तादर्थ्यम्—न्यास, पृ० १६७, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. तत्र द्विष्ठत्वेऽपि सम्बन्धस्य यथा षष्ठीवद् विशेषणादेव भवति न विशेष्यात् राज्ञः पुरुष इति तथा चतुर्थी यूपाय दारु इति—प्रदीप, (पतञ्जलि महाभाष्य,), पृ० ४६७, निर्णयसागर प्रेस संस्करण। तत्र द्विष्ठत्वेऽपि सम्बन्धस्य षष्ठीवद् विशेषणादेव चतुर्थी भवति—पदमञ्जरी, पृ० १६७, प्राच्य भारतीय प्रकाशन।

३. गम्यमानविभक्तित्वाच्चतुर्थी कार्यवाचिनि। गुणे कृतास्पदा तस्मात् कारणं नाव-गाहते॥ प्रदीपोद्धृतवाक्यपदीप, पृ० ४६७।

तदर्थार्थं—' इत्यादि ज्ञापक सूत्र 'यूप' आदि कार्यवाचक शब्द के साथ चतुर्थी होने से ही सङ्गत होता है। कारण 'यूप' आदि कार्य वाचक शब्द चतुर्थी होने से ही उसके साथ 'तदर्थं' अर्थात् कारण वाचक शब्द आदि का चतुर्थी तत् पुरुष समास हो सकता[1] है। इससे 'चतुर्थी तदथार्थं—' इत्यादि से यह ज्ञापित होता है कि कार्य वाचक शब्द से ही चतुर्थी विभक्ति होती कारण वाचक से नहीं।

पतञ्जलिकृत व्याकरण महाभाष्य की प्रदीप टीका में 'तादर्थ्यं' शब्द की व्याख्या प्रसङ्ग में आचार्य कैयट ने कहा है कि 'तादर्थ्यं' शब्द का घटक 'तत्' शब्द है उसके द्वारा कार्य का निर्देश किया गया है। और 'तस्मै इदं' इस अर्थ में 'तदर्थम्' इस समास के द्वारा विशिष्ट कार्य है प्रयोजन या जिसका ऐसे कारण का अभिधान किया जाता है। उसके बाद 'तदर्थस्य भावस्तादर्थ्यम्' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से 'ष्यञ्' प्रत्यय से कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध अभिहित होता है। कारण वैयाकरण लोग यह कहते हैं समास, कृदन्त और तद्धितान्तशब्द के बाद भाव बोधक प्रत्यय से सम्बन्ध अभिधान होता[2] है। इस प्रसङ्ग में केवल 'कार्यप्रयोजन' ऐसा बहुव्रीहि न कहकर विशिष्ट कार्यप्रयोजन' इस प्रकार कहने से 'ब्राह्मणाय दधि' प्रयोग हो सकेगा। ब्राह्मण दधि का कार्य न होने पर भी भोजनविशिष्टब्राह्मण को वहाँ पर भी कार्य के रूप से कहा जा सकता[3] है।

---

१. गम्यमानविभक्तित्वाधदिति। चतुर्थी तदर्थेतिसूत्रेण ज्ञाप्यमानविभक्तित्वादि तद्धि ज्ञापकं कार्यवाचकाच्चतुर्थ्यां सत्यामेव सङ्गच्छते इति भाव:—उद्योत ४६७, निर्णय सागर प्रेस संस्करण।

२. तादर्थ्यं इति। तच्छब्देन कार्यं निर्दिश्यते। तस्मा इदं तदर्थमिति विशिष्टकार्यं प्रयोजनं कारणमभिधीयते। तदर्थस्य भावस्तादर्थ्यमिति कार्य सम्बन्ध उच्यते, समासकृत्तद्धितेषु भावप्रत्ययेन सम्बन्धाभिधानमिति वचनात्— प्रदीप, पृ० ४६७, निर्णयसागर प्रेस संस्करण।

३. 'ब्राह्मणाय दधि' इत्यादौ दध्नो ब्राह्मणकारणत्वाभावादुक्तं विशिष्टे भोजनविशिष्टो ब्राह्मण स्तत्रापि कार्यमिति भाव:—उद्योत, पृ० ४६७, निर्णयसागर प्रेस संस्करण।

तादर्थ्य में चतुर्थी की उपपत्ति 'चतुर्थी तदर्थार्थ बलिहितसुखरक्षितैः' (२-१-३६) इस समासविधायक सूत्र में योगविभाग करके भी की जाती[1] है।

'क्लृपि सम्पद्यमाने च'—क्लृप्त्यर्थक धातुओं के प्रयोग से सम्पद्यमान अर्थात् अभूतप्रदुर्भावरूप उत्पति के कर्तृवाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो। 'भक्तिर्ज्ञानाय' कल्पते भक्ति ज्ञान के रूप से परिणाम प्राप्त होता है।

यहाँ पर भी पूर्वोक्त प्रकार से योगविभाग[2] करके चतुर्थी विभक्ति की उपपत्ति की जा सकती है।

सम्पद्यमान शब्द का घटक सम् उपसर्गपूर्वक 'पद्' धातु का जो सम्पत्ति रूप अर्थ है, वह अभूत प्रादुर्भाव रूप उत्पत्ति[3] ही है। अर्थात् जो पहले नहीं था उसकी उत्पत्ति सम्पत्ति शब्द का अर्थ है। नागेश भट्ट ने लघुशब्देन्दु शेखर में सम्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति बतलायी है। वह भी अभूत का प्रादुर्भाव ही है। बालमनोरमा कार के मतानुसार सम्पत्ति का अर्थ है विकार के रूप से उत्पत्ति अर्थात् परिणाम[4]। शब्देन्दुशेखर में भी यही बात कही गयी है।

---

१. तत्रेदं प्रतिपादनम्। चतुर्थी इति योगविभागः क्रियते, तेन तादर्थ्ये चतुर्थी भवतीति—न्यास, पृ० १६७। प्रा० भा० प्रकाशन।

२. क्लृप्त्यर्थाना धातूनां प्रयोगे सम्पद्यमाने कर्त्तरि सम्पादनक्रियाविशिष्टे चतुर्थी वक्तव्या व्याख्येया इत्यर्थः। व्याख्यानं तु तमेव योगविभागमाश्रित्य—न्यास, पृ० १६७।

३. सम्पत्तिरभूतप्रादुर्भाव उत्पत्तिरिह गृह्यते—प्रदीप, पृ० ४९८, निर्णय सागर प्रेस संस्करण। सम्पत्तिशब्देन अभूततद्भावरूपा उत्पत्तिरुच्यते—उद्योत, पृ० ४९८, नि० सा० प्रेस, सम्पत्तिरभूतप्रादुर्भावरूपोत्पत्तिरिह गृह्यते—पदमञ्जरी, पृ० १६७, भाग २, प्रा० भारतीय प्रकाशन। सम्पत्तिरिहाभूतप्रादुर्भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. सम्पत्तिः विकारात्मना उत्पत्तिः परिणाम इति यावत्—बालमनोरमा, पृ० ६५०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। सम्पत्तिः उत्पत्तिः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२३, गुरुप्रसाद शास्त्री संस्करण।

वार्त्तिक में 'क्लृपि' पद क्लृप्' धातु से भाववाच्य में 'क्विप्' प्रत्यय जो
कर 'क्लृप्' शब्द से सप्तमी विभक्ति एक वचन में 'क्लृपि' पद बना है।

बालमनोरमा कार की व्याख्यानुसार 'क्लृप्' धातु का प्रयोग करने
सम्पद्यमान पदार्थ के वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति का उपदेश करना
चाहिये।[1]

तत्त्वबोधिनी टीका में न्यास टीका के अनुसार ही व्याख्या की गयी
कि क्लृप्त्यर्थक धातुओं के प्रयोग होने पर जो उत्पन्न होता है उसके वा
शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। अर्थात् विकारवाचक शब्द से चतुर्थी हो
है, कारण वह विकार ही उत्पन्न या प्रादुर्भूत होता[2] है।

'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'—इस वाक्य का अर्थ है भक्ति ज्ञान के रूप
परिणाम प्राप्त होता है। भक्ति का ज्ञान के रूप से जो परिणाम उसी प
णाम का बोध कराने के लिये क्लृपि सम्पद्यमाने च' यह वार्त्तिक सूत्र
गया है। नहीं तो तादर्थ्यचतुर्थी से 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' इत्यादि प्रयोग
उपपत्ति की जा सकती[3] है। 'भक्ति र्ज्ञानाय सम्पद्यते', 'भक्तिर्ज्ञानाय जा
इत्यादि वाक्यों का भी 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' इस वाक्य के बराबर ही
है। अर्थात् भक्ति ज्ञान के रूप से परिणाम प्राप्त होता है, यही इन वा
का भी अर्थ है। 'उत्पातेन ज्ञापिते च'—प्राणिओं के शुभ या अशु
सूचक आकस्मिक भूत विकार रूप उत्पात के द्वारा ज्ञापित यानी सू
विषय के बोधक शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो—ऐसा कहना चाहिये।

---

१. क्लृपिधातौ प्रयुज्यमाने सम्पद्यमानेऽर्थे वर्त्तमानाच्चतुर्थी वाच्येत्यर्थः—बालमनो
पृ० ६५०।

२. क्लृप्त्यर्थकधातुप्रयोगे यः सम्पद्यते तत्र चतुर्थी, विकारवाचकाच्चतुर्थीत्य
तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५१

३. परिणामत्वप्रकारकबोधार्थमिदं वचनम्, अन्यथा तादर्थ्यचतुर्थ्यैव सिद्धमित्याहुः
बालमनोरमा, पृ० ६५१। यद्यपि तादर्थ्ये चतुर्थ्येव भक्तिर्ज्ञानायेत्यादिप्र
सिध्यन्ति, तथापि परिणामत्वप्रकारकबोधार्थं मिदंवचनमित्याहुः—तत्त्व
पृ० ६५२।

'वाताय कपिला विद्युत्'—भूरे रंग की बिजली तुफान का सूचक यानी ज्ञापक[1] है। इस उदाहरण में 'भूरे रंग की विद्युत्' प्राकृतिक भौतिक विकार है, उससे तूफान की सूचना मिलती है, इसलिये 'वात' या तुफान, जो कि सूचित होता है, उसके वाचक 'बात' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

'वाताय कपिला विद्युत्'—श्लोक का एक अंश है। पूरा श्लोक काशिका वृत्ति में इस प्रकार दिया गया है—

'वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेयादुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥'

भूरे रंग की बिजली तुफान का, अधिक लाल रंग की धूप का, पीले रंग की वर्षा का, सफेद रंग की दुर्भिक्षा का ज्ञापक है।

पतञ्जलि के महाभाष्य में इस श्लोक का पाठ कुछ परिवर्त्तित रूप से है। वहाँ पर श्लोक इस प्रकार है—

'वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय[2] दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥'

श्लोक के तृतीय चरण में पाठान्तर है, जिसका अर्थ है काले रंग की सब के विनाश का (ज्ञापक) है।

'हितयोगे च'— हित शब्द के योग से भी चतुर्थी हो। 'ब्राह्मणाय हितम्' ब्राह्मण का इष्ट साधन। 'चतुर्थी तदर्थार्थ—' इत्यादि सूत्र से 'हित' शब्द के साथ चतुर्थ्यन्त पद का चतुर्थी तत् पुरुष समास का विधान करने से यह ज्ञापित होता है कि 'हित' शब्द के योग से चतुर्थी विभक्ति होती है। इस प्रकार 'सुख' शब्द के योग से भी चतुर्थी होती है, जैसे ब्राह्मणाय सुखम्[3] ब्राह्मण का सुखकर।

---

१. अत्र कपिला विद्युदुत्पातो वातस्य लक्षणम्। तेन ज्ञाप्यमाने बाते चतुर्थी भवति— न्यास, पृ० १६८, भाग २, प्रा० भा० प्रकाशन।
२. पातञ्जलमहाभाष्य, पृ० ४६८, नि० सागर प्रेस संस्करण।
३. [illegible] मंडप, लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

५८१ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । (२-३-१४)

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं, 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि ।

अनुवाद तथा विवृति ।

क्रियाफलक[1] क्रिया यानी क्रिया जिसका फल है ऐसी क्रिया जिसका उपपद है अर्थात् ऐसा क्रियावाचक पद[2] जिसका उपपद है[3], अप्रयुज्यमान ऐसे तुमुन्प्रत्ययान्त पद के प्रकृतिभूत धात्वर्थ क्रिया के कर्म में (अर्थात् कर्मवाचक शब्द में) चतुर्थी विभक्ति हो ।

'फलेभ्यो याति'—फलों को आहरण करने के लिये जाता है । फलान्याहर्तुं याति इत्यर्थः—फलों को आहरण करने के लिये जाता है, यह अर्थ है ।

'नमस्कुर्मो नृसिंहाय'—नृसिंह (भगवान्) को हमलोग नमस्कार करते हैं । 'नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः'—नृसिंह भगवान् को अनुकूल कराने के लिये यह अर्थ है । 'एवं स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि'—इसी तरह स्वयम्भू (भगवान्) को नमस्कार कर के—इत्यादि स्थल में भी (ऐसा समझना) है ।

---

१. क्रिया अर्थः फलं यस्य तत क्रियार्थम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२३, गु० प्र०।

२. तेन स्ववाचकं लक्ष्यते—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२३ ।

३. क्रियाफलकार्यवाचकमुपपदं यस्यैत्यर्थ :—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२३ ।

४. स्थानिशब्दश्च अप्रयुज्यमानवाची वैयाकरणानां निकाये प्रसिद्धः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२३ ।

(क) निकाये=शास्त्रे, चिदस्थिमाला (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७२३ । यत्र ... चार्थो न च प्रयुज्यते शब्दः स स्थानी' इति स्वनिकायप्रसिद्धिमा... —स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्येति—पदमञ्जरी, पृ० १६८ भाग २, प्रा० ... प्रकाशन । 'एतदुक्तं भवति यस्यार्थः प्रतीयते, न तु प्रयोगोऽस्ति, ... प्रयुज्यते—न्यास, पृ० [illegible], भाग २, प्राच्य भारती प्रकाशन ।

एक क्रिया के लिये जो अपर क्रिया होती है वह अपर क्रिया 'क्रियार्थ क्रिया' कहलाती है। उपपद शब्द एक यौगिक है, दूसरा पारिभाषिक है। जब यौगिक है तब उसका अर्थ होता है 'उप' अर्थात् समीप में उच्चारित द'[1]। तत्त्वबोधिनी टीकाकार भी 'उप' अर्थात् समीप में उच्चारित पद को 'उपपद' के रूप में मानकर इस सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में कहा है कि क्रिया है अर्थ यानी प्रयोजन जिसकी ऐसी क्रिया क्रियार्थ क्रिया है। ऐसी क्रियार्थ क्रिया जिसका उपपद हैं वह 'क्रियार्थोपद' है। इस प्रकार व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि यद्यपि 'क्रिया' उपपद नहीं हो सकती फिर भी उस क्रिया के वाचक शब्द के मारफत क्रिया का उपपदत्व समझना चाहिये। तब सूत्रस्थ 'कियार्थ' शब्द का अर्थ हुआ क्रियाफलक क्रिया का वाचक। फिर भी क्रियावाचक धातु 'उप' अर्थात् समीप में उच्चारित पदरूप उपपद नहीं हो सकता, कारण सुबन्त और तिङन्त को ही पद कहा जाता है। इसलिये क्रियाफलक क्रिया का वाचक कहने का मतलब है क्रियाफलक क्रिया का वाचक (धातु) है प्रकृति जिसका ऐसा पद। ऐसा पद 'फलेभ्यो याति' इस उदाहरण वाक्य में 'फलानि आहर्तुं याति' इस प्रकार अर्थ करने से 'याति' यह क्रिया पद ही होगा। कारण 'याति' पद का प्रकृति 'या' धातु है, जिसका अर्थ है गमन क्रिया'। वह गमन क्रिया फलों के आहरण के लिये है, इसलिये वह गमन क्रिया क्रियाफलक क्रिया हुई है। उस क्रिया फलक क्रिया का वाचक 'या' धातु 'याति' इस क्रियापद की प्रकृति है। अतएव क्रियाफलक क्रिया का वाचक धातु जिसका प्रकृति है ऐसा 'याति' यह तिङन्त पद ही अप्रयुज्यमान 'आहर्तुम्'-इस तुमुन् प्रत्ययान्त पद के लिये उपपद हुआ है। इस स्थिति में, 'आहर्तुम' इस तुमुन् प्रत्ययान्त पद की प्रकृतिभूत 'आ' पूर्वक 'हृ' धातु का कर्म फल के वाचक फल शब्द में द्वितीया न होकर चतुर्थी

---

१. उपोच्चारितं पदमुपपदम्—बालमनोरमा, पृ० ६५१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

विभक्ति हुई है[1]।

तादर्थ्य चतुर्थी के द्वारा 'क्रियार्थोपपदस्य'—इत्यादि सूत्र विहित चतुर्थी का काम हो सकता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण 'फलेभ्यो याति' इस वाक्य में जो 'याति' यह क्रिया पद है उसके प्रकृतिभूत 'या' धातु का गमन क्रिया रूप अर्थ फल के लिये नहीं, परन्तु फलकर्मक आहरण क्रिया के लिये है। अतः फलेभ्यो याति' इस वाक्य का फलकर्मक आहरण क्रिया के लिये 'यान' अर्थात् गमन क्रिया—ऐसा शाब्दबोध[2] होता है।

पदमञ्जरी और न्यास टीका में कहा गया है कि 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (३–१–९२) इस सूत्र से जो पारिभाषिक उपपद कहा गया है वह 'क्रियार्थोपपदस्य-इत्यादिसूत्र में गृहीत[3] होता है। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३--३--१०) इस सूत्र में क्रियार्थ क्रिया वाचक पद का सप्तम्यन्त करके उल्लेख करने से पूर्वोक्त 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' सूत्र के अनुसार क्रियार्थ क्रिया वाचक पद पारिभाषिक उपपद बन जाता है।

---

१. क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा क्रियार्था, सा क्रिया उपपदं यस्य। यद्यपि क्रियाया उपपदत्वं न सम्भवति, तथापीह स्ववाचकशब्दद्वारा तद् बोध्यम्। क्रियेति क्रियावाचकमित्यर्थः। क्रियावाचकस्यापि धातोरुपोच्चारितपदरूपोपदत्वं न सम्भवति सुप्तिङन्तस्यैव पदत्वात्, तथापीह, क्रियावाचकप्रकृतिकमित्यर्थो विवक्षितः। तादृशमुपपदं यस्य तुमुन्नन्तस्य तस्य कर्मणि चतुर्थी भवतीति निष्कृष्टोऽर्थः।—बालमनोरमा बोधिनी, पृ० ६५१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. न च तादर्थ्यचतुर्थ्या गतार्थता शङ्क्या, न हि यानक्रिया फलार्था, किन्तु फलकर्मकाहरणक्रियार्थैव। अतो न फलेभ्यस्तादर्थ्यचतुर्थी प्रसक्तिः। एवञ्च फलकर्मकाहरण क्रियार्था यानक्रियेति बोधः—बालमनोरमा पृ० ६५२, म० म० [illegible] शास्त्री संस्करण।

३. पारिभाषिकमुपपदं क्रियार्थमन्यत्र सम्भवतीत्ययमेव विषयो गृह्यते, अत्र [illegible] क्रियैव क्रियार्थोपपदं तेनायमर्थो लभ्यते इति 'भावः—पदमञ्जरी पृ० १६[illegible] प्रा० भारतीय प्रकाशन।

क्रियार्थोपपदस्य—इत्यादि सूत्र में द्वितीय क्रिया पद का उल्लेख न रहने पर भी 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्', इस सूत्र के अनुसार क्रियार्थं क्रिया के उपपद रहने पर 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय[1] विहित होने से अप्र-युज्यमान 'तुमुन्' प्रत्ययान्त का क्रियार्थ उपपद कर के क्रिया ही समझी जाती है।

'नमस्कुर्मो नृसिंहाय'—(हमलोग) नृसिंह भगवान् को नमस्कार करते हैं। नृसिंह भगवान् को अनुकूल करने के लिये (नमस्कार करते हैं) यह अर्थ है।

'एवं स्वयम्भुवे नमस्कृत्य'—इत्यादि, इसी तरह 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य'—स्वयम्भू (भगवान्) को नमस्कार करके—इत्यादि स्थल में भी (समझना चाहिये)। अर्थात् स्वयम्भू भगवान् को अनुकूल करने के लिये नमस्कार कर के—इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये।

'नमस्कुर्मो नृसिंहाय', 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादि वाक्य में 'नमः-स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' (२--३--१६) इस सूत्र से चतुर्थी हो सकती है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है। कारण, उपपद विभक्ति की अपेक्षा कारक विभक्ति के अधिक बलवान् होने से द्वितीया विभक्ति की आपत्ति हो जाती है[2]।

सूत्र में 'स्थानिनः' ऐसा कहने से तुमुन्प्रत्ययान्त पद का वाक्य में प्रयोग

---

१. 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' इति पारिभाषिकमुपदं तच्च 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्यस्मिन् विषये क्रियार्थोपपदं सम्भवतीतिति क्रियार्थोपपदग्रहणेनायं विषयो' लभ्यते। तत्र विषये क्रियार्थैव क्रियोपपदं सम्भवतीत्यसत्यपि द्वितीये क्रियाग्रहणे यदत्र क्रियार्थोपपदं तत् क्रियैवेति गम्यते-न्यास, पृ० १६८, प्रा०भा० प्रकाशन।

२. न चात्र 'नमः स्वस्ति'—इत्येव चतुर्थी सिद्धेति वाच्यम्, 'उपपदविभक्तेः कारक-विभक्तिर्बलीयसी' इति द्वितीयापत्तेः—बालमनोरमा, पृ० ६५२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। 'नमःस्वस्ती' त्यनेन न सिद्धिः, 'उपपदविभक्ते' रितिन्यायेन द्वितीयापत्तेः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२४ गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

करने पर कर्म में चतुर्थी नहीं होगी[1]। यथा, एधान् आहर्त्तुं व्रजति। 'आहर्त्तुम्' यह 'तुमुन्' प्रत्ययान्त पद अप्रयुज्यमान नहीं है, अतएव 'एधान्' इस पद में चतुर्थी नहीं हुई। सूत्र में 'क्रियार्थोपपदस्य' कहने से पिण्डी खाद्यद्रव्य के भोजन के तात्पर्य से गृह में प्रवेश कराने के लिये 'प्रविश पिण्डीम्'—पिण्डी (भक्षण के लिये) प्रवेश करो—इस प्रकार के प्रयोग करने पर 'पिण्डीम्' में चतुर्थी नहीं होगी। कारण, गृहप्रवेश यद्यपि भोजन के लिये है, तथापि भोजन के प्रति कृत्रिम (पारिभाषिक) उपपद नहीं है[2]। 'प्रविश पिण्डीम्' इस प्रयोग में भोजनार्थक 'भक्ष्' धातु अप्रयुज्यमान होने से 'स्थानी' हुआ है, परन्तु वह क्रियार्थोपपद नहीं है। कारण यह है कि 'तुमुन्' आदि विशिष्टप्रत्ययान्त शब्द ही सूत्रानुसार 'क्रियार्थोपपद' होता है। यहाँ पर अप्रयुज्यमान 'भक्ष्' धातु 'लोट्' प्रत्ययान्त है। क्रियार्थोपपद के रहते 'लोट्' का विधान नहीं होता है, इसलिये यहाँ 'भक्ष्' क्रियार्थोपपद नहीं है[3]।

सूत्र में 'कर्मणि' यह पद क्यों दिया गया है ? इसके उत्तर में काशिका वृत्ति में 'एधेभ्यो व्रजति शकटेन'—शकट या यान से काष्ठ आहरण करने के लिये जाता है ऐसा प्रत्युदाहरण दिया गया है। यहाँ करण कारक 'शकट' में चतुर्थी नहीं हुई। पदमञ्जरी टीकाकार हरदत्त के मतानुसार 'ब्राह्मणस्य एधेभ्यो व्रजति'—ब्राह्मण के काष्ठ आहरण करने के लिये जाता है

---

१. 'स्थानिन' इत्युक्तेस्तत्प्रयोगे नेति बोद्धव्यम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२४।

२. क्रियार्थोपपदस्य किम् ? प्रविश पिण्डीम्। गृहप्रवेशनं यद्यपि भक्षणार्थं भक्षिं प्रति कृत्रिमोपपदत्वं नास्ति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५२, म० म० गिरिधर संस्करण। 'पिण्डी' मित्यादाप्रयुज्यमानभक्षणक्रियाकर्मणि चतुर्थी 'क्रियार्थोपपदस्येति—लघुशब्देन्दु, पृ० ७२४। यद्यपि पिण्डीभक्षणार्थं गृह तथापि पारिभाषिकमुपपदं न भवतीति भावः—पदमञ्जरी, पृ० १६६ भाग २, भा० प्रकाशन।

३. तुमुन्नादिविशिष्टप्रत्ययान्तो हि क्रियार्थोपपदो भवति। अयन्तु लोडन्तः। न क्रियार्थोपपदे विधीयत इति न भवति असावत्र क्रियार्थोपपदः—न्यास, पृ० भाग २, प्रा० भा० प्रकाशन।

प्रकार प्रत्युदाहरण है । सूत्र में 'कर्म' का ग्रहण न करने से अन्यान्य उपपद-विभक्ति जैसे शेषषष्ठी की बाधा करती है, उसी तरह यह भी, 'ब्राह्मणस्य' पद में जो शेषषष्ठी है, उसकी बाधा करती[1] ।

८२ तुमर्थाच्च भाववचनात् । (२-३-१५)

'भाववचनाश्च' (३--३--११ सू० ३१८०) इतिसूत्रेण यो विहितस्त-दन्ताच्चतुर्थी स्यात् । यागाय याति । यष्टुं यातीत्यर्थः ।

अनुवाद तथा विवृति ।

'भाववचनाश्च' (३--३--११, सू० ३१८०) इस सूत्र से जो (प्रत्यय) विहित हुआ है, वह जिसके अन्त में हो, ऐसे प्रातिपदिक से चतुर्थी विभक्ति हो । 'यागाय याति'—याग करने के लिये जाता है, अर्थात् गमन का फल याग है, यह अर्थ है[2] ।

'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३--३-११०) इस सूत्र से क्रियार्थ क्रिया उपपद के रूप से रहने पर भविष्यत् काल में 'तुमुन्' तथा 'ण्वुल्' प्रत्यय होते हैं । यथा 'भोक्तुं व्रजति'—भोजन के लिये जाता है, इत्यादि । इस उदाहरण में भविष्यत् भोजनक्रिया के लिये गमन क्रिया अभिप्रेत है । इसलिये 'तुमुन्ण्वुलौ—' सूत्रस्थ सप्तम्यन्त क्रियार्थ क्रिया का वाचक 'व्रजति' यहाँ उपपद है[3] । इस प्रकार क्रियार्थ क्रिया वाचक 'उपपद' के रहते 'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है ।

अब 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इस सूत्र में कहते हैं कि 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ के समान अर्थवाले 'भावे' इस अधिकार के अन्तर्गत जो 'घञ्' आदि

---

१. इदं त्वत्र प्रत्युदाहरणं द्रष्टव्यम्—ब्राह्मणस्य एधेभ्यो व्रजतीति । असति कर्मग्रहणे इतरोपपदविभक्तिवदियमपि शेषविषयैव स्यात्—पदमञ्जरी, पृ० १६६, भाग २, प्रा० भा० प्रकाशन ।

२. यागफलकं यानमित्यर्थः—लघुशब्देन्दु, पृ० ७२४, गु० प्र० शास्त्री संस्करण ।

३. भविष्यद्भुजिक्रियार्थो व्रजतिरत्रोपदम्—बालमनोरमा, पृ० ६५२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण । भुजिक्रियार्थो व्रजतिरत्रोपपदम्—काशिकावृत्ति 'तुमुन्ण्वुलौ'—इत्यादि सूत्र व्याख्या प्रसङ्ग में ।

प्रत्यय विहित हुए हैं, उन प्रत्ययान्त शब्दों से चतुर्थी विभक्ति हो। 'याग' शब्द 'यज्' धातु के साथ 'घञ्' प्रत्यय जोड़कर बना है। इस 'घञ्' का 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ के समान अर्थ है। 'तुमुन्' प्रत्यय का अर्थ 'भावे' अर्थात् अव्ययात्मक 'कृत्' प्रत्यय का अर्थ 'भाव' या सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ है—इस सिद्धान्तानुसार 'भाव' अर्थ है।

'तुमर्थाच्च भाववचनात्' सूत्रान्तर्गत 'तुमर्थात्' पद बहुव्रीहिसमास पद है। और यह 'भाववचनात्' इसका विशेषण है।[२] 'तुमुनः अर्थ इव अर्थो यस्य तस्मात्' अर्थात् 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ के समान अर्थ जिसका 'भाववचनात्' यानी भाववाचक प्रत्यय जिनके अन्त में हो ऐसे प्रतिपदिक से चतुर्थी विभक्ति हो—ऐसा पूरे सूत्र का अर्थ होता है।

काशिका वृत्ति में 'तुमुना समानार्थस्तुमर्थः' ऐसी व्याख्या की गई है। इस विषय में पदमञ्जरीकार हरदत्त जी का मत यह है कि यह पद व्याख्यान है। तुमर्थ शब्द का विग्रह है 'तुम् अर्थोऽस्य'। 'तुम्' शब्द 'तुमर्थ' इस अर्थ में लक्षणा है।[३]

'तुमर्थ' इस समास रूप वृत्ति शब्द में 'समान' रूप अर्थ समझे जाने के कारण सूत्र में 'समान' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है[४]।

---

१. सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् स्यात—सिद्धान्तकौमुदी, 'भावे' व्याख्या प्रसग में, पृ० ५६८, निर्णय सागर प्रेस संस्करण। धात्वर्थः ... वोच्यते। यस्तत्र सिद्धता नाम धर्मस्तत्र घञाद्यः प्रत्यया विधीयन्ते सूत्रव्याख्याप्रसंग में काशिका वृत्ति। तस्य धात्वर्थस्य सिद्धता निष्पन्नता धर्मस्तत्र घञादयः प्रत्यया विधीयन्ते—'भावे, सूत्रव्याख्या प्रसंग में न्यास

२. तुमुनः अर्थ इव अर्थो यस्य तस्मादिति विग्रहः—बालमनोरमा, पृ० ६५... गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. वस्तुव्याख्यानमेतत्, विग्रहस्तु तुमर्थोऽस्येति तुम्शब्देन तुमर्थो लक्ष्यते— पृ० १६६, भाग, २, प्रा० भा० प्रकाशन। तुम्शब्देन तदर्थो लक्ष्यते यस्येत्यर्थः—लघुशब्देन्दु, पृ० ७२४, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

४. वृत्तौ गम्यमानत्वात् समानशब्दो न प्रयुक्तः—न्यास, पृ० १६६, भाग भा० प्रकाशन।

'भाववचनाश्च' इस सूत्र से विहित 'तुम्' प्रत्यय के समानार्थक 'घञ्' आदि प्रत्यय हैं—इस प्रकार व्याख्या करने का कारण यह है कि 'अव्ययकृतो भावे' इस सिद्धान्तानुसार 'तुम्' रूप अव्ययात्मक 'कृत्' प्रत्यय के सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थ रूप 'भाव' अर्थ में विहित होने से ही तुमर्थक प्रत्यय भाववाचक होते हैं, यह मालूम हो जाता है। इस स्थिति में फिर से 'भाववचनात्' इस प्रकार विशेषण पद के प्रयोग से सूत्र विशेष का अर्थात् 'भाववचनाश्च' इस सूत्र का ग्रहण करना सूत्रकार का अभिप्रेत है, यह समझा जाता है।[1]

तादर्थ्य चतुर्थी से इस सूत्र का काम नहीं चल सकता। कारण यह है कि जैसे 'तुमुन्' प्रत्यय के द्वारा तादर्थ्य द्योतित होता है उसी तरह क्रियार्थ क्रिया के उपपद रूप से रहते जो 'तुमुन्' प्रत्यय होता है उसके साथ समानार्थक 'भाववचनाश्च' (३-१-११) इस सूत्र के द्वारा विहित 'घञ्' प्रत्यय से भी 'तादर्थ्य' का बोध होने से 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इस न्याय से तादर्थ्य चतुर्थी की प्राप्ति न होने के कारण प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा की ही प्राप्ति हो जाती है। इसी तरह से प्राप्त प्रथमा विभक्ति को रोककर चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग के लिये 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' सूत्र की आवश्यकता[2] है।

सूत्र में 'तुमर्थात्' ऐसा क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में काशिका

---

१. 'अव्ययकृतो भावे' इति तुमुनो भाव एव विहितत्वेन तुमर्थकस्य प्रत्ययस्य भाववचनत्वे सिद्धे पुनर्भाववचनग्रहणं सूत्रविशेषपरिग्रहार्थम्—बालमनोरमा, पृ० ६५२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। 'अव्ययकृतो भावे' इति तुमुनो भाव एव विधानात् तदर्थस्य भाववचनत्वे सिद्धे पुनर्भाववचनग्रहणं सूत्रविशेषपरिग्रहार्थम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. न च 'तादर्थ्ये' इत्येव गतार्थता शङ्क्या, क्रियार्थक्रियोपपदकेन 'भाववचनाश्च' इति घञा तुमुनेव तादर्थ्यस्य द्योतितत्वात् प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाप्राप्तावेतत् सूत्रारम्भात्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५३, म० म० गिरिधर शास्त्री संस्करण। अत्र तादर्थ्यस्य तुमुनेव घञा द्योतितत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन तादर्थ्यचतुर्थ्या अप्राप्तौ प्रथमायाः प्राप्ताविदं वचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६५३, गिरिधर शास्त्री संस्करण।

वृत्ति में 'पाकः' 'त्यागः' 'रागः' ये प्रथमान्त प्रत्युदाहरण दिये गये। इसका मतलब यह है कि यदि सूत्र में 'भाववचनात्' इसके साथ 'तुमर्थं' यह पद न दिया जाय तो 'पाकः' 'त्यागः' इत्यादि 'घञ्' प्रत्ययान्त शब्द प्रथमान्त प्रयोग न होकर चतुर्थ्यन्त प्रयोग होने की आपत्ति हो जाय। अर्थात् 'पाकः', 'त्यागः' इत्यादि पद में भाववाचक 'घञ्' प्रत्ययान्त रहने पर भी क्रियार्थं क्रिया उपपद के रूप से न रहने के कारण यह प्रत्यय तुमर्थक नहीं होता है। बालमनोरमा टीका में इसका स्पष्टीकरण किया गया है।[1]

फिर 'भाववचनात्' यह पद सूत्र में क्यों कहा गया है? इसके उत्तर भी काशिका बालमनोरमा इत्यादि टीका ग्रन्थों में 'कारको व्रजति'—करने के लिये जाता है, 'पाचको व्रजति'—पाक करने के लिये जाता है, ये प्रत्युदाहरण दिये गये हैं।

'तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३-३-१०) इस सूत्र से 'कारक' या 'पाचक' में क्रियार्थ क्रिया उपपद के रूप से रहते 'ण्वुल्' प्रत्यय होने पर भी वह प्रत्यय भाववाचक न होकर कर्तृवाचक होने के कारण 'ण्वुल्' प्रत्ययान्त शब्द से चतुर्थी विभक्ति नहीं होती[2]। और यहाँ 'तादर्थ्य' ण्वुल् प्रत्यय के द्वारा अभिहित होने से 'कारक' या 'पाचक' शब्द में चतुर्थी न होकर प्रतिपदिकार्थ प्रथमा हुई है।[3]

---

१. पाकः त्यागः इत्यादौ घञो 'भावे' इत्यधिकारस्थत्वेऽपि न चतुर्थी। क्रियार्थोपपदत्वाभावेन तुमर्थकत्वाभावात्—बालमनोरमा, पृ० ६५३।

२. भाववचनादिति किम्? कारको व्रजति—काशिका 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' व्याख्या में। भाववचनादिति किम्? पाचको व्रजति। पक्तुं व्रजतीति 'तुमुन्ण्वुलौ—' इति ण्वुल्। तस्य तुमर्थकत्वेऽपि 'भावे' इत्यधिकारे विहितत्वाभावान्न चतुर्थी—बालमनोरमा, पृ० ६५३, गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. कारको व्रजतीति—'तुमुन्ण्वुलौ—' इति ण्वुल्। भवत्ययं तुमर्थो न तु भाववचनः किं तर्हि? कर्तृवचनः, तेन तदन्तान्न भवति—न्यास, पृ० १७०, (काशिका भाग २, प्रा० भा० प्रकाशन। तादर्थ्यस्य ण्वुलैवोक्तत्वान्न तादर्थ्यचतुर्थी, प्रथमैव—बालमनोरमा, पृ० ६५३।

९८३ नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च (२-३-१६)

एभि र्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । 'उपपदविभक्तेः कारक विभक्ति-र्बलीयसी' (प० १०३) । नमस्करोति देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' (वा १४६२) । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि ;साधुः 'तस्मै प्रभवति' (सू० १७६५) 'स एषां ग्रामणीः' (सू० १८७८) इति निर्देशात् । तेन 'प्रभुर्बुभूषु र्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि—'(सू० ६३१) इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति । स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

अनुवाद तथा विवृति

नमः (नमस्कार), स्वस्ति (मंगल), स्वाहा (देवता को दान), स्वधा (पितृपुरुष को दान), अलम् (पर्याप्ति) और वषट् (हवि का दान) के योग से चतुर्थी (विभक्ति) हो ।

एभि र्योगे इति—इनके अर्थात् 'नमः' आदि शब्दों के योग से चतुर्थी (विभक्ति) हो ।

'हरये नमः'—(भगवान्) हरि को नमस्कार ।

सूत्र में जो योग शब्द है वह 'युज्यते इति योगः' इस प्रकार व्युत्पति के अनुसार 'कर्म' अर्थ में युज् धातु के साथ घञ् प्रत्यय करके बना है । इसी 'योग' शब्द 'युक्त' इस अर्थ का बोध कराता है । तब सूत्र का अर्थ होता है, 'नमस्' इत्यादि शब्दों से युक्त प्रातिपदिक से चतुर्थी विभक्ति हो ।[1]

'उपपद विभक्तेः—' इत्यादि । 'उपपद विभक्ति की अपेक्षा कारक-विभक्ति अधिकतर बलवती है'—इस परिभाषा से 'नमस्करोति देवान्'—देवताओं को नमस्कार करता है (यह सिद्ध होता है ।)

पदान्तर के योग से जो विभक्ति होती है वह उपपद विभक्ति कहलाती

१. युज्यते इति योगः कर्मणि घञ् । 'नमस्' इत्यादिभिर्युक्तादित्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६५३ म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ।

है [१]। और क्रिया का जनक जो कर्त्ता आदि छः का अन्यतम, वह जिस विभक्ति का अर्थ है वह कारक विभक्ति कहलाती है [२]।

क्रिया में रहनेवाली विशेष्यता के द्वारा निरूपित जो क्रियाकारकभाव-सम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता, उसका प्रयोजक विभक्ति कारक विभक्ति कहलाती है—यह परिष्कारदर्पण में पण्डित श्री वेणीमाधव शुक्ल के द्वारा संगृहीत लक्षण है [३]। अथवा कारकत्व से व्याप्य जो कर्तृत्वादि, उसका बोधक विभक्ति कारक विभक्ति है [४]।

'उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिर्बलीयसी' यह वचन 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२--३--४) इस सूत्र की भाष्य में पठित है। यह वचन न्याय या युक्ति के द्वारा प्रमाणित है। इसकी युक्ति यह है कि क्रिया और कारक का सम्बन्ध अन्तरङ्ग है। उपपद के अर्थ के साथ कारक का जो सम्बन्ध है, वह यत्-किञ्चित् क्रियाकारक भावमूलक होने से उसके कारण जो विभक्ति है, वह बहिरङ्ग है। बालमनोरमा टीका में भी इसी तरह की बात है [५]।

---

१. पदान्तरयोगनिमित्तिका विभक्तिः उपपदविभक्तिः—बालमनोरमा, पृ० ६५४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. कारकविभक्तित्वञ्च क्रियाजनकत्वसमानाधिकरणकर्त्रादिषट्कान्यतमार्थत्वम्—लघु-शब्देन्दुशेखर, पृ० ७२५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितक्रियाकारकभावसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वं कारकविभक्तित्वम्—परिष्कारदर्पण, पृ० २५६। कारकत्वव्याप्यकर्तृत्वादिबोधकविभक्तित्वं वा कारकविभक्तित्वम्—परिष्कारदर्पण, पृ० २५६।

४. क्रियाकारकयोर्हि सम्बन्धः अन्तरङ्गः। उपपदार्थेन तु यत्किञ्चित्क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता विभक्तिर्बहिरङ्गेति कैयटः—बालमनोरमा, पृ० ६५५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. अस्तीतिक्रियानुषङ्गात् कमण्डलोः कर्तृत्वम् (अन्तरा त्वां मां च कमण्डलुः—इस वाक्य में)। तच्च तिङाभिहितमिति प्रथमा कारकविभक्तिः। सा चान्तरङ्गा, क्रियाकारकयोः सम्बन्धस्यान्तरङ्गत्वात्। उपपदार्थेन तु क्रियाद्वारकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता बहिरङ्गा विभक्तिः—प्रदीप, पृ० ४८६, खण्ड २, निर्णय सागर प्रेस संस्करण।

उद्योतटीका में नागोजी भट्ट (नागेश भट्ट) जी ने इस विषय का विचार करते हुए कहा—सर्वत्र सम्बन्ध किञ्चित्क्रियाकारकभावमूलक है, स्वस्वसम्बन्ध क्रयादिनिबन्धन होता है। परन्तु नागेश भट्टजी ने इस मत को कमजोर कहकर इसकी समालोचना भी की है।

उपपद विभक्ति के प्रयोगस्थल में कारक-विभक्ति के प्रयोगस्थल की अपेक्षा अर्थबोध में विलम्ब होता है। कारण यह है कि उपपद विभक्ति युक्त पद जिस वाक्य में प्रयुक्त होता है, उस वाक्य से अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिये पहले किसी क्रिया का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है, जैसे 'हरये नमः' इस वाक्य का अर्थ जानने के लिये नमस्कार के द्वारा हरि को उद्देश किया गया है, ऐसे पहले उद्देश क्रिया का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। बाद में नमस्कार के द्वारा उद्देश क्रिया का लक्ष्य हरि हैं, यह जाना जाता है। इस प्रकार से उद्देशन क्रिया के द्वारा किस के साथ नमस्कार का सम्बन्ध है यह जाना जाता है[1]। इसकी अपेक्षा सीधे 'नम्' धात्वर्थ क्रियारूप नमस्कार किस को किया जाता है, यह तिङन्त 'नमति' क्रियापद घटित वाक्य प्रयोग के द्वारा में अपेक्षाकृत कम समय में जाना जाता है।

अन्य मतानुसार उपपदविभक्ति से साधारणरूप से सम्बन्ध का ज्ञान होता है, विशेष सम्बन्ध का ज्ञान अर्थ प्रकरण आदि की पर्यालोचना से होता है। परन्तु कारकविभक्ति के द्वारा कर्मत्वादि विशेष सम्बन्ध जल्दी से ही जाना जाता है, इसलिये उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती है[2]।

'नमस्करोति देवान्' इस वाक्य में जो नमःपूर्वक—'कृ' धात्वर्थ नमस्कार है वस्तुतः उसकी व्याख्या करते हुए नागेशभट्ट जी ने शब्देन्दुशेखर में कहा है

---

1. हरये नम इत्यत्र तूद्देशनक्रियाद्वारा हरिनमस्कारयोः सम्बन्धः, हर्युद्देश्यको नमस्कार इति। एवं च उद्देशेन (उद्देशन ?) क्रियावगतौ विलम्ब इति कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वमित्येके—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

2. अन्ये तूपपदविभक्त्या सम्बन्धसामान्यमवगम्यते, तद्विशेषावगमस्तु अर्थप्रकरणादि-पर्यालोचनाधीनः। कारकविभक्त्या तु कर्मत्वादिसम्बन्धविशेषो झटित्येवावगम्यत इति तस्या बलीयस्त्वमित्याहुः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५४।

कि नमस्कार करनेवाले व्यक्ति में जो अपकृष्टत्व या अपकर्ष है उसका ज्ञान
कि उत्कृष्ट में रहता है, उस ज्ञान के अनुकूल जो अपकृष्ट व्यक्ति का कार्
सयोगादि रूप व्यापार है, वही नमस्कार है[1]। उस अपकृष्टत्वका ज्ञान
धात्वर्थतावच्छेदक क्रियाजन्य फल का आश्रय होने से 'देव' कर्म हुए।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'नमः' पूर्वक कृधातु के प्रयोग स्थल
पूर्वोक्त नमस्कार रूप अर्थ 'कृ' धातु का ही है। 'नमः' शब्दरूप 'निपात'
'कृ' धातु का उस प्रकार नमस्कार रूप अर्थ में जो तात्पर्य है, यह सम
है[2]। इसीलिये 'देवान्' पद में जो द्वितीया विभक्ति है, वह कारक वि
है। 'कृ' धात्वर्थरूप नमस्कार क्रिया का जनकत्व देव में रहने के कारण
कारक है, और धात्वर्थतावच्छेदक क्रिया जन्य फलशाली होने से कर्मकारक

'हरये नमः'—भगवान् हरि को नमस्कार, इस वाक्य में 'नमः' शब्द
नमस्कार का बोधक है। इस स्थल में 'नमः' शब्दरूप 'निपात' को
नमस्कार का वाचक करके मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसे स्थल में बोधक
शक्ति को ही वाचकत्व कहना पड़ेगा[3]।

वैयाकरण सम्प्रदाय में 'निपातों' को द्योतक के रूप से मानने का
आग्रह[4] है। परन्तु स्थल विशेष में बोधकत्वरूप वाचकत्व भी मान
वैयाकरणभूषणसार ग्रन्थ में पक्षान्तर के रूप में निपातों का वाचक
माना गया है[5]।

---

१. उत्कृष्टनिष्ठो यः स्वनिष्ठापकृष्टत्वबोधस्तदनुकूलव्यापाररूप—नमस्कारफलस्य बोधस्याश्रयतया देवानां कर्मत्वम्। स्वशब्देन प्रयोक्ता, लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. उक्तोऽर्थोऽत्र कृधातोरेव नमःशब्दो निपातो द्योतकस्तदाह—लघुशब्देन्दु० पृ० गु० शा० संस्करण।

३. निपातानां तत्तदर्थवाचकत्वमेव युक्तम्। बोधकतारूपशक्तेरबाधात्—वैयाकरण भूषणसार, पृ० ३०२, चौखम्बा संस्करण।

४. 'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा।' येन हेतुना प्रादयो द्योतकास्तेन हेतुना चादयो निपातास्तथा द्योतका इत्यर्थः। वैयाकरणभूषणसार, ४२ कारिका।

५. 'निपातानां वाचकत्वमन्वयव्यतिरेकयोः' वै० भूषणसार, ४७ कारिका।

'प्रजाभ्यः स्वस्ति'—प्रजा सम्बन्धी मङ्गल, प्रजाओं को मङ्गल ।
'अग्नये स्वाहा'—अग्न्युद्देश्यक द्रव्यदान, अग्नि देवता को दान ।
'पितृभ्यः स्वधा'—पित्रुद्देश्यक द्रव्यदान, पितरों को दान ।

'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्'। 'नमःस्वस्ति' इत्यादि—सूत्र में स्थित 'अलम्' शब्द से पर्याप्त्यर्थक शब्दों का ग्रहण किया गया[1] है। अतएव, अर्थात् 'अलम्' शब्द के द्वारा पर्याप्त्यर्थक शब्दों का ग्रहण करने से, दैत्यों के लिये हरि पर्याप्त, प्रभु, समर्थ शक्त हैं—इत्यादि प्रयोग हो सकते हैं। व्याकरण सम्प्रदाय की आचार्यपरम्परा की व्याख्या के आधार पर यह अर्थ समझा जाता है[2]।

'अलम्' शब्द के भूषण, पर्याप्ति तथा प्रतिषेध (वारण) अर्थ हैं। इस सूत्र में साम्प्रदायिक व्याख्यान के अनुसार केवल पर्याप्ति रूप अर्थवाले शब्दों का ही ग्रहण करना चाहिये ।

कहने का मतलब यह है कि 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१-१-६८) इस सूत्र के अनुसार अलंशब्द का ही ग्रहण करने से 'कुमारीणाम् अलङ्कारः'—कुमारियों का अलङ्कार—इस वाक्य में भी 'कुमारीणाम्' इस षष्ठी विभक्त्यन्त पद के स्थल में चतुर्थ्यन्त पद प्रयोग की आपत्ति हो जाती है। तथा 'दैत्येभ्यः हरिरलम्'—दैत्यों के लिये हरि समर्थ हैं—केवल इसी स्थल में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हो सकती है, 'दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः' इत्यादि स्थल में दैत्यशब्द से चतुर्थी विभक्ति नहीं हो सकती—इसलिये वैयाकरण आचार्य परम्परा की व्याख्या के अनुसार सूत्रस्थ 'अलम्' शब्द से केवल 'अलम्' इस शब्द स्वरूप का ग्रहण न करके पर्य्याप्त्यर्थक सभी शब्दों का ग्रहण करना चाहिये[3]।

---

१. अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थकशब्दानां ग्रहणमित्यर्थः—अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणम्, व्याख्यानादित्यर्थः। बालमनोरमा, पृ० ६५४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण ।

२. अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणं व्याख्यानादित्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२५, गु० प्र० शास्त्री, संस्करण ।

३. 'स्वं रूपं शब्दस्य—' इति अलंशब्दस्यैव ग्रहणे कुमारीणामलङ्कार इत्यत्रातिव्याप्तिः। किंच दैत्येभ्यो हरिरलम् इत्यत्रैव स्यात्, दैत्येभ्यो हरिः प्रभुरित्यादौ न स्यादित्यत आह—अलमितीति। बालमनोरमा, पृ० ६५४ ।

उपर्युक्त अर्थ को समझने के लिये पाणिनि मुनि के अपने द्वारा रचित एक सूत्र ज्ञापक[1] के रूप से भी कहा गया है। 'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः' (५-१--१०१) इस सूत्र में सामर्थ्य के या प्रभुत्व करने के अर्थ में 'प्रभवति' पद के योग से "तस्मै" यह चतुर्थ्यन्त पद का प्रयोग पाणिनि मुनि ने स्वयं ही किया है।

अतः इससे यह ज्ञापित होता है कि 'नमःस्वस्ति'—इत्यादि सूत्रस्थ 'अलम्' शब्द को पर्याप्त्यर्थक करके समझना चाहिये। पर्याप्तिशब्द का 'सामर्थ्य'[2] अर्थ है।

'प्रभु' आदि शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग भी साधु प्रयोग है। इसके लिये भी 'स एषां ग्रामणीः'। (५--२--७८) यह सूत्र ज्ञापक है। पाणिनि के इस सूत्र में ग्राम का नेता या मुखिया के अर्थ में 'ग्रामणी' शब्द का प्रयोग किया गया है। नेता या मुखिया भी एक प्रकार प्रभु ही है। इस ग्रामणी शब्द के योग से सूत्रस्थ 'एषाम्' पद में षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से यह ज्ञापित होता है कि 'प्रभु' आदि शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग भी ठीक ही है। इसलिये 'प्रभुर्बुभूर्भुवनत्रयस्य'—त्रिभुवन का प्रभु होने के लिये इच्छुक होकर, माघ कवि के इस प्रयोग में 'प्रभु' शब्द के योग से 'भुवनत्रयस्य' पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सिद्ध हुआ है।

पदमञ्जरी टीका में हरदत्तजी के मतानुसार सूत्रस्थ अलंशब्द के द्वारा अर्थ का ग्रहण किया गया है, उसमें भी पर्याप्तिरूप अर्थ का ग्रहण किया गया है[3]। अलंशब्द के द्वारा जो उस शब्द की पर्याप्तिरूप अर्थ का ग्रहण किया गया है। यह 'तस्मै प्रभवति'—इस सूत्र के निर्देश से मालूम होता है[4]। न्यास टीका में इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है कि अलं शब्द के साथ समानार्थक

१. तत्र ज्ञापकमप्याह तस्मै प्रेति—लघुशब्दे०, पृ० ७२५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
२. पर्याप्तिः सामर्थ्यम्—चिदस्थिमाला, (लघुशब्देन्दु०) पृ० ७२५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
३. अलमित्यर्थग्रहणं तत्रापि पर्याप्तिग्रहणमित्यर्थः। तत्र तावदर्थ-ग्रहणं 'तस्मै प्रभवति' निर्देशात—पदमञ्जरी (काशिका भाग २) पृ० १७१, प्रा०भा० प्रकाशन।
४. अलमिति पर्याप्त्यर्थस्य ग्रहणमिति। 'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः' इत्यलंशब्द-समानार्थेन प्रभवतिशब्देन योगे चतुर्थी-निर्देशाल्लिङ्गात—न्यास (काशिका भाग २), पृ० १७१, प्रा० भा० प्रकाशन।

'प्रभवति' शब्द के योग से चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग से यह मालूम होता है कि सूत्रस्थ अलंशब्द से पर्याप्ति या सामर्थ्यरूप अर्थ का ग्रहण किया गया है।

अब प्रश्न उठता है कि 'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्य:' इस सूत्र के निर्देश से अलंशब्द से शब्द का ग्रहण न करके अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। परन्तु अलशब्द का भूषण, वारण (निषेध) तथा पर्याप्ति— ये अर्थ होते हैं। इन अर्थों में से केवल पर्याप्ति रूप अर्थ का ही ग्रहण होगा—यह कैसे मालूम हो ? इसके उत्तर में पदमञ्जरी तथा न्यास दोनों टीकाओं में कहा गया है कि— 'कन्याम् अलङ्कुरुते'— कन्या को भूषित करता है—इस प्रयोग में 'उपपद-विभक्ते: कारक विभक्ति र्बलीयसी' इस परिभाषा से 'कन्याम्' पद में अनुक्त कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति होगी। इसी प्रकार 'अलं रोदनेन'—रोने से कुछ साध्य नही है— इस प्रयोग में 'रोदनेन' पद में अनुक्त करण कारक में तृतीया विभक्ति होगी। तब पर्याप्तिरूप अर्थ ही बच जायगा, जिसके वाचक 'अलम्' आदि शब्द के योग से चतुर्थी विभक्ति हो सकेगी[1]।

चकार: पुनर्विधानार्थ: इत्यादि—

'नम: स्वस्ति'—इत्यादिसूत्र के अन्त में जो 'च'कार या 'च' शब्द है, वह 'नम:' प्रभृति शब्द के योग से जो चतुर्थी विभक्ति का विधान किया गया है फिर से उसी विधान का दुबारा विधान या समुच्चय के लिये कहा गया है। इस पुनर्विधान से 'चतुर्थीचाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितै:' (२--३--७३) इस परवर्ती सूत्र के द्वारा आशीर्वाद अर्थ में 'स्वस्ति' शब्द के योग से विकल्प में जो षष्ठी विभक्ति हो सकती है उसको बाधित करके केवल चतुर्थी विभक्ति ही होगी। यथा 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्'— गायों को कल्याण हो। न्यास टीका

---

१. इह चालंकुरुते कन्यामिति 'उपपदविभक्ते: कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति द्वितीया भविष्यति। एवम् अलमोदनेनेत्यत्रापि करणे तृतीया, ओदनेन न किञ्चित्साध्य-मित्यर्थावगमात्, तेन भूषणप्रतिषेधयोरग्रहणात पर्याप्तेरेवग्रहणम्—पदमञ्जरी (काशिका भाग २) पृ० १७१ प्रा० भा० प्रकाशन। कन्यामलंकुरुते इत्यत्र 'उपपदविभक्ते: कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीययैव भवितव्यम्। अलं बाले रोदनेनेत्यत्राप्यत एव हेतो: करणे तृतीययैव। न्यास (काशिका भाग २) पृ० १७१, प्रा० भा० प्रकाशन।

में इस बात का स्पष्टीकरण इसी प्रकार से किया गया है[1]।

अब एक प्रश्न उठ सकता है कि पुनर्विधान से जैसे षष्ठी विभक्ति की बाधा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है, उसी तरह कारक-विभक्ति की भी बाधा होकर 'कन्यामलङ्कुरुते' इत्यादि वाक्य में 'कन्याम्' पद में द्वितीया विभक्ति के स्थल में भी चतुर्थी विभक्ति ही होगी। तब अलंशब्द का पर्याप्तिरूप अर्थ का ग्रहण करना है, और उसी अर्थ में अलंशब्द के योग से चतुर्थी होगी, यह भी कहना सम्भव नहीं होगा। कारण अलङ्कार अर्थ में भी अलंशब्द के योग से चतुर्थी विभक्ति होने की आपत्ति हो जायगी।

इस प्रश्न को उठाकर न्यास टीका में उत्तर के रूप से कहा गया है कि कारकविभक्ति उपपद विभक्ति से बलवती होने से 'कन्याम् अलङ्कुरुते' इस वाक्य में स्थित 'कन्याम्' पद में द्वितीया विभक्ति ही होगी। चतुर्थी विभक्ति के पुनर्विधान से कारक विभक्ति का स्थल छोड़कर 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' इत्यादि उपपद विभक्ति के प्रयोग स्थल में ही 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्य-' इत्यादि सूत्र से आशीर्वाद अर्थ में भी 'स्वस्ति' शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति न होकर चतुर्थी ही होगी[2]।

५८४ मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु (२--३--१७)

प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात् तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात् तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्वे। 'अप्राणिष्वित्यपनीय नौकाकान्नशुकसृगालवर्जेष्विति वाच्यम्' (वा १४६४) तेन न त्वां नावं मन्ये' इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव।

---

१. यदेतन्नमःप्रभृतियोगे चतुर्थीविधानं तत्समुच्चयार्थश्चकारः। तेन पुनर्विधानात् 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्य—' इत्यादिना आशीर्विवक्षायां पक्षे या षष्ठी विहिता तामपि बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति—न्यास (काशिका भाग), पृ० १७१, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. यद्येवं कारकविभक्तिमपि बाधित्वा 'कन्यामलङ्कुरुते' इत्यादौ चतुर्थ्येव स्यात्, तत्र यदुक्तम् सामर्थ्यात्, पर्याप्त्यर्थस्यैव ग्रहणं भविष्यतीति, तन्नोपपद्यते? नैष दोषः कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वात्, पुनर्विधानस्य चान्यत्र चरितार्थत्वात्—न्यास (काशिका भाग २), पृ० १७१, प्रा० भा० प्रकाशन।

अनुवाद तथा विवृति

(दिवादिगणीय श्यन् विकरण) मन् धातु के प्राणिभिन्न कर्म में अर्थात् कर्मवाचक शब्द में विकल्प से चतुर्थी विभक्ति हो, तिरस्कार समझे जाने पर। 'न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा'—तुम को मैं घास फूस के माफिक नहीं समझता।

'श्यन्' विकरण के साथ निर्देश करने से दिवादिगणीय 'मन्' धातु का ही ग्रहण होता है, तनादिगणीय 'नु' विकरण 'मन्' धातु का नहीं। अतः 'न त्वां तृणं मन्वे'—तुमको मैं तृण के रूप से नहीं समझता' इस वाक्य में अनादर द्योतक कर्म 'तृण' के वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति नहीं होगी।

'मन्य कर्मण्यनादरे—' इत्यादि सूत्र में 'मन्य कर्मणि' के स्थल में 'मनिकर्मणि' ऐसा कहने पर लघुलक्षण हो सकता था। फिर भी ऐसा न कहके 'मन्य कर्मणि' कहने से दिवादिगणीय श्यन् विकरण 'मन्' धातु को ही समझना, जिसका फल अभी अभी ऊपर में कहा जा चुका है। और यह 'श्यन्' का उपलक्षण[1] है, विशेषण नहीं। अतः दिवादिगणीय 'मन्' धातु का 'श्यन्' रहित प्रयोग के स्थल में भी अनादर सूचक कर्मवाचक शब्द में चतुर्थी होगी। इसलिये 'तृणाय मत्वा रघुनन्दनोऽथ बाणेन रक्षः प्रधनान्निरास्थत्'—अनन्तर रघुनन्दन ने राक्षस को तृण के मांफिक समझ कर युद्ध से हटाया'—यह भट्टिकाव्य का प्रयोग संगत होता है। फिर भी 'मन्यकर्मणि', शब्द में 'मन्य'—इसे 'यक्' युक्त निर्देश नहीं समझना। कारण इस सूत्र में भी 'अनभिहिते' का अधिकार है। 'यक्' का योग होने पर कर्म अनभिहित नहीं होता है।[2]

सूत्रस्थ 'अप्राणिषु' शब्द को हटाकर 'नौकाकान्नशुकसृगालवर्जेषु' यह कहना है। अर्थात् सूत्र में जो 'अप्राणिषु' शब्द है उसकी जगह 'नौकाकान्नशुक-

---

१. श्यन्नपि दैवादिकधातूपलक्षणमात्रम्, नतु स्वयं विवक्षितः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। 'मन ज्ञाने' इत्यस्य दैवादिकस्य धातोः उपलक्षणम्, न तु प्रयोगस्थस्य श्यनन्तस्यानुकरणमित्यर्थः—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २), प्रा० भा० प्रकाशन।

२. न च मन्य इति यका निर्देशः किं न स्यात् इति वाच्यम्, अनभिहित इत्यधिकारात्, यदि यका योगे अनभिहितं कर्म सम्भवति—तत्त्वबोधिनी,, पृ० ६५५।

सृगालवर्जेषु' यानी नौ, काक, अन्न, शुक और सृगाल इन शब्दों को छोड़
दूसरे अनादर सूचक कर्म के वाचक शब्द से विकल्प में चतुर्थी विभक्ति
अतः 'न त्वां नावं मन्ये'—तुमको छोटी नौका के रूप में भी मैं नहीं मानता
इस वाक्य में अप्राणिवाचक होते हुए भी 'नौ' शब्द से चतुर्थी विभक्ति
हुई। 'न त्वां शुने मन्ये—' तुमको मैं कुत्ता करके भी नहीं मानता—
वाक्य में कुत्ता वाचक श्वन्' शब्द में कुत्ता प्राणी होने पर भी चतुर्थी
ही है।

पूर्वोक्त उदाहरणों से तिरस्कार कैसे प्रतीत होता है यह भाष्यकार
ञ्जलि के वचन के आधार पर नागेश भट्टजी ने उद्योत, टीका में बताया
न त्वां नावं मन्ये—तुमको (मैं) छोटी नाव के रूप में नहीं मानता
'युष्मत्' शब्द बोध्य बड़ी नौका से यह वाक्य कहा जा रहा है कि छोटी
से पार करने योग्य जलाशय को भी अगर तुम बड़ी नाव होकर भी पार
करा सकती हो तो तुमको मैं एक छोटी नाव की दृष्टि से भी नहीं देखता।[1]

उसी तरह 'न त्वामन्नं मन्ये'—तुमको मैं अन्न के रूप में नहीं मानता
इस वाक्य में भी भाष्यकार के कथन के आधार पर नागेश भट्ट जी ने
कि चूंकि श्राद्धान्न श्राद्ध के लिये आये हुए ब्राह्मणों ने नहीं खाया है
तुम्हें यानी अपूप (पीठा) रूप अन्न को मैं ओदन या साधारण अन्न
रूप से भी नहीं मानता[2]।

ऐसे काक, शुक और शृगाल (शृगाल) रूप कर्म के प्रयोग स्थल
इसी तरह से तिरस्कार समझ लेना है।

---

१. न त्वा नावं मन्ये यावत्तीर्णं न नाव्यम्—महाभाष्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ४६६
सा० प्रेस संस्करण। यावद् यतो नाव्यं नावा स्वल्पनौकया तार्यमपि
महत्याऽपि न तीर्णमतस्त्वां नावमुडुपमपि न मन्ये इत्यर्थः। नौशब्देनोडुपं
नौकोच्यते। त्वांशब्दार्थस्तु महती नौः। एवं हि अनादरो भवतीत्याहुः—
म० भाष्य, खण्ड २, पृ० ४६६।

२. न त्वामन्नं मन्ये यावद्भुक्तं न श्राद्धमिति—म० भाष्य, खण्ड २, पृ० ४६६
श्राद्धं श्राद्धीयैर्विप्रैर्न भुक्तमतस्त्वामपूपरूपमन्नमोदनमपि न मन्ये इत्यर्थः
उद्योत, म० भाष्य, खण्ड २, पृ० ४६३।

'मन्यकर्मण्यनादरे—' इत्यादि सूत्र में जो 'अनादर' शब्द है—उसका अर्थ केवल आदर का अभाव नहीं है, अपितु अधर्मादि शब्दों में जैसे 'नञ्' शब्द का 'विरोधी' अर्थ होने से अधर्म शब्द का धर्म विरोधी कोई पदार्थ प्रतीत होता है, उसी प्रकार अनादर शब्द से आदर विरोधी 'तिरस्कार' रूप अर्थ समझना है। और वह तिरस्कार भी 'प्रकृष्य कुत्सितग्रहणं कर्त्तव्यम्' इस भाष्योक्तवार्तिक के आधार पर वैयाकरण सम्प्रदायानुसारी व्याख्यान से उपमान भूत जो अपकृष्ट पदार्थ है उसके द्वारा निरूपित उपमेयत्व का भी अभाव 'न त्वां तृणं तृणाय वा मन्ये' इत्यादि वाक्य से उपमेय पदार्थ में प्रतीत होता है। इसीलिये 'नञ्' घटित वाक्य प्रयोग के स्थल में ही इस सूत्र के अनुसार अनादर सूचक कर्मवाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है।'[1]

'मन्यकर्मण्यनादरे'—इत्यादिसूत्र में जो 'अनादरे' पद है वह 'मन्' धातु के कर्म का विशेषण है। इससे अनादर द्योतक कर्म वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती है, यही समझा जाता है। अतः 'युष्मत् शब्द' से चतुर्थी विभक्ति नहीं होती। 'न त्वां तृणाय मन्ये' इस वाक्य में अनादरद्योतक कर्म तृण ही है, युष्मदर्थ नहीं। इसलिये 'युष्मत्' शब्द से चतुर्थी नहीं हुई।[2]

केवल 'नञ्' घटित वाक्य प्रयोग के स्थल में ही अनादर द्योतक कर्म के

१. 'अनादरो न आदराभावमात्रम्, अपितु नञोऽधर्मादाविव प्रतिपक्षवाचित्वात् तिरस्कार इति भावः·········तिरस्कारश्च व्याख्यानादपकृष्टनिरूपितोपमेयत्वस्यापि अभावरूप उपमेयेऽत्र गृह्यते, नत्वपकृष्टसादृश्यरूपः। तत्प्रतीतिस्तु नञ्समभिव्याहारे एव। तृणतुल्यमपि न मन्ये इत्यर्थः। शब्देन्दुशेखर, पृ० ७२६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। यद्यप्यनश्चतुर्थी विधीयते ततः प्रकर्षेण यदि कुत्सा प्रतिपाद्यते तदा-चतुर्थी भवति न तु साम्यविवक्षायाम्। तेन प्रतिषेधयुक्तायां कुत्सायां चतुर्थी विधानं सम्पद्यते—भाष्यप्रदीप पृ० ४६९। महाभाष्य खण्ड २ नि० सागर प्रेस संस्करण।

२. तत्रानादर इतिमन्यकर्मविशेषणं तद्द्योतकं यत्कर्मेत्यर्थः। तेन युष्मच्छब्दाच्चतुर्थी न—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७२६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। 'ननु तृणादिवद् युष्मच्छब्दादपि पक्षे चतुर्थ्या भाव्यम्। मैवम्, 'अनादरे' इत्यस्य कर्मविशेषणत्वेन अनादरद्योतकं यत् कर्म तत्र चतुर्थीति व्याख्यानात्। तृणं ह्यत्रानादरद्योतकं न तु युष्मदर्थः'—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है, संक्षेप में इस बात की चर्चा शब्देन्दु-शेखरकार नागेशभट्टजी तथा महाभाष्य के प्रदीपटीकाकार कैयटजी के मत का उल्लेख कर के इससे पहले की गयी है। तत्त्वबोधिनी टीका तथा बालमनोरमा टीका में भी इस प्रसङ्ग में आलोचना की गयी है जिसका सारांश यह है कि 'प्रकृष्य कुत्सितग्रहणं कर्त्तव्यम्' इस वार्त्तिकसूत्र के आधारपर यद्वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति का विधान किया जाता है उस शब्द के प्रतिपाद्य वस्तु से निकृष्ट रूप से किसी को बताकर यदि कुत्सा या निन्दा का प्रतिपादन किया जाता है तब चतुर्थी विभक्ति होती है, दोनों में साम्य की विवक्षा करने पर नहीं। उस प्रकार कुत्सा की प्रतीति 'नञ्' के प्रयोग से जल्दी से होती है इसलिये 'न त्वाम्'—इत्यादि निषेधार्थक 'नञ्' घटित वाक्य का प्रयोग किया गया है। 'न त्वां तृणाय मन्ये' इस वाक्य से तृण से भी अधमत्व की प्रतीति होने से तिरस्कार का आधिक्य प्रतीत होता है।' त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा कहने पर तृण के साथ साम्य प्रतीत होता है, उससे अपकर्ष नहीं। इसलिये भाष्योक्त उदाहरण में भी 'नञ् का उल्लेख किया गया है।

'श्यन्' विकरण के साथ 'मन् धातु का निर्देश करने से तनादिगणीय 'मन् धातु के, जो श्यन् विकरणयुक नहीं है, योग से चतुर्थी नहीं होती, जैसे कि 'न त्वां तृणं मन्वे,—तुम को मैं तृण के बराबर नहीं समझता—इस वाक्य में देखा जाता है।

'अप्राणिष्वित्यपनीय नौकाकान्नशुकसृगालवर्जेष्विति वाच्यम्'—इस वार्त्तिक सूत्र में जो 'अप्राणिषु पद है उसको हटाकर उसके स्थलपर 'नौकाकान्न-शुकसृगालवर्जेषु' ऐसा कहना चाहिये। अर्थात् नौ, काक, अन्न, शुक तथा

१. प्रकृष्य कुत्सितग्रहणं कर्त्तव्यमिति वार्त्तिकमस्ति, तेन यद्वाचिनश्चतुर्थी विधीयते ततो निकृष्टत्वेन यदि कुत्सा प्रतिपाद्यते, तदा चतुर्थी भवति, न तु साम्यविवक्षायाम्। तादृशी च कुत्साप्रतीतिर्नञः प्रयोगे झटित्येव भवतीति न त्वामित्युक्तमिति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५४। 'नञ् पादानादयमर्थो लभ्यते। तृणादप्यधमत्वप्रतीत्या तिरस्कारातिशयः फलितः। तृणं त्वां मन्ये तृणाय वा' इत्युक्तौ तु तृणसाम्यं प्रतीयते। न तु ततोऽप्यपकृष्टत्वम्। एतदेवाभिप्रेत्य भाष्येऽपि नञ् पाठः—बाल-मनोरमा पृ० ६५५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

तुगाल—इन पांच कर्मों को छोड़कर बाकी अनादरद्योतक मन धातु के कर्म-वाचक शब्दों से विकल्प में चतुर्थी विभक्ति हों। इस प्रकार कहने से 'न त्वां नावं मन्ये'—तुम को मैं नाव के रूप से नहीं समझता—इस वाक्य में प्राणिवाचक होने पर भी 'नौ शब्द में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती। और 'न त्वां शुने मन्ये'—तुम को मैं कुत्ते के रूप से नहीं समझता—इस वाक्य में प्राणिवाचक होने पर भी 'श्वन्' शब्द में चतुर्थी विभक्ति होती ही है। काशिका वृत्ति के अनुसार व्यवस्थित विभाषा अवलम्बन कर के इन सब प्रयोगों की उपपत्ति की गयी है।

'मन्यकर्मण्यनादरे'—इत्यादि सूत्र में 'मन्' धातु का ही ग्रहण क्यों किया गया है? इसके उत्तर में काशिकावृत्ति में कहा गया है कि 'न त्वां तृणं चिन्तयामि'—तुम को मैं तृण के रूप से चिन्ता नहीं करता हूं—इस वाक्य में 'चिन्त्' धातु के प्रयोग से, जो 'मन्' धातु के साथ समानार्थक ही अनादर द्योतक कर्म के वाचक 'तृण' शब्द में चतुर्थी विभक्ति नहीं होगी।

सूत्र में 'अनादरे'—पद क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में भी काशिका वृत्ति में एक सुन्दर श्लोक कहा गया है[1]। यथा—

'अश्मानं दृषदं मन्ये मन्ये काष्ठमुलूखलम्।
अन्धायास्तं सुतं मन्ये यस्य माता न पश्यति॥'

उपलखण्ड को मैं पत्थर करके मानता हूं, ओखली को मैं काष्ठ करके मानता हूं (और) जिसकी माँ देख नहीं पाती उसको मैं अन्ध का पुत्र कर मानता हूं।

इस श्लोक में यथावस्थित वस्तु का स्वरूप प्रकाशित किया गया है, इसलिये अनादर समझा नहीं जाता है। अतः यहाँ 'मन्' धातु के कर्म के वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई है।

---

१. काशिकावृत्ति, भाग २, पृ० १७२, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी 'तत्त्वाख्यानमेतत् यस्य माता न पश्यतीति'—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग) पृ० १७२, 'अश्मानं दृषदं मन्ये इत्यादौ यथावस्थितस्य वस्तुनः स्वरूपमाविष्क्रियत इत्यनादरो न गम्यते'—न्यास, (काशिका, भाग २), पृ० १७२।

५८५ । गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि । (२-३-१२)

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरिं व्रजति । अनध्वनि इति किम् ? पन्थानं गच्छति । गन्त्राऽधिष्ठिते १ ध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पथात् पन्था एवाक्रमि... मिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव, उत्पथेन पथे गच्छति ।

अनुवाद तथा विवृत्ति ।

शारीरिक परिस्पन्दन रूप चेष्टा होने पर गत्यर्थक धातु के कर्मवाचक शब्द से द्वितीया तथा चतुर्थी बिभक्ति हों, (परन्तु) अध्ववाचक शब्द के वाचक होने पर नहीं होगी ।

शारीरिक चेष्टा होने पर अध्वा अर्थात् पथ से भिन्न गत्यर्थक धातु के कर्म वाचक शब्द में ये दोनों विभक्तियाँ होती हैं । उदाहरण, 'ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति'—गाँव जाता है ।

सूत्र में शारीरिक परिस्पन्दन रूप चेष्टा होने पर ऐसा क्यों कहा है ? उत्तर, 'मनसा हरिं व्रजति'—मन से हरि के पास जाता है । इस उदाहरण में हरि के पास जाना मन ही से होता है, इसमें शारीरिक चेष्टा का कोई अवकाश नहीं है । इसलिए केवल 'हरिम्' ऐसा द्वितीयान्त पद ही होता है, चतुर्थ्यन्त नहीं ।

धात्वर्थ को व्याकरण शास्त्र में क्रिया के रूप से परिभाषित किया है । पूर्वापरीभूत व्यापार समूह क्रिया कहलाता है, उस व्यापार समूह के वाचक होते हुए जो भ्वादि गण पठित है, वह धातु है[1] । अतः सभी धातु क्रियावाचक होते हैं । इस स्थिति में क्रिया सामान्य ही 'गत्यर्थकर्मणि' इत्यादि सूत्रस्थ 'चेष्टा' शब्द का अर्थ माना जाय तो सूत्र में 'चेष्टा' का उल्लेख व्यर्थ हो जाता है । अतः चेष्टा रूप विशेषणयुक्त क्रिया ग्रहण करने से सूत्रस्थ—'चेष्टा' शब्द शारीरिक व्यापार रूप परिस्पन्द क्रिया विशेष का ही वाचक है, ऐसा जाना जाता है ।[2]

१. व्यापारसन्तानः क्रिया, तद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वम्—वै० भूषणसार, निर्णय, ११ कारिका व्याख्या ।

२. यदि क्रियामात्रमिह चेष्टाशब्देनोच्यते तदा चेष्टाग्रहणपार्थकम् । सर्वो हि

सूत्रस्य 'अनध्वनि' पद का घटक 'अध्वन्' शब्द से 'अध्वन्' शब्द के अर्थ समझना[1], अध्वन् शब्द को नहीं। 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१-१-६८) इस सूत्रानुसार 'अध्वन्' शब्द का ही ग्रहण करने की आशंका होती है। परन्तु सूत्र में 'अनध्वनि' इस सप्तम्यन्त पद का 'गत्यर्थकर्मणि' के साथ अन्वय होने से अध्वभिन्न गत्यर्थक धातु के कर्म में, अर्थात् कर्मवाचक पद में, द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति हों—ऐसा अर्थ होता[2] है। अर्थ ही कर्म होता है, शब्द नहीं। इसलिये 'अध्वन्' के सभी पर्याय शब्दों से चतुर्थी विभक्ति का निषेध किया गया है; ऐसा समझना[3] है। यदि केवल 'अध्वन्' शब्द को ही समझाना सूत्रकार का अभिप्रेत होता तो 'अनध्वनि' ऐसा न कहके 'अनध्वन:' ऐसा शब्द प्रयोग करते शब्द के द्वारा जो निर्देश किया जाता है वह निर्देश अर्थ प्रधान होता है। इसलिये भी शब्द के निर्देश से अर्थ को समझना है[4]।

महाभाष्य में भी 'गत्यर्थकर्मणि—' इत्यादि सूत्र की व्याख्या प्रसंग में 'अध्वन्यर्थ ग्रहण म्' इस प्रकार एक वार्त्तिक सूत्र उल्लिखित है उसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है 'अध्वन्यर्थग्रहणं कर्त्तव्यम्। इह मा भूत्—पन्थानं गच्छति, वीवधं गच्छतीति।' अर्थात् 'गत्यर्थकर्मणि—' इत्यादि सूत्र में जो 'अनध्वनि' पद है उसके घटक 'अध्वन्' शब्द से 'अध्वा'

क्रियावचन:। तस्माद् विशेषणोपादानसामर्थ्यात् परिस्पन्दवचनोऽयं चेष्टाशब्दो विज्ञायते—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १६५, प्रा० भा० प्रकाशन।

१. अध्वशब्दोऽर्थपरो व्याख्यानादिति भाव:—शब्देन्दुशेखर, पृ० ७२७, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. सप्तमीनिर्देशे हि अनध्वनि कर्मणीत्यन्वय:। पदमञ्जरी (काशिका, भाग २), पृ० १६५।

३. 'अनध्वनि' इत्यत्राध्वनीति न स्वरूपग्रहणम्। तथा हि सति 'अनध्वन:' इत्येवावक्ष्यत्। किन्त्वर्थग्रहणं सप्तमीनिर्देशात्, कर्मणीत्यनेन सामानाधिकरण्यात्। अर्थस्यैव हि कर्मत्वं सम्भवति न शब्दस्वरूपस्य, तेनाध्ववाचिनां सर्वेषामेव संग्रह:—तत्त्वबोधिनी, पृ० ९५६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. अर्थप्रधानत्वान्निर्देशस्य, सप्तमीनिर्देशाच्च। यदीह स्वरूपग्रहणं स्यात् 'अनध्वन:' इति कुर्यात्—न्यास (काशिका, भाग २) पृ० १६५, प्रा० भा० प्रकाशन।

या मार्ग रूप अर्थ को समझना है। अतः उस मार्ग के वाचक जो 'अध्वन्' शब्द के पर्याय 'पथिन्' शब्द या 'वीवध' शब्द आदि हैं, उन से भी चतुर्थी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति ही होगी—यथा, पन्थानं गच्छति, वीवधं गच्छति।

इस भाष्य की व्याख्याप्रसङ्ग में वहाँ कैयट ने कहा है—'स्वं रूपम्'—इत्यादि सूत्र के अनुसार 'अध्वन्' शब्दस्वरूप के बारे में ही चतुर्थी विभक्ति का निषेध प्राप्त है। अतः 'अध्वन्यर्थग्रहणम्' इस वार्त्तिक सूत्र से 'अध्वन्' शब्द के और उसके पर्याय शब्दों से भी चतुर्थी विभक्ति का निषेध हो जाता है। चतुर्थी विभक्ति के साथ 'अध्वन्' और उसके पर्याय शब्दों से द्वितीया विभक्ति का भी निषेध हुआ है, ऐसा नहीं समझना। क्योंकि कर्म के वाचक शब्दों से 'कर्मणि द्वितीया' इस सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है[1]।

'गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः'—इत्यादि।

गमनकर्त्ता के द्वारा अधिष्ठित अध्वन् शब्द तथा उसके पर्याय शब्द के बारे में चतुर्थी न होने का यह निषेध है। जब उन्मार्ग या गलत रास्ते से सही मार्ग पर जाना चाहता है तब चतुर्थी विभक्ति होती ही है। यथा 'उत्पथेन पथे गच्छति'—उन्मार्ग से (सही) मार्ग की ओर जाता है। यहाँ सही रास्ता तत्काल गमनकर्त्ता के द्वारा अधिष्ठित या व्याप्त नहीं है।

महाभाष्य में 'गत्यर्थकर्मणि'—इत्यादि सूत्र की व्याख्याप्रसङ्ग में 'आस्थितप्रतिषेधश्च'—ऐसा एक नियमवार्त्तिक सूत्र कहा गया है। इस वार्त्तिक में 'आस्थित' शब्द का 'आक्रान्त' अर्थ भाष्य प्रदीप टीका में कैयट ने बताया है[2]। वहाँ 'आक्रान्त' शब्द का गमनकर्त्ता के द्वारा अधिष्ठित या प्राप्त, यही अर्थ है। काशिका वृत्ति में भी 'आस्थित' शब्द का 'सम्प्राप्त'

---

१. द्वितीया तु कर्मणि द्वितीयेति भवति—प्रदीप, महाभाष्य, खण्ड २, पृ० [illegible] नि० सा० प्रेस संस्करण। द्वितीया तु 'कर्मणि द्वितीया' इति भवति, पद० [illegible] (काशिका, भाग २) पृ० १६५, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. आस्थित आक्रान्तः सन् यदा पन्था गम्यते तदाऽनध्वनीति प्रतिषेधः—(महाभाष्य, भाग २) पृ० ४६६, नि० सा० प्रेस संस्करण।

'आक्रान्त' ऐसा अर्थ बताया गया है। उसी वार्तिक सूत्र के अनुसार 'गन्त्राधिष्ठिते अध्वन्येवायं निषेधः' ऐसा कहा गया है।

शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट जी की व्याख्यानुसार 'अधिष्ठित' शब्द का शब्दप्रयोग के समकालिक गमनकर्त्ता के व्यापार से उत्पादित फल का आश्रय अर्थ है। और 'अध्वन्' शब्द से गमनकर्त्ता के द्वारा व्याप्त कोई भी पदार्थ समझाया जाता है।[1]

नागेश भट्ट जी के इस प्रकार कथन का अभिप्राय यह है कि 'अध्वानं गच्छति'—रास्ते पर जाता है—इस प्रकार शब्द का प्रयोग या उच्चारण जिस समय किया जाता है उस समय में गमन कर्त्ता का जो उत्तरदेशसंयोगानुकूल व्यापाररूप गमन होता है, उस व्यापार से उत्तरदेश यानी परवर्ती देश के साथ गमनकर्त्ता का जो संयोग होता है वही उस व्यापार का फल है और उसी फल का आश्रय अध्वा या पथ होने से उसके वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई।

काशिका वृत्ति की न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्रबुद्धिने सूत्रस्थ 'अध्वन्' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि जिस देश विशेष से प्राप्तव्य ग्रामादि प्राप्त किया जाता है वही देशविशेष संसार में 'अध्वा' के नाम से प्रसिद्ध है। फिर से इस बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने स्वयं प्रश्न किया है—किस के द्वारा प्राप्तव्य ग्रामादि प्राप्त किया जाता है? उत्तर में उन्होंने कहा कि—जो पथ उनके द्वारा यानी गमन कर्त्ता के द्वारा आक्रान्त या व्याप्त है। अतः उसी 'अध्वा' के बारे में यह चतुर्थी विभक्ति का निषेध है। जिस समय कोई पथ उत्पथ या गलत मार्ग से प्राप्त करने जाता है तब उस पथ को 'अध्व' शब्द से कहा नहीं जाता और तब उसके वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती ही है, जैसे—'उत्पथेन पथे गच्छति'—गलत मार्ग से सही रास्ते के लिये जाता है[2]।

---

१. अधिष्ठित इति। शब्दप्रयोगसमकालिकगन्तृव्यापारजन्यफलाश्रयइत्यर्थः अध्वपदेन गन्तृव्याप्तोऽर्थं उच्यते—लघुशब्देन्दु, पृ० ७२७, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. येन देशविशेषेण [illegible] ग्रामादिकं प्राप्यते स देशविशेषो [illegible] केन

सूत्र में गत्यर्थक धातुका उल्लेख क्यों किया गया है ? इस प्रश्न को उठाकर तत्त्वबोधिनी टीका में उत्तर दिया गया है कि 'ओदनं पचति'— अन्न पकाता है—इस वाक्य में 'पच्' धातु गत्यर्थक न होने से उसके कर्म 'ओदन' वाचक शब्द में चतुर्थी नहीं होती[1]।

फिर से सूत्र में 'कर्मणि' ऐसा क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में तत्त्वबोधिनी में कहा गया है—'अश्वेन धावति' घोड़े से दौड़ता है। यहाँ 'घोड़ा कर्म नहीं है 'परन्तु' करण है। "इसलिये" चतुर्थी नहीं हुई।

फिर भी 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ'—इत्यादिसूत्र में 'द्वितीया' शब्द क्यों कहा गया है ? 'गत्यर्थकर्मणि चतुर्थी वा'—ऐसा ही सूत्र क्यों नहीं कहा गया ? प्रश्नकर्त्ता का अभिप्राय यह है कि गत्यर्थक धातुके कर्म अर्थात् कर्मवाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति विकल्प से होती है, ऐसा कहने से ही वैकल्पिक द्वितीया विभक्ति अनुक्त कर्म में 'कर्मणि द्वितीया' (२-३-२) इस सूत्र से हो ही जाती है। इसके उत्तर में काशिका वृत्ति में 'ग्रामं गन्ता' 'ग्रामाय गन्ता' गाँव को जानेवाला ऐसे दो वाक्य कहे गये हैं।

उत्तर देनेवाले का अभिप्राय यह है कि 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२-३-६९) इस सूत्र के द्वारा 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२-३-६५) इस सूत्र से कृत्प्रत्ययान्त शब्द के योग से प्राप्त कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति को रोक कर द्वितीया विभक्ति जब होती है तब 'गत्यर्थकर्मणि—'इत्यादि सूत्र में द्वितीया शब्द के साथ चतुर्थी का द्वन्द्व समास करने से द्वितीया और चतुर्थी द्वन्द्वसमास के द्वारा बराबरी से प्रतिपादित होने के कारण 'ग्रामं गन्ता' 'ग्रामाय गन्ता' ऐसे दोनों वाक्यों में ग्राम रूप कर्म में कृद्योगे द्वितीया और चतुर्थी—ये दोनों विभक्तियाँ हो सकती हैं। अतः इस स्थल में षष्ठी

च प्राप्यं प्राप्यते ? यः पन्था आक्रान्तस्तेन। तस्मात् तस्यैवायं प्रतिषेधः। यदा स एवोत्पथेन प्राप्यते तदा तस्य पथोऽध्वव्यपदेशो न भवतीति भवत्येव तत्र चतुर्थी। न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १६९, प्रा० भा० प्रकाशन।

१. गत्यर्थेति किम् ? ओदनं पचति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५६, म० म० गिरिधर संस्करण।

बाधक द्वितीया विभक्ति को बाधकर विकल्प में चतुर्थी हो सकती, इस प्रकार बाधक का बाध करने के लिये सूत्र में 'चतुर्थी' शब्द का प्रयोग किया गया[१] है।

इस सूत्र में गत्यर्थं कर्मणि—'ऐसा क्यों कहा गया है ? 'गतिकर्मणि—' ऐसा कहने से ही तो गत्यर्थक धातु को प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि गति अर्थ है ही।

इस प्रश्न को उठाकर न्यास टीका में उत्तर के रूप में कहा गया है कि जहाँ पर अन्य किसी शब्द के सान्निध्य आदि की अपेक्षा न करके केवल धातु से 'गति' रूप अर्थ का बोध होता है केवल उसी स्थल में शारीरिक चेष्टा समझी जाती है और कर्म कारक में द्वितीया और चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं, अन्यत्र नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि पाद विहरणात्मक जो मुख्य गति है, उसी अर्थ में जहाँ धातु का प्रयोग होता है, केवल वहीं कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्तियाँ होती हैं। अतः 'स्त्रियं गच्छति' 'अजां ग्रामं नयति' इत्यादि प्रयोग में कर्म में चतुर्थी नहीं होती।[२] उक्त वाक्यों में 'गम्' धातु का मुख्य रूप से गमन अर्थ नहीं है।

इति चतुर्थी विभक्ति।

---

१. द्वितीयाग्रहणं किम् ? न चतुर्थ्येव विकल्प्येत ? अपवादविषयेऽपि यथास्यात्—ग्रामं गन्ता ग्रामाय गन्ता। कृद्योगलक्षणा षष्ठी न भवति—काशिका, भाग २, पृ० १६६, प्राच्य भारतीय प्रकाशन। कर्मणि कारके चतुर्थ्यां विकल्पितायां पक्षे न्यायप्राप्तैव द्वितीया। तत् क्रियते बाधकबाधनार्थम्—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १६६, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. अर्थग्रहणं किमर्थम् ? न गतिकर्मणि इत्येव उच्येत ? यावता गतिरर्थ एव नैतदस्ति, या गति र्गमिनैव शब्दान्तरसन्निधानाद्यनपेक्षयोच्यते तत्रयथा स्यात्। पाद-विहरणात्मिकाचाया गतिः प्रधानभूता तस्या एव ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थम्। तेनेह न भवति—स्त्रियं गच्छति, अजां ग्रामं नयति। अत्र हि गमे मैथुनमर्थः स्त्रीशब्द-सन्निधानाद् गम्यते, न तु गमेः केवलात्। नयतेश्च प्रापणमेवार्थः प्रधानभूतः, तद्विशेषणन्तु पादविहरणमप्रधानम्—न्यास (काशिका, भाग २) पृ० १६६, प्रा० भा० प्रकाशन।

५८६ ध्रुवमपायेऽपादानम् । (१-२-२४)

अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।

अनुवाद तथा विवृति—

अपाय अर्थात् विश्लेष साध्य के रूप से ज्ञान का विषय होने पर जो ध्रुव है वह अपादान कहलाता है।

अपाय शब्द का अर्थ है विश्लेष। वह विश्लेष जब साध्य के रूप से ज्ञान का विषय होता है तब ध्रुव अर्थात् अवधिभूत कारक अपादान संज्ञक हो।

अपाय शब्द का जो विश्लेष अर्थ कहा गया है वह वास्तव में वियोग[1] या विभाग है। तथा उस विभाग का हेतुभूत अवधि सापेक्ष गति विशेष है।[2] महाभाष्य की प्रदीपटीका के ऊपर नागेशभट्टजी ने जो उद्योतटीका की है उसमें 'अपाय' शब्द का विभाग से उत्पन्न जो परवर्ती देश के साथ संयोग, उस संयोग के अनुकूल अवधिसाकाङ्क्ष गतिविशेष अर्थ कहा गया है। इस प्रकार अर्थ करने में भर्तृहरि के वाक्यपदीय ग्रन्थ की सम्मति भी उन्होंने उद्धृत की है—'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति कथ्यते'[3]।

इस 'गतिर्विना त्ववधिना'—इत्यादि वाक्यपदीय कारिकांश की व्याख्या शब्देन्दुशेखर की चिदस्थिमाला टीका में की गयी है कि अवधि के साथ अन्वययोग्य जो विभाग, उसके अनुकूल गतिविशेष ही 'अपाय' शब्द का अर्थ है। केवल 'पात' या पतनमात्र अपाय नहीं है। इसलिये वृक्ष से विभक्त हुए बिना जो पत्र वृक्ष के साथ जमीन पर गिरता है, उसके बारे में 'वृक्षात् पर्णं पतति'—पेड़ से पत्ता गिरता है—ऐसा वाक्यप्रयोग नहीं किया जाता, बल्कि

---

१. वियोग इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६५७, म० म० गि० शर्मा संस्करण।

२. अपायः विश्लेषः, विभाग स्तद्धेतुभूतश्च गतिविशेषोऽवधिसापेक्षः—
पदमञ्जरी(काशिका, प्रथम भाग), पृ० ५३५, प्रा० भा० प्रकाशन

३. अपायोऽत्र विभागजसंयोगानुकूलोऽवधिसाकाङ्क्षो गतिविशेषः। 'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति कथ्यते' इति हर्युक्तेः—
उद्द्योत (महाभाष्य द्वितीय खंड), पृ० ३४७, नि० प्रा० प्रेस संस्करण

वृक्षस्य पर्णं पततिʼ—पेड़ का पत्ता गिरता है—ऐसा ही वाक्यप्रयोग किया जाता है।[1]

शब्देन्दुशेखर में भी 'अपाय' शब्द का विभागजनक व्यापार ही अर्थ किया है[2]।

सूत्रस्थ ध्रुवशब्द गति या स्थैर्यबोधक ध्रुधातु से (ध्रु गतिस्थैर्ययोः) 'क्' प्रत्यय लगाकर बना है। अथवा केवल 'स्थैर्यबोधक 'ध्रुव' धातु से (ध्रु स्थैर्ये) 'क' प्रत्यय जोड़ने से बना है। 'ध्रुव' शब्द का स्थिर अर्थ प्रसिद्ध है।[3]

परन्तु 'ध्रुव' शब्द का यह प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करने पर 'धावतोऽश्वात् पतति'—दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है—ऐसे प्रयोगों की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, इसलिये सूत्रस्थ 'ध्रुव' शब्द का पारिभाषिक अर्थ किया गया है—'अवधिभूतम्'। अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त 'पत्' आदि धात्वर्थ का आश्रय न होकर उसधात्वर्थ से उत्पाद्य जो विभाग, उसका आश्रय 'ध्रुव' शब्द का अर्थ है।[4]

ध्रुव' शब्द के यह पारिभाषिक अर्थ भर्तृहरि ने भी अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में कहा है—

> "अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
> ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥

1. तदुक्तं हरिणा—'गतिर्विना त्ववधिना नापाय इति कथ्यते' इति। अवध्यन्वययोग्य विभागानुकूलत्वं विनेति तदर्थः। एतेन पातमात्रमपाय इति निरस्तम्। वृक्षमजहत्यपि पर्णे—'भूमिं स्पृशति' 'वृक्षस्य पर्णं पतती'ति प्रयोगात्—
चिदस्थिमाला, लघुशब्देन्दु०, पृ० ७२७, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
2. अपायो विभागजनको व्यापारः—लघु शब्देन्दुशेखर, पृ० ७२७, पूर्वोक्त संस्करण।
3. 'ध्रुवं स्थिरम्'—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
4. प्रकृतधात्वर्थानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयो ध्रुवमितिकलितम्। तच्चार्थादवधि रित्याह अवधिभूतमिति। तत्त्वबोधिनी, ६५७, म०म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

पततो ध्रुव एवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ॥
उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मके[1]।
विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते ॥
मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्त्तृत्वं च पृथक् पृथक् ॥"

भर्त्तृहरि की इस उक्ति से ध्रुव या अवधि, जिसको अपादान संज्ञा दी गयी है, उसकी चलनशील या अचल साधारण उभयावस्था में अपादान संज्ञा की जानकारी प्राप्त होती है।

वाक्यपदीय के ये श्लोक व्याकरणशास्त्र के ग्रन्थों में निबन्ध तथा टीका टिप्पणिओं में बहुधा उल्लिखित हुए हैं। कौण्डभट्ट ने स्वकृत वैयाकरणभूषण-सार ग्रन्थ में इन श्लोकों का तात्पर्य इस प्रकार समजाया है—अपाये अर्थात् विश्लेष के हेतुभूत विश्लेष क्रिया के विषय में, जो उदासीन यानी उस विभागजनक क्रिया का आश्रय नहीं होता, वही 'अतदावेशात्'—अर्थात् उस विभागजनक क्रिया का आश्रय न होने के कारण, अपादान कहा जाता है।

अतएव 'अपाये यदुदासीनम्'— इस श्लोक के अनुसार अपादान का लक्षण भी कौण्डभट्ट ने बताया है—विश्लेष के हेतुभूत क्रिया का आश्रय न होते हुए जो विश्लेष का आश्रय होता है वह अपादान कहलाता है[2]। 'वृक्षात् पर्णं पतति'— पेड़ से पत्ता गिरता है—इस वाक्य में 'पर्णं' की अपादानसंज्ञा रोकने के लिये 'विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति'—यह विशेषणभाग अपादान लक्षण में दिया गया है। केवल 'विश्लेषाश्रयत्वम्' ऐसा अपादान का लक्षण कहने पर 'वृक्षात् पर्णं पतति' इस वाक्य में स्थित 'पर्णं' शब्द की भी अपादान संज्ञा होती और ततप्रयुक्त उसमें पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग की आपत्ति

---

१. उभयकर्मजे इति पाठान्तरम्

२. विश्लेषहेतुभूतक्रियानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वं फलितम्—दर्पणसहित वैयाकरणभूषणसार, सुबर्थनिर्णय, पृ० १६५, चौखम्बा संस्करण

हो जाती है। कारण यह है कि विश्लेष या विभाग दोनों में ही रहने के कारण जैसे 'वृक्ष' अपादान होता है उसी तरह 'पर्ण' भी अपादान हो जाता है और उसमें अपादाने पञ्चमी विभक्ति प्रयोग की आपत्ति हो जाती है।

फिर से 'विश्लेषहेतुभूतक्रियानाश्रयत्वे सति'—अपादानलक्षण का घटक इस विशेषण भाग में स्थित 'क्रिया' में 'विश्लेषहेतुभूत' यह विशेषण देने से 'धावतोऽश्वात् पतति'—दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है—इस वाक्य में स्थित 'अश्व' की अपादानसंज्ञा हो सकी। कारण, घोड़े में धावनरूप क्रिया रहने पर भी वह क्रिया विश्लेष का हेतुभूत क्रिया नहीं है। घोड़े से घुड़सवार का जो विश्लेष या विभाग होता है उसका कारण घुड़सवार का घोड़े से गिरना या पतनरूप क्रिया ही है, घोड़े की धावनरूप क्रिया नहीं।

इसके बाद भी यदि दीवार के ऊपर से गिरनेवाले किसी घोड़े से कोई व्यक्ति गिर जाता हो तो उस स्थल में भी 'कुड्यात् पततोऽश्वात्पतति'---ऐसे वाक्य में घोड़े की पतन क्रिया का आश्रय न होने से कुड्य या दीवार अपादान हो सकता है। फिर से घुड़सवार का घोड़े से जो विश्लेष या विभाग होता है, उस विश्लेष की हेतुभूत पतन क्रिया घुड़सवार में ही है, घोड़े में नहीं। इसलिये घुड़सवार के पतन में घोड़ा अपादान होता है, और घोड़े के पतन में कुड्य या दीवार अपादान होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

अतएव अपादानलक्षण के 'विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति' इस बिशेषण भाग में 'तद्विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति' इस प्रकार विश्लेष को 'तद्' इस विशेषण से विशेषित[1] करके लक्षणघटक कहने से पूर्वोक्त 'कुड्यात् पततोऽश्वात् पतति'—दीवार से गिरनेवाले घोड़े से गिरता है – इस प्रयोग में 'कुड्य' या दीवार और घोड़ा, दोनों ही भिन्न-भिन्न विश्लेष के हेतुभूत क्रिया का आश्रय न होने से आपादान हो सके।

१। तद्विश्लेषहेतुक्रियानाश्रयत्वे सतीति विशेषणीयम् इति भावः। एवमश्वनिष्ठक्रिया-नाश्रयत्वात् कुड्यादेरपि ध्रुवत्वमित्याह तस्यापीति—दर्पणसहित वैः भूषणसार, सुबर्थनिर्णय, पृ० १६६। चौखंबा संस्करण।

ये ही सब बातें पूर्वोद्धृत भर्त्तृहरि के श्लोकों के 'पततो ध्रुव एवाश्वे यस्मादश्वात् पतत्यसौ। तस्य,प्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ।।' इस द्वितीय श्लोक में कही गयी हैं।

इसके बाद जिस स्थल में दो भेड़े एक ही साथ एक दूसरे से अलग होते हैं वहाँ पर 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' इस वाक्य में उभयकर्मजन्य विभाग में दोनों भेड़े चलनशील होते हुए भी पारिभाषिकरूप से 'ध्रुव' माने जाते हैं, कारण, उभयकर्मजन्य विभाग के कारणीभूत दोनों भेड़ों की अपसरण क्रिया अलग-अलग होने के कारण प्रत्येक भेड़े की अपसरण क्रिया की अपेक्षा ध्रुव अवधित्व भी अलग-अलग है। पूर्वोद्धृत भर्त्तृहरि के 'उभावप्यध्रुवौ मेषौ'- इत्यादि अन्तिम श्लोकद्वय का प्रकृत स्थल के लिये अपेक्षित यही अभिप्राय है।

काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में हरदत्तजी ने भी 'ध्रुव' शब्द का यही पारिभाषिक अर्थ ध्यान में रखते हुए जो कहा है उसका तात्पर्य यह है- ध्रुवशब्द से अपाय में अर्थात् विश्लेष के हेतुभूत क्रिया के बारे में जो ध्रुव उसीको समझना, न कि सब स्थलों में जो ध्रुव या स्थिर रहता है उसको। वही अपाय या विश्लेष के हेतुभूत क्रिया के बारे में ध्रुव है जो उस क्रिया में द्वारः आविष्ट यानी सम्बद्ध न हो अथच उसके लिये उपयोगी हो। वह [illegible] अर्थ की पर्यालोचना से अवधिभूत वस्तु ही है, (ऐसा प्रतीत होता है)। इस लिये सूत्रस्थ ध्रुवशब्द का अर्थ अवधिभूत कहा गया है। ध्रुवशब्द का इस प्रकार अवधिरूप अर्थ करने से 'सार्थाद् हीनः'—गमनकारिओं के दल से बिछुड़ा, 'रथात् पतितः'—रथ से गिरा हुआ, धावतः पतितः'—दौड़नेवाले से गिरा हुआ—इत्यादि प्रयोग में दूसरी क्रिया के सम्बन्ध से चलनशील होते हुए भी उन सब धावनादि क्रियाओं से सम्बद्ध न होने के कारण धावनादिक्रियाजन्य अपाय के प्रति उदासीनता रहने से ध्रुवत्व रहता ही है, और 'ध्रुव' होने से उसकी अपादानसंज्ञा अवश्य होती है[1]। न्यास टीका में भी इसी तरीके

१. पदमञ्जरी (काशिकावृत्ति, भाग १), पृ० ५३५, प्रा० भा० प्रकाशन।

ध्रुव' शब्द की व्याख्या की गयी है।[1] सूत्रस्थ 'अपाय' शब्द लक्षणा से विभागजनक क्रिया का बोधक है।[2]

'परस्परस्मान्मेषावपसरतः'—दोनों भेड़े एक दूसरे से अलग होते हैं—यहाँ पर दोनों ही भेड़े गमनशील होने पर भी दोनों भेड़ों में स्थित भिन्न-भिन्न अपसरण क्रिया को लेकर एक भेड़े में रहनेवाली अपसरण क्रिया के बारे में दूसरा भेड़ा उदासीन होने के कारण अपादान हो सकता है—इसमें विरोध नहीं है[3]।

यह अपादान तीन प्रकार के माने जाते हैं। इन्हीं तीन विभागों को ध्यान में रखते हुए भर्तृहरिने कहा है—

'निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपात्तविषयं तथा।
अपेक्षितक्रियञ्चेति त्रिधाऽऽदानमुच्यते॥'

महावैयाकरण कौण्डभट्टने स्वकृतवैयाकरणभूषणसार में भर्तृहरि के इस श्लोक को उद्धृत करके इसकी निम्नलिखित रूप से व्याख्या की है।

जिस स्थल में साक्षात् अर्थात् मुख्य वृत्ति के द्वारा वाक्य में प्रयुक्त धातु गति यानी विभागजनक क्रिया बोधित होती है वहाँ अपादान को निर्दिष्ट विषय अपादान कहा जाता है।[4] यथा— अश्वात् पतति—घोड़े से

---

१. न्यास (काशिकावृत्ति, भाग १), पृ० ५३५, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. अपायपदं विभागजनकक्रियापरं लक्षणयेत्याशयेन व्याचष्टे विश्लेषहेतु क्रियायामिति—दर्पणसहित वै० भूषणसार की टिप्पणी, सुबर्थनिर्णय, पृ० १६५, चौखम्बा संस्करण।

३. 'परस्परस्मान्मेषावपसरतः' इत्यत्र तु सधातुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकनिष्ठां गतिं प्रति इतरस्याप्यपादानत्वं न विरुध्यते—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५७। म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. यत्र साक्षाद्धातुना गतिर्निर्दिश्यते तन्निर्दिष्टविषयम्—वै० भूषणसार, सुबर्थनिर्णय, पृ० १६६, चौखम्बा संस्करण। साक्षादिति मुख्यवृत्त्येत्यर्थः—वै० भूषणसार की दर्पण टीका, पृ० १६६। गतिरिति विभागजनकक्रियेत्यर्थः—वै० भूषणसार की दर्पण टीका, पृ० १६६।

गिरता है। इस उदाहरण में विभाग जनक क्रिया 'पत्' धातु को अभिधा मुख्य वृत्ति से बोधित होती है।

जिस स्थल में धातु दूसरे धातु के अर्थ के अङ्गीभूत अर्थ को बतलाता वहाँ अपादान को उपात्त विषय अपादान कहा जाता है। यथा—'वलाहकाद् विद्योतते'—मेघ से चमकता है। यहाँ निःसरण पूर्वक विद्योतन रूप अर्थ 'द्युत्' धातु समझाता है।[1]

जिस स्थल में वाक्य में अनुल्लिखित धात्वर्थ क्रिया के साथ अपादान साकांक्ष है वह अपेक्षितक्रिय अपादान कहलाता है। यथा—'कुतो भवान् पाटलिपुत्रात्'—आप कहाँ से (आ रहे हैं ?), (मैं) पाटलिपुत्र (पाटलिपुत्र) से (आ रहा हूँ)। यहाँ आगमन क्रिया का अध्याहार करके अन्वय करना पड़ता है।[2]

५८७ अपादाने पञ्चमी (२-३-२८)

ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात् पतति। कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति। "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" (वा १०७९)। पापाज्जुगुप्सते। विरमति। धर्मात् प्रमाद्यति।

अनुवाद तथा विवृत्ति

अपादान (कारक) में पञ्चमी (विभक्ति) हो। ग्रामात् आयाति 'अश्वात्पतति'—गाँव से आता है।' धावतः दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है। अपादान कारक में पञ्चमी हो—ऐसा क्यों कहा गया है ? उत्तर—पेड़ का पत्ता गिरता है।

---

१. यत्र धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थं धातुराह तदुपात्तविषयम्। यथा बलाहकाद् विद्योतते। निःसरणाङ्गे विद्योतने द्युतिर्वर्त्तते—वै० भूषणसार, सुवर्थनिर्णय, पृ० १६६।

२. अपेक्षिता क्रिया यत्र तदन्त्यम्। यथा कुतो भवान्, पाटलिपुत्रात्। अत्रागमनमध्याहृत्याऽन्वयः कार्यः—वै० भूषणसार, सुवर्थनिर्णय, पृ० १७० चौखम्बा संस्करण। अपेक्षितक्रियमिति—अनुपात्तधात्वर्थक्रियासाकाङ्क्षमित्यर्थः—वै० भूषणसार दर्पण टीका पृ० १७०।

जुगुप्सा यानी निन्दा, विराम यानी विरति तथा प्रमाद यानी अनवधानता—एतदर्थक धातुओं के योग से जुगुप्सादि के विषय का अपादानत्व होता है—ऐसा व्याख्यान करना चाहिये। पापात् जुगुप्सते—पाप से घृणा करता है—पाप-रूप विषय में कुत्सितत्व बुद्धि से उसमें आनन्द का अनुभव नहीं करता; विरमति, अर्थात् पापाद् विरमति—पाप से विरत होता है—पाप रूप विषय में प्रवृत्त नहीं होता है। धर्मात् प्रमाद्यति—धर्म रूप विषय में असावधान होता है।

दाधिमथ पण्डित शिवदत्त शास्त्री के मतानुसार अनिष्टसाधनताज्ञान रूप निन्दा गुप् 'धातु का अर्थ है।[1] इस मत के अनुसार पापादानकानिष्टसाधनता ज्ञानानुकूल एककर्तृक वर्तमानव्यापार—इस प्रकार बोध 'पापाज्जुगुप्सते'—इस वाक्य से होता है। वैयाकरण-भूषणसार की काशिका नामक टीका के रचयिता हरिराम दीक्षित का भी यही मत है।[2]

परन्तु भाष्यकार-पतञ्जलि के मतानुसार अनिष्ट साधनता ज्ञान पूर्वक निवृत्ति 'गुप्' धातु का अर्थ है।

महाभाष्य के अनुसार बुद्धि कृत अपादानत्व स्वीकार करने पर 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सूत्र से ही 'पापाज् जुगुप्सते' इत्यादि स्थलों में पाप आदि की अपादान संज्ञा हो सकती है। कारक प्रकरण में गौणमुख्यन्याय करण विधायक सूत्र के अतिरिक्त स्थल में नहीं है, यह 'साधकतमं करणम्' सूत्र में तमब्ग्रहण से ज्ञापित होने के कारण जुगुप्सा आदि का जुगुप्सा पूर्वक निवृत्तिजनकत्व रूप अर्थ मानकर 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' यह वार्तिक तथा 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यादि सूत्र का प्रत्याख्यान महाभाष्य में

१. अनिष्टसाधनताज्ञानरूपा निन्दा जुगुप्सतेरर्थः—शिवदत्तशास्त्रिकृतसिद्धान्तकौमुदी टिप्पणी, पृ० १८३।

२. हरिरामदीक्षितकृतवैयाकरणभूषणसारकी काशिका नामक टीका, पृ० ४१३, बम्बई संस्कृत तथा प्राकृत सीरिज।

किया गया है।[1] तब महाभाष्यकार के मतानुसार 'पापाज्जुगुप्सते' इस वाक्य से पापादानकानिष्टसाधनाताज्ञानपूर्वक परावृत्यनुकूल एककर्तृक वर्तमान व्यापार—ऐसा बोध होगा। इसी तरह 'पापाद् विरमति' इस वाक्य से भी पापादानकानिष्टसाधनाताज्ञानजन्योपेक्षापूर्वक जो निवृत्ति उसका जनक एक कर्तृक वर्तमान व्यापार—ऐसा शाब्दबोध होगा।[2]

इसी प्रकार—'पापाद् विरमति'—इस वाक्यान्तर्गत 'वि' पूर्वक 'रम्' धातु का प्रागभावसाधारणकृत्यभावानुकूल व्यापार अर्थ है। वह व्यापार पापविषयक उपेक्षा विशेष ही है। प्रागभावसाधारणकृत्यभाव कहने का अभिप्राय यह है कि पाप के अनुकूल कृति का प्रागभाव जब है तब भी कोई व्यक्ति पाप से विरत है, यह कहा जा सकता है। पापविषयक कृति का अत्यन्ताभावदशा में कोई व्यक्ति पाप से विरत है, यह कहने में कोई बाधा नहीं है। कृत्यभावानुकूल व्यापार कृति के प्रागभाव, ध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव के रहते हो सकता है।

'अपादाने पञ्चमी' इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग में जो 'धावतोऽश्वात् पतति' यह उदाहरण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि घोड़ा दौड़ते रहने पर भी अश्व से गिरनेवाले व्यक्ति के विभाग के हेतुभूत प्रकृत 'पत्' धातूपात्त क्रिया का अनाश्रय होने से अश्व को 'ध्रुव' कहा गया है। यह मत प्राचीन वैयाकरणों

---

१. इह तावद्—अधर्माज्जुगुप्सते अधर्माद् बीभत्सते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति, स पश्यति दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति। स बुद्धया संप्राप्य निवर्तते। तत्र 'ध्रुवमपायेऽपादान'मित्येव सिद्धम्। महाभाष्य, पृ० २४८ (२ य खंड) नि० सा० प्रेस संस्करण। भाष्यकारस्तु कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्यायो नास्ति इति तमध्यक्षयेन ज्ञापितत्वात जुगुप्सादीनां तत्पूर्वकनिवृत्तिवाचित्वमाश्रित्य वार्तिकं 'भीत्रार्थानाम्'—इत्यादिसूत्राणि च प्रत्याचख्यौ। पूर्वं हि बुद्ध्या संप्राप्य ततो दोषदर्शनात निवर्तत इति अस्त्येवात्र बुद्धिकृतोऽपायः—तत्त्वबोधिनी पृ० ६५८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. पापादानकानिष्टसाधनताज्ञानजन्योपेक्षापूर्वकनिवृत्तिजनको व्यापार इति शाब्दबोधः—दाधिमथ शिवदत्त शास्त्रिकृत टिप्पणी, सि० कौ० पृ० १८३।

सम्प्रदाय का है।[1] महाभाष्य आदि परवर्त्ती वैयाकरण सिद्धान्तानुसार में जो धावन क्रिया है उसकी विवक्षा न करने से अश्व को 'ध्रुव' जा सकता है।[2]

विद्यमान वस्तु की अविवक्षा की जा सकती है। महाभाष्यकार पतञ्ज- विद्यमान वस्तु की अविवक्षा कैसे हो सकती है, यह प्रश्न उठाकर जवाब कहा है कि विद्यमान वस्तु की भी अविवक्षा हो सकती है जैसे कि 'अलो- एड़का', 'अनुदरा कन्या'। एडका तृणविशेष को कहा जाता है। उसमें लोम रहने पर भी उस विद्यमान लोम की विवक्षा न करने से 'अलो- एडका'—इस तरह का प्रयोग हो सकता है। इसी तरह कन्या का उदर परिमर होने से उस विद्यमान उदर की विवक्षा न करने से 'अनुदरा —ऐसा प्रयोग हो सकता है।[3] अतएव 'धावतोऽश्वात् पतित' इस वाक्य में धावन क्रिया के में रहने पर भी उसकी अविवक्षा करने से धावन क्रिया के द्वारा उपलक्षित अश्व रूप द्रव्य मात्र ही अपादान के से विवक्षित हुआ है। यह बात महाभाष्य की प्रदीप टीका में स्पष्टतः गयी है।[4]

'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सूत्र की व्याख्या प्रसङ्ग में भट्टोजी दीक्षित ने अवधिभूत पदार्थ की अपादान संज्ञा बतलायी है उस में भी अवधिभूत की अपादान संज्ञा होती है, ऐसा ही उन्होंने कहा है। वहाँ पर भी

---

१. क्रियाविशिष्टस्याऽप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तगत्यनावेशात्, धावनस्य अविवक्षणाद्वा ध्रुवत्वं बोध्यम्—लघुशब्देन्दु, गु० प्र० शास्त्री संस्करण, पृ० ७३३।

२. प्राचां मतमाह प्रकृतेति—चिदस्थिमाला, लघुशब्देन्दु, पृ० ७३३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात्? सतोऽप्यविवक्षा भवति। तद् यथा 'अलोमिका एडका' 'अनुदरा कन्येति'।—पतञ्जलिमहाभाष्य, द्वितीयखण्ड, पृ० २४९, नि० सा० प्रेस संस्करण।

४. सरणक्रियोपलक्षितं द्रव्यमात्रमपादानत्वेन विवक्षितम्। तच्च देवदत्तकर्तृके पाते पूर्वोक्तन्यायाद् ध्रुवमेवेत्यर्थः—प्रदीप (महाभाष्य, द्वितीय खण्ड), पृ० २४९।

कारक की अपादान संज्ञा कहने से 'वृक्षस्य पर्णं पतति'—पेड़ का पत्ता गिरता है, इस उदाहरण में वृक्ष शब्द में अपादानत्व प्रयुक्त पञ्चमी विभक्ति नहीं हुई है, कारण पत्र की जो पतन क्रिया है उसका जनकत्व रूप कारकत्व पत्र में ही विवक्षित है, वृक्ष में नहीं। उस स्थल में वृक्ष पत्र कर्तृक पतन क्रिया जन्य विभाग का अवधि होने पर भी उस विद्यमान अवधित्व की विवक्षा न करके सम्बन्ध सामान्य की विवक्षा करने से वृक्ष शब्द में 'षष्ठी शेषे' (२-३-५०) इस सूत्रानुसार षष्ठी विभक्ति हुई है।

पदमञ्जरी टीकाकार हरदत्त जी के मतानुसार 'वृक्षस्य पर्णं पतति' वाक्य में पर्ण या पत्त के विशेषण के रूप से वृक्ष विवक्षित है, अपाय निमित्त के रूप से नहीं, इसलिये वृक्ष की अपादान संज्ञा नहीं हुई। अथवा अपाय की अविवक्षा होने से वृक्ष शब्द में पञ्चमी विभक्ति नहीं हुई[1]।

न्यास टीका में भी इसी प्रकार की बात कही गयी है कि वृक्ष सम्बन्धी के रूप से विवक्षित हुआ है, निमित्त के रूप से नहीं, अपादान सूत्र की व्याख्या प्रसंग में अपाय के कारक का उल्लेख करने से जो निमित्त या कारक के रूप से विवक्षित नहीं है उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती[2]।

५८८ : भीत्रार्थानां भयहेतुः। (१-४-२५)

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतु रपादानं स्यात्। चोराद् बिभेति। चोरात् त्रायते। भयहेतुः किम्? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा।

अनुवाद तथा विवृत्ति।

भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुओं के प्रयोग होने पर भय का हेतु अपादान

---

१. पर्णविशेषणत्वेनात्र वृक्षो विवक्षितः, न तु अपायस्य निमित्तत्वेनेत्यपादानसंज्ञा भवति न वापायस्याविवक्षितत्वात्—पदमञ्जरी, काशिका प्रथम भाग, पृ० ... प्रा० भा० प्रकाशन।

२. वृक्षः सम्बन्धित्वेनात्र विवक्षितः, न तु निमित्तत्वेन। अपायस्य कारकग्रहणान्निमित्तत्वेनाविवक्षितस्यापादानसंज्ञा न भवति—न्यास (काशिका, प्रथम भाग, ५३३: प्रा० भा० प्रकाशन।

। चोर से डरता है। चोर से रक्षा करता है। भय का हेतु क्यों कहा गया ? जंगल में डरता है अथवा रक्षा करता है।

सूत्रस्थ 'भी' शब्द 'भयं भीः' तथा 'त्रा' शब्द त्राणं त्राः[1] इस प्रकार व्युत्पत्ति से 'भीं' धातु तथा 'त्रै' धातु से सम्पदादित्व निबन्धन भाववाच्य में 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर बनाये गये हैं। अतः 'भी' शब्द तथा 'त्रा' शब्द के क्रमशः भय और त्राण या रक्षा अर्थ हैं। इसके बाद 'भीश्च त्राश्च' इस प्रकार विग्रह वाक्य करने पर इतरेतर द्वन्द्व समास से 'भीत्रौ' ऐसा शब्द बनता है। इसके बाद 'भीत्रौ अर्थो येषां ते भीत्रार्थाः' इस प्रकार बहुव्रीहि समास से 'भीत्रार्थ' शब्द बनता है। उस शब्द की षष्ठी विभक्ति बहुवचन में 'भीत्रार्थानाम्' पद बनता[2] है।

अतएव सूत्र का अर्थ यह होता है कि भयार्थक और त्राणार्थक धातुओं के प्रयोग होने पर भय का जो हेतु अर्थात् जिससे भय होता है उसकी अपादान संज्ञा होती है और तद्वाचक शब्द में 'अपादाने पञ्चमी' सूत्रानुसार पञ्चमी विभक्ति होती है। उदाहरण—चोराद् विभेति, चोर से डरता है। 'चोरात् त्रायते'—चोर से रक्षा करता है। इन उदाहरणों में चोर भय का हेतु होने से अपादान संज्ञा प्राप्त करता है और उसके वाचक चोर शब्द में पञ्चमी होती है।

सूत्र में भय का हेतु ऐसा क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिये गये हैं—'अरण्ये विभेति, त्रायते वा'—जंगल में डरता है या जंगल में रक्षा करता है। इन प्रत्युदाहरणों में जंगल भय का हेतु नहीं है बल्कि जंगल में रहनेवाले चोर डाकू आदि से भय होने के कारण चोर, डाकू आदि ही

---

1. भयं भीः, त्राणं त्राणं त्राः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७३४, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। भयं भीः, त्राणं त्राः सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्—पदमञ्जरी (काशिका, भाग १), पृ० ५३८, भीति भीः, त्राणं त्राः, सम्पदादित्वात् क्विप्—न्यास (काशिका, भाग १) पृ० ५३८।
2. पदमञ्जरी (काशिका, भाग १), पृ० ५३८, न्यास (काशिका, भाग १) पृ० ५३८।

भय का हेतु है, अरण्य नहीं[1]। इसलिये भयार्थक 'भी' धातु या त्राणार्थक 'त्रैङ् पालने' इस भ्वादिगणीय 'त्रै' धातु का प्रयोग होने पर भी 'अरण्य' शब्द में पञ्चमी विभक्ति नहीं हुई है।

सूत्र में भयार्थक और त्राणार्थक धातुओं के प्रयोग से ही भय के हेतु की अपादान संज्ञा कही गयी है। इसलिये 'व्याघ्रं पश्यति' इस प्रकार दर्शनार्थक 'दृश्' धातु के या भयार्थक और त्राणार्थिक धातु से भिन्न दूसरे और किसी धातु के प्रयोग से भय का हेतु होते हुए भी व्याघ्र की अपादान संज्ञा नहीं होती[2]।

अपादान संज्ञा को अपेक्षा अधिकरण संज्ञा का उल्लेख बाद में होने के कारण अधिकरण संज्ञा से अपादान संज्ञा की बाधा होती है। इस सिद्धान्त के आधार ही 'अरण्ये विभेति—त्रायते वा' जंगल में डरता है या रक्षा करता है—ऐसे वाक्य में स्थित सप्तमी विभक्त्यन्त 'अरण्ये' पद का प्रयोग उपपन्न होने पर भी सूत्र में 'भयहेतु' शब्द कहना आवश्यक है। नही तो 'अरण्ये चोराद् विभेति त्रायते वा' ऐसे वाक्यों में भयार्थक 'भी' धातु के या त्राणार्थक 'त्रै' धातु के प्रयोग स्थल में अरण्य की शेषत्व विवक्षा में अरण्य शब्द में जो षष्ठी विभक्ति हुई है वह नहीं हो पाती बल्कि वहाँ पर भी पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग की आपत्ति हो जाती है। 'भयहेतु' कहने से अरण्य की शेषत्व विवक्षा में अरण्य भय का हेतु न होने के कारण अरण्य शब्द में षष्ठी विभक्ति हो सकती है[3]।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने बुद्धिव्यवस्थापित अपाय मानकर इन सूत्रों

---

१. नात्रारण्याद् भयम्, किं तर्हि ? तत्रत्येभ्यश्चौरादिभ्यः—न्यास (काशिका, भाग १) पृ० ५३८, अत्र ततस्थेभ्यो वृक्षादिभ्यो भयम्, नारण्यात—पदमञ्जरी (काशिका भाग १) पृ० ५३८।

२. भीत्रार्थेति किम् ? व्याघ्रं पश्यति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. भयहेतुग्रहणाभावे कारकशेषत्वविवक्षायामतिप्रसङ्गः स्यात्। तथाच 'अरण्ये चोराद् विभेतीति प्रयोगो न स्यादिति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५८।

भी 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सूत्र से ही अपादान संज्ञा प्राप्त करा के अपादाने पञ्चमी की उपपत्ति होती है—ऐसा स्वीकार करके इस सूत्र को प्रत्याख्यान किया है।

'वारणार्थानामीप्सितः' (१-४-२७) सूत्र से चोर आदि की अपादान संज्ञा नहीं की जा सकती[1]। कारण चोर आदि से निवृत्ति वारणात्मक[2] होने पर भी चोर आदि ईप्सित न होने से चोर की 'वारणार्थानामीप्सितः' सूत्र से अपादान संज्ञा नहीं हो सकती।

'चोराद् बिभेति' या 'चोरात् त्रायते' इन प्रयोगों में हेतौ तृतीया विभक्ति प्राप्त थी। उसकी बाधा करके इस सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हुई है[3]।

१८९। पराजेरसोढः। (१-४-२६)

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात्। अध्ययनात् पराजयते। ग्लायतीत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृति।

परा उपसर्ग पूर्वक 'जि' धातु का प्रयोग होने पर जिस पदार्थ को सहन नहीं किया जा सकता उसकी अपादान संज्ञा हो। उदाहरण—'अध्ययनात् पराजयते'—अध्ययन को सहन नहीं कर सकता, अध्ययन से ग्लानि अनुभव करता है, यह अर्थ है। ग्लानि शब्द का शक्तिवैकल्य[4] यानी शक्ति का बिगड़ जाना अर्थ है।

---

१. वारणार्थानामीप्सित इत्यनेनात्रापादानसंज्ञा न प्राप्नोति चोराणामनीप्सितत्वात्—महाभाष्य प्रदीप (महाभाष्य खण्ड २), पृ० २५०।

२. ननु निवृत्तेरेव वारणत्वाद् वारणार्थानामित्यनेन सिद्धिरिति कुतो नोक्तमत आह वारणार्थानामीप्सित इति—उद्योत (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० २५०, निं० सा० प्रेस संस्करण।

३. चोरेण हेतुनेत्यर्थः हेतुतृतीया प्राप्ता। चोरेण हेतुना आत्मानं तत्कृतवधबन्धनादिनिवृत्त्यं रक्षतीत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६५९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. अध्ययनसम्बन्धिशक्तिवैकल्यमित्यर्थः—महाभाष्य प्रदीपोद्योत की टिप्पणी, (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० २५०।

परा उपसर्गपूर्वक 'जि' धातु कहीं कहीं अभिभव रूप अर्थ का वाचक होता है, जैसे—'शत्रून् पराजयते', शत्रुओं को पराजित या अभिभूत करता है। परन्तु यहाँ पर सूत्र में 'असोढ़:' पद रहने से परा पूर्वक 'जि' धातु ग्लानि का वाचक हुआ है[1]। जिसके साथ सम्बन्धित ग्लानि या शक्ति का वैकल्य है उससे ग्लानि को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति न्यून या हीन हो जाता है। 'अध्ययनात् पराजयते'—इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि जो व्यक्ति अध्ययन सम्बन्धीग्लानि को प्राप्त करता है वह अध्ययन के सामने मानो अपना सिर झुका देता है।

ग्लानि रूप अर्थ जब होता है तब परापूर्वक 'जि' धातु अकर्मक होता है और तभी परापूर्वक 'जि' धातु से 'अध्ययनात् पराजयते' यह उदाहरण होता है[2]।

परापर्वक 'जि' धातु का ग्लानिरूप अर्थ होनेपर अकर्मक हो जाने के कारण उसके प्रयोग से कर्म में द्वितीया न होकर शेष षष्ठी की प्राप्ति होती है। उसकी बाधा कर के अपादान संज्ञा प्रयुक्त 'अपादाने पञ्चमी' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हुई है[3]। अतः 'अध्ययनात् पराजयते' इस वाक्य का अध्ययन सम्बन्धि शक्ति वैकल्य को प्राप्त करता है, यह अर्थ है।

सूत्रस्थ 'असोढ़:' पद में 'सह' धातु के उत्तर जो 'क्त' प्रत्यय लगाया गया है उसका भूतकाल रूप अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः 'अध्ययनात् पराजेष्यते' इत्यादि प्रयोग भी होगा[4]।

---

१. पराजिः क्वचिदभिभवे वर्त्तते यथा शत्रून् पराजयते इति। असोढ़ग्रहणान्न्यूनीभाववृत्तिर्गृह्यते—महाभाष्य प्रदीप (महाभाष्य, खंड २), पृ० २६०।

२. एवञ्च पराजेरकर्मकत्वे उदाहरणत्वम्—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७३४, गु० प्र० शर्मा संस्करण।

३. अत्र चार्थेऽकर्मकत्वात् षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनम्—महाभाष्य (खण्ड २) प्रदीप पृ० २५०।

४. असोढ़ इति क्तार्थो भूतकालो न विवक्षितः। तेनाध्ययनात् पराजेष्यते इत्यादि सिद्धम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५६, तत्र क्तार्थो भूतकालो न विवक्षितः—

यह सूत्र भी हेतौ तृतीया का अपवाद है[१]। अध्ययन हेतुक ग्लानि को प्राप्त करता है इस अर्थ में 'अध्ययनेन पराजयते' ऐसे वाक्य प्रयोग की आपत्ति को रोककर इस सूत्र से 'अध्ययनात् पराजयते' ऐसा ही प्रयोग होगा।

२० वारणार्थानामीप्सितः (१-४-२७)

प्रवृत्ति विघातो वारणम्, वारणानार्थानां धातूनां प्रयोगे। ईप्सितोऽर्थोपादानं स्यात्। यवेभ्यो गां वारयति। ईप्सितः किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।

अनुवाद तथा विवृति।

वारणार्थंक धातुओं के प्रयोग से ईप्सित अपादान हो। प्रवृत्ति का विघात रोकना वारण शब्द का अर्थ है। वारणार्थक धातुओं के प्रयोग से ईप्सित अर्थात् इष्ट पदार्थ अपादान हो। उदाहरण—'यवेभ्यो गां वारयति', यवों से गाय को रोकता है। सूत्र में 'ईप्सित' क्यों कहा गया है? उत्तर—'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे', खेत में यवों से गाय को रोकता है।

सूत्रस्थ 'वारणार्थानाम्' इस समास पद का विग्रह 'वारणम् अर्थो येषां ते वारणार्थाः तेषाम्' ऐसा है। अतएव वारणार्थंक धातुओं के प्रयोग से वारणकर्त्ता का जो ईप्सित है, वह अपादान संज्ञा प्राप्त करता है और अपादान में पञ्चमी विभक्ति होती है।

सूत्र में जो वारण शब्द है उसका अर्थ है 'प्रवृत्तिविघात' अर्थात् प्रवृत्ति का निवृत्तीकरण[२]।

लघुशब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्ट के मतानुसार भक्षणसंयोगादिजनक-

मनोरमा, पृ० ६५६ अत्र कालोऽविवक्षितः। तेन पराजेष्यते इत्यपि भवति—महाभाष्य—प्रदीपोद्योत, पृ० २५०।

१. हेतुतृतीयापवादोऽयम्—बाल मनोरमा, पृ० ६५६।

२. प्रवृत्तिविघात एव वारणम्—बालमनोरमा पृ० ६५६।

व्यापाराभावानुकूल व्यापार वारण शब्द का अर्थ है[1]। अर्थात् स्थल विशेष में भक्षणजनकव्यापार के अभाव का अनुकूल व्यापार वारण शब्दार्थ है जैसे 'यवेभ्यो गां वारयति' यवों से गाय को रोकता है। यहाँ गोकर्तृक यवभक्षण जनक व्यापार, यव के साथ गाय के खुले मुख का संयोग रूप व्यापार है, उसका अभावानुकूल व्यापार गाय के मुख को खींच कर दूसरी जगह कर देना ही है।

'कूपादन्धं वारयति' इत्यादि स्थलों में कूप के साथ अन्ध का जो संयोग उसके जनक व्यापार का जो अभाव, उस अभाव के अनुकूल व्यापार है। इसी तरह भिन्न भिन्न स्थल में वारण शब्द का अर्थ समझना है।

बालमनोरमाकार वासुदेव दीक्षित के मतानुसार प्रवृत्ति विमुखीकरण वारण है, यह पहले बताया गया है। किसी वस्तु के बारे में प्रवृत्ति करते जो पहले विमुख नहीं था, उसको बाद में विमुख करना ही प्रवृत्तिविमुखीकरण शब्द का अर्थ समझा जाता है। अतएव यवों में प्रवृत्त होने के लिये इच्छुक गाय को प्रवृत्ति विमुख करता है—यही 'यवेभ्यो गां वारयति' वाक्य का अर्थ है[2]।

संयोगपूर्वक विश्लेष न होने से 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सूत्र से अपादान संज्ञा की प्राप्ति न होने के कारण यह 'वारणार्थानामीप्सितः' सूत्र आवश्यक हुआ है[3]।

इस सूत्र के प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस स्थल में यव अपने हैं और गाय दूसरे की, वहाँ यव अपने होने के नाते वारणकर्ता

---

१. भक्षणसंयोगादिजनकव्यापाराभावानुकूलो व्यापार इत्यर्थः—लघुशब्देन्दु० पृ० [illegible] गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. यवेषु प्रविवित्तुकामां गां प्रवृत्तिविमुखीकरोतीत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६५६।

३. संयोगपूर्वकविश्लेषाभावाद् 'ध्रुवमपाये' इत्यप्राप्ताविदं वचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६५६। यवसंयोगात् प्रागेव गां निवारयतीति 'ध्रुवमपाये—' इत्यनेनाप्राप्ते वचनमिदम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

संरक्षणीय होने से ईप्सित होकर अपादान संज्ञा को प्राप्त करते हैं। गाय दूसरे की होने से वह अनीप्सित है तथा वारणीय होने के कारण उसमें ईप्सितत्व की बाधा ही है। अतः "तथायुक्तं चानीप्सितम्" (१-४-५०) सूत्र से गाय कर्म संज्ञा प्राप्त करने से उसके वाचक 'गो' शब्द में कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

जिस स्थल में यव दूसरे के हैं, और गाय अपनी है, वहाँ पर गाय का वारण असम्भावित है। परन्तु वास्तव में वहाँ पर भी यव दूसरे के होने पर भी उन यवों के विनाश से अधर्म होगा, और यवों के मालिक गाय को बांध लेगा तथा गाय के मालिक को दण्ड भोगना पड़ेगा—इन सब बातों के ऊपर ध्यान देने से यव भी गाय के मालिक के द्वारा रक्षा के योग्य होते हैं तथा ईप्सित होने के कारण अपादान होते हैं। गाय अपनी होने पर भी गाय के द्वारा यवों को खाये जाने पर जो अधर्म आदि बाधक उपस्थित होते हैं उनकी निवृत्ति के लिये गाय रोकने योग्य होने से इष्टतम होने के कारण कर्म बन जाती है, और कर्मकारक में 'गो' शब्द में द्वितीया विभक्ति होती है[१]।

इस सूत्र के स्थल में भी बुद्धिपरिकल्पित अपाय स्वीकार करने पर भाष्यकार के मतानुसार 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र से ही यवों को अपादान संज्ञा प्राप्त होने से यव शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो सकती है। अतः यह सूत्र भी व्यर्थ है, ऐसा कहा जा सकता है[२]।

सूत्र में 'ईप्सितः' पद क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में यह प्रत्युदाहरण है—'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे'—यवों से खेत में गाय को रोकता है। इस प्रत्युदाहरण में 'क्षेत्र' ईप्सित न होने के कारण वारणार्थक धातु का प्रयोग होने पर भी 'क्षेत्र' शब्द में पञ्चमी विभक्ति न होकर क्षेत्र को अधिकरण संज्ञा प्राप्त होने से क्षेत्र शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है।

---

१. बाल मनोरमा, पृ० ६५९–६०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. बुद्धिपरिकल्पितापायमङ्गीकुर्वतो भाष्यकारस्य मते तु वैयर्थ्यमेतस्य स्फु.मेव—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५९।

इस सूत्र के उदाहरण के प्रसङ्ग में 'कूपादन्धं वारयति'—कूऐं से अन्धे को रोकता है, 'अग्ने र्माणवकं वारयति'—आग से बच्चे को रोकता है इत्यादि वाक्यों में कूप तथा अग्नि ईप्सित कैसे हो सकते हैं, यह विचारणीय है।

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य पतञ्जलि ने इस सूत्र के भाष्य में पहले कहा है 'तस्याऽपि कूप एवेप्सितः। पश्यत्ययम्—अन्धः कूपं मा प्रापदिति'—अर्थात्, वारणकर्त्ता का भी कूप ईप्सित ही है। कारण वह सोचता है 'अन्ध कूप को प्राप्त न करे'। इस स्थल में 'ईप्सित' शब्द क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तक क्रिया शब्द है, न कि अभिप्रेत पर्याय यह रूढ़ि 'ईप्सित' शब्द[2]। अतएव वारण क्रिया के द्वारा कूप भी वारणकर्त्ताको प्राप्त करने के लिये इष्ट होता है[3]।

इसके बाद भाष्यकार ने द्वितीय कल्प में कहा है—'अथवा यथैवास्यान्यत्रापश्यत ईप्सा एवं कूपेऽपि'[4]। अर्थात्, आंख से न देखनेवाले अन्ध की जैसे अन्य विषय में ईप्सा है, उसी तरह कूप में भी है[5]।

इस कल्प में वारण क्रिया का कर्म अन्ध को गमन क्रिया से कूप प्राप्त करने के लिये इष्ट होता है, इसलिये कूप की अपादान संज्ञा होती है। इस कल्प में भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि सूत्रस्थ 'ईप्सितः' पद का घटक जो 'क्त' प्रत्यय है उसका अर्थ कर्म के द्वारा केवल साधारणरूप से कर्त्ता का आक्षेप होता है। यह विशेषरूप से कहा नहीं गया है कि यह कर्त्ता कौन है। अतएव निवार्यमाण अन्ध की वारणरूप धात्वर्थ घटक गमनादि क्रिया से कूप प्राप्त करने के लिये इष्ट होता है और इसलिये अपादान संज्ञा प्राप्त करता है। अतएव वारणकर्त्तारूप प्रधानकर्त्ता का ईप्सित न होने पर भी निवार्यमाण अन्धरूप कूपप्राप्ति के कर्त्ता का ईप्सित होने से कूप की अपादान संज्ञा प्राप्त होती है।

---

१. पतञ्जलि महाभाष्य (खण्ड २), पृ० २५१, नि० सा० प्रेस संस्करण।
२. ईप्सितशब्दः क्रियाशब्द आश्रीयते न तु रूढ़िशब्दः—महाभाष्य प्रदीप, पृ० २५१।
३. वारणक्रियया आप्तुमिष्ट इत्यर्थः—महाभाष्य प्रदीप, पृ० २५१।
४. पतञ्जलि महाभाष्य (खण्ड २), पृ० २५१।
५. अपश्यतोऽन्धस्यास्य यथैव कूपादन्यत्र ईप्सा तथा कूपेऽपीति—पण्डित रुद्रधर शास्त्री द्वारा कृत महाभाष्य टिप्पणी, महाभाष्य (खण्ड २), पृ० २५१।

कूपशब्द में अपादाने पञ्चमी विभक्ति हुई है। कारण सूत्रस्थ 'ईप्सितः' पद घटक 'क्त' प्रत्ययार्थ कर्म से कर्त्तृ मात्रका ही आक्षेप होता है। वह कर्त्ता प्रधान या अप्रधान हो, इसमें कोई आग्रह नहीं है[१]। 'ईप्सितः' पद घटक क्तप्रत्ययार्थ कर्म से जो कर्त्ता का आक्षेप होता है वह आक्षिप्त कर्त्ता का ग्रहण उपलक्षण है[२]।

इस पर भी एक प्रश्न उठ सकता है कि अन्धकी कूप के बारे में जो ईप्सा है, इसमें क्या प्रमाण है ? इस सम्भावित प्रश्न के उत्तर में महाभाष्यकार ने कहा है कि जैसे अन्यान्य स्थलों में न देखने पर भी अन्ध को प्राप्त करने की इच्छा रूप ईप्सा होती है उसी प्रकार कूप के बारे में भी ईप्सा हो सकती है[३]। न देखने पर भी अन्ध गन्तव्य स्थल में जाना चाहता है। इससे अन्ध की गमन करने की प्रवृत्ति से गन्तव्य स्थल को प्राप्त करने की इच्छा रूप ईप्सा का अनुमान किया जाता है। न देखने से प्रवृत्ति अगर न मानी जाय तो अन्ध को किसी भी चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय में प्रवृत्ति नहीं होगी[४]।

'अग्ने माणवकं वारयति'—आग से बच्चे को रोकता है—इस वाक्य में अग्नि ईप्सित न होने पर भी इष्टत्वभ्रमसे अग्नि को स्पर्श करने की प्रवृत्ति के लिये उन्मुख बच्चे को उस प्रवृत्ति से विमुख करता है, ऐसा उस वाक्य का अर्थ होता है। वहाँ पर अग्नि के स्पर्श से बच्चे के ज्वल जाने के प्रसङ्ग से उस अग्नि के बारे मे प्रवृत्त्युन्मुख बच्चे को प्रवृत्तिविमुखीकरणात्मक वारण-क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिये इष्टतम होने के कारण माणवक कर्म हुआ है और अग्नि माणवक का ईप्सिततम होने पर भी वारणकर्त्ता का अग्नि ईप्सित

---

१. ईप्सित इत्यनेन कर्मणा कर्त्तृमात्रस्याक्षेपान्निवार्यमाणस्यान्धस्य गमनादिक्रियया कूप आप्तुमिष्टो भवतीति प्रवर्त्ततेऽपादानसंज्ञा—(महाभाष्य, खण्ड २) पृ० २५१, गमनादिक्रिययेति वारणधात्वर्थघटकियेत्यर्थः—उद्द्योत, पृ० २५१, नन्वेवमपि प्रधानकर्त्तुरनीप्सितत्वात् कथमेतत्प्राप्तिरत उक्तं कर्त्तृमात्रस्येति। उद्द्योत, पृ० २५१।

२. कर्त्तृग्रहणं चोपलक्षणम्—उद्द्योत, पृ० २५१।

३. अथवा यथैवास्यान्यत्रापश्यत ईप्सा एवं कूपेऽपीति—(महाभाष्य खण्ड २) पृ० २५१।

४. स हि अपश्यन्नपि गन्तव्यं जिगमिषति, अन्यथा न क्वचित्तस्य प्रवृत्तिः स्यात्—प्रदीप, (महाभाष्य, खण्ड २) पृ० २५१।

होने से अपादान संज्ञा प्राप्त करता है[1]। वारणकर्त्ता अग्नि से बच्चे को रोकता है, इसलिये अग्नि भी ईप्सित होता है। कारण अग्नि से बच्चे को रोकते समय अग्नि को किसी प्रकार से प्राप्त करके रोकना पड़ता है। अग्नि को शारीरिक या मानसिक क्रिया से प्राप्त किया जा सकता है।

बुद्धि परिकल्पित अपाय स्वीकार कर के इस सूत्र को 'भी' महाभाष्यकारने प्रत्याख्यान किया है।

अथवा सूत्रस्थ 'ईप्सित' शब्द क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तक क्रिया शब्द है। क्रिया शब्द के ग्रहण से वार्यमाण अन्ध आदि की गमनादि क्रिया से कूप आदि आप्यमान अर्थात् प्राप्त होते रहने से ईप्सित होने के कारण अपादान संज्ञा प्राप्त करते हैं[2]। सूत्र में तो यह बात विशेषरूप से नहीं कही गयी कि वारणकर्त्ता का ही ईप्सित होना चाहिये[3]। अतः वार्यमाण का जो ईप्सित है उसकी भी आपोदानसंज्ञा हो सकती है।

शब्देन्दशेखर में भी नागेश भट्टजीने इसी अभिप्राय से 'ईप्सित इत्यनेन प्रधानाप्रधान्यतरव्यापाराश्रय मात्रस्या क्षेपः'—ऐसा कहा है।[4]

इस मत के अनुसार भक्षणादिजनक व्यापार के अभाव के अनुकूल व्यापार

---

१. न न च अग्नेर्माणवकं वारयतीत्यत्र अग्नेरीप्सितत्वाभावात् कथमपादानत्वमिति वाच्यम्, इष्टत्वभ्रमादग्नौ विषये स्पर्शफलकप्रवृत्त्यभिमुखं माणवकं प्रवृत्तिविमुखं करोतीति तदर्थः। तत्राग्निस्पर्शे माणवकस्य दाहप्रसङ्गात्तद्विषयप्रवृत्तिनिवारणात्मकवारणक्रियया आप्तुमिष्टतमत्वे वारयितुरीप्सिततमत्वान्माणवकस्य कर्मत्वम्। अग्नेस्तु वारणक्रियेप्सिततममाणवकीयस्पर्शक्रियया आप्तुमिष्टतमत्वेन वारयितु रीप्सितत्वादपादानत्वम्—बालमनोरमा, पृ० ६६०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. क्रियाशब्दस्य तु ग्रहणं वार्यमाणस्यान्धादेर्गमनक्रियया कूपादेराप्यमाणत्वात् [illegible] यति—पदमञ्जरी, प्रथम खण्ड, पृ० ५४०।

३. नवात्र विशेषः श्रुतः कर्त्तुरीप्सित इति—पदमञ्जरी, पृ० ५४०।

४ लघुशब्देन्दु—पृ० ७३५।

...रण कहलाता है[1]। इसमें अन्तिम व्यापार प्रधान व्यापार है और मध्यवर्ती ...क्षणादिजनक व्यापार अप्रधान व्यापार है। प्रधान व्यापार का आश्रय ...रणकर्त्ता है और अप्रधान व्यापार का आश्रय भक्षणकर्त्ता है। दोनों में से ...सी एक के ईप्सित को अपादान संज्ञा होती है। प्रकृत वारणार्थक धातु का ...र्थ जो प्रधानीभूत व्यापार है उसके द्वारा प्रयोज्य जो प्रकृत वारणार्थक धातु ...का अर्थ रूप फल है उसके आश्रय को[2] कर्म कहे जाने से ईप्सित होने पर भी ...र या अग्नि की कर्मसंज्ञा नहीं होती, बल्कि अन्ध या माणवक ही उक्त ...फल का आश्रय होने से कर्मसंज्ञक होते हैं, और तत्प्रयुक्त अनभिहित कर्म में ...तीया विभक्ति होती है।

...११। अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति। (१-४-२८)

व्यवधाने सति यत्कर्त्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्।

...नुवाद तथा विवृति

व्यवधान रहने पर यत्कर्त्तृक दर्शनाभाव चाहता है वह अपादान हो। (अर्थात्) व्यवधान रहने पर यत्कर्त्तृक आत्मविषयक दर्शन का अभाव ...चाहता है, वह अपादानसंज्ञक हो।

सूत्रस्थ अन्तर्द्धिशब्द का अर्थ व्यवधान है[3]। नागेश भट्टजी ने शब्देन्दुशेखर ...में अन्तर्द्धि शब्द का परिष्कृत अर्थ बताया है कि अन्यकर्त्तृक तथा स्वकर्मक ...दर्शन, उसके अभाव के अनुकूल व्यवहित देश में स्थिति अन्तर्द्धि है[4]। ...त्र में 'अन्तर्द्धौ' शब्द में जो सप्तमी विभक्ति है वह 'यस्य च भावेन भाव-

---

१. अत्र पक्षे भक्षणादिजनकव्यापाराभावानुकूलव्यापार एव वारयतेरर्थः—महाभाष्य प्रदीपोद्द्योत (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० २५१।

२. कर्मलक्षणे तु तमव्ग्रहणात् प्रकृतधात्वर्थप्रधानभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयस्य ग्रहणम्—लघुशब्देन्दु, पृ० ७३५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. अन्तर्द्धि र्व्यवधानम्—महाभाष्य प्रदीपोद्द्योत, पृ० २५२।

४. अन्तर्द्धिः अन्यकर्त्तृकस्वकर्मकदर्शनाभावानुकूलो व्यवहितदेशस्थितिरूपः—लघुशब्देन्दु पृ० ७३५।

लक्षणम्' (२-३-३७) सूत्र से विहित 'सति सप्तमी' है।[1]

व्यास टीकाकार के मतानुसार 'अन्तर्द्धौ' शब्द में 'निमित्तात् कर्मयोगे' इस वार्त्तिक सूत्रानुसार सप्तमी विभक्ति है[2]। परन्तु हरदत्तजीने पदमञ्जरी टीका में इसका खण्डन कर के अन्तिम कल्प में 'सति सप्तमी' अर्थात् 'भावे सप्तमी' कहा है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है।

'अन्तर्द्धि' शब्द में 'सति सप्तमी' होने से व्यवधान होने के साथ आत्म-विषयक दर्शन का अभाव होता है, यह समझा जाता है।

परन्तु शब्देन्दुशेखर कार नागेश भट्ट के मतानुसार 'अन्तर्द्धि' शब्द का अन्यकर्त्तृक तथा स्वकर्मक दर्शन के अभाव के अनुकूल जो व्यवहितदेशस्थिति-रूप व्यापार अर्थ बतलाया गया है, उस अर्थ का घटक जो अन्यकर्त्तृक स्व-कर्मक दर्शन है, उसमें घटकत्वरूप अर्थ का बोध 'अन्तर्द्धौ' पद में स्थित सप्तमी विभक्ति से होता है—चिदस्थिमाला टीका में यह बात कही गयी है। जैसे 'वृक्षे शाखा' इस प्रयोग में 'वृक्षे' इस पद में स्थित सप्तमी विभक्ति से शाखा वृक्ष का घटक, ऐसा प्रतीत होता है, उसी तरह यहाँ पर भी समझना'[3]।

सूत्रस्थ 'येन' पद में जो तृतीया विभक्ति है वह कर्त्तृकारक में है—यह बाल मनोरमा टीकाकार वासुदेव दीक्षित तथा तत्त्वबोधिनी टीकाकार ज्ञानेन्द्र सरस्वतीजी का मत है। न्यास तथा पदमञ्जरी टीका में भी 'येन' पद में कर्त्तृकारक में तृतीया विभक्ति मानी गयी है[4]। परन्तु महाभाष्य की प्र...

१. यस्य च भावेनेति सप्तमी—उद्योत, पृ० २५२, तस्माद् विषयसप्तम्येषा, सदा... वा—पदमञ्जरी, (काशिका, खण्ड १), पृ० ५४१।

२. अन्तर्द्धाविति निमित्तसप्तमीयम्। 'निमित्तात् कर्मयोगे' इति सप्तमी—न्यास (काशिका, खण्ड १), पृ० ५४१।

३. अन्तर्द्धिघटकमित्यर्थः। 'वृक्षे शाखे' तिवत सप्तमी—चिदस्थिमाला, (लघुशब्देन्दु... गु० प्र० शास्त्री संस्करण, पृ० ७३५।

४. येनेति कर्त्तरि तृतीया—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६०, येनेति कर्त्तृ तृतीयेति ... बालमनोरमा, पृ०६६१, येनेति कर्त्तरि तृतीया—न्यास तथा पदमञ्जरी—पृ० ... (काशिका १ म भाग।

उद्योत टीका में इस तृतीया को 'सौत्रीतृतीया' कहा गया है[1]। 'सौत्री तृतीया' कहने का अभिप्राय यह है कि सूत्र में 'येन' पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग करने से उसीके आधार पर तृतीया विभक्ति का समर्थन करना चाहिये। शब्देन्दुशेखर कार के मतानुसार भी यह सौत्री तृतीया है[2]।

सौत्री तृतीया कहने का अभिप्राय यह है कि 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' (२-३-६५) सूत्रानुसार कर्त्तृ वाचक 'येन' पद में षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति है। उस षष्ठी को रोकने के लिये सूत्र में तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। कर्त्ता तथा कर्म दोनों का सूत्र वाक्य में प्रयोग न होने से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२-३-६६) सूत्रानुसार कर्त्तृ वाचक में षष्ठी नहीं रोकी जा सकती। कारण वाक्य में कर्त्तृ वाचक तथा कर्मवाचक दोनों पदों का प्रयोग होने पर ही 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्रानुसार कर्म में षष्ठी होने से कर्त्ता में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (२-३-१८) सूत्रानुसार तृतीया हो सकती है। किन्तु स्थिति यहाँ की ऐसी नहीं है। इसीलिये 'सौत्री तृतीया' कही गयी है[3]। अतः सूत्र का निष्कृष्टार्थ यह हुआ है कि अन्तर्द्धि या व्यवधान के कारण कर्तृक आत्मकर्मक दर्शन के अभाव की इच्छा करता है, वह अपादान संज्ञक हो।

बालमनोरमाकार तथा तत्त्वबोधिनी टीकाकार के मतानुसार 'येन' पद में कर्तृकारक में तृतीया विभक्ति हुई है, यह पहले कहा गया है। उनका कहना है कि 'आत्मनः' यह कर्म गम्यमान होने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्रानुसार कर्ता तथा कर्म दोनों में कृद्योग षष्ठी की प्राप्ति होने से कर्म में ही षष्ठी होगी, कर्ता में नहीं। परन्तु ऐसा कहना भाष्यविरुद्ध है। कारण भाष्यकार

---

१. येनेति सौत्री तृतीया—उद्योत—(महाभाष्य, खंड २) पृ० २५२।

२. येनेत्यत्र 'कर्त्तृकर्मणो' रिति षष्ठी न, सौत्रत्वात्—लघुशब्देन्दु, पृ० ७३५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. उभयोः प्रयोगाभावेनोभयप्राप्तावित्यस्याप्रवृत्तेः। उभयप्रयोग एव तत्प्रवृत्तिरित्यात्म-नेति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्—उद्योत (महाभाष्य, खंड २) पृ० २५२।

कि मतानुसार कर्त्ता तथा कर्म दोनों का ही वाक्य में प्रयोग होने पर केवल कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है—यह भी पहले बताया गया है।

सूत्र में 'आत्मनः' पद न रहने पर भी वह पद गम्यमान या ऊह्य है[1]।

नागेश भट्टजी के मतानुसार सूत्र की व्याख्या में 'आत्मनः' यह पद प्रत्यासत्ति से प्राप्त हुआ है[2]। यहाँ पर प्रत्यासत्ति से कैसे 'आत्मनः' इस पद की प्राप्ति होती है, यह नागेश जी ने स्पष्ट नहीं बताया है। परन्तु न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि ने जो बात कही है उसका भाव यह है कि इस सूत्र में जो अदर्शन शब्द कहा गया है उसके अर्थ दर्शनाभाव का घटक दर्शन का कर्म आत्मा ही है, कारण वही अन्तरङ्ग है[3]। बालमनोरमाकार ने कहा है—(सूत्र की व्याख्या में स्थित) आत्मशब्द से इच्छा का जो कर्त्ता वही विवक्षित है[4]। अब विचारणीय है कि 'आत्मनः' यह कर्मवाचक षष्ठ्यन्त पद सूत्र की व्याख्या में कैसे प्राप्त हो सकता है। शब्देन्दुशेखरकार ने 'आत्मन इति प्रत्यासत्तिलभ्यम्' ऐसा कहा है, यह पहले बताया गया है। प्रत्यासत्ति शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है सम्बन्ध। वह सम्बन्ध अदर्शन का घटक दर्शन क्रिया के साथ आत्मा का कर्मत्वरूप सम्बन्ध ही है। कारण क्रिया के साथ कारक का जो सम्बन्ध वह सम्बन्ध अन्तरङ्ग होता है[5]। और अदर्शन का घटक दर्शन का कर्म 'इच्छति' पदबोध्य क्रिया का कर्त्ता स्वयं ही विवक्षित है। बालमनोरमा टीका तथा न्यास टीका में यह बात स्पष्ट कही गयी है। कारण यह प्रतीत होता है कि 'इच्छति' पदवोध्य क्रिया का जो कर्त्ता है उसका सबसे घनिष्ठ

---

१. अत्र आत्मन इति गम्यमानत्वादस्त्युभयोः प्राप्तिः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६१, ... इत्यध्याहारलभ्यम्—बालमनोरमा, पृ० ६६१।

२. आत्मन इति प्रत्यासत्तिलभ्यम्—लघुशब्देन्दु, पृ० ७३५।

३. कर्म त्वत्रादर्शनस्यात्मा तस्यान्तरङ्गत्वात् स एव कर्म विज्ञायते—न्यास (काशिका भाग १), पृ० ५४२।

४. आत्मशब्देन इच्छतिकर्त्ता विवक्षितः—बालमनोरमा, पृ० ६६१।

५. क्रियाकारकयोर्हि सम्बन्धः अन्तरङ्गः—बालमनोरमा, पृ० ६९६, म० म० ... शर्मा संस्करण।

न्ध, जो कि तादात्म्य सम्बन्ध ही है, वह सम्बन्ध अपने साथ ही है। लिये शब्देन्दुशेखर ग्रन्थ में नागेशभट्ट जीने 'आत्मन इति प्रत्यासत्तिलभ्यम्' कहा है।

सूत्र की व्याख्या में 'तदपादानं स्यात्' ऐसा कहने से जो 'तत्' पद का वह मिलता है वह सूत्र में न कहे जाने पर भी सूत्र में उल्लिखित 'येन' के प्रतिपादक 'यत्' के साथ 'तत्' का नित्यसम्बन्ध के कारण प्राप्त होता और कारक के अधिकार में यह सूत्र पठित होने से 'तदपादानं स्यात्' का अर्थ 'तत् कारकमपादानं स्यात्' ऐसा ही समझना है। काशिकावृत्ति स्पष्टतः 'तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति' ऐसी व्याख्या की गयी है।

सूत्र के उदाहरण के लिये 'मातुर्निलीयते कृष्णः'—कृष्ण भगवान् माता छिपते हैं, यह वाक्य कहा गया है। इस वाक्य से यह अर्थ प्रतीत होता है कृष्ण भगवान् अपनी माता से कुछ दूरी पर हैं। वे नहीं चाहते कि माता उनको देख लें।, इसलिये वे माताजी से छिपते हैं। कृष्ण भगवान् यहाँ ध्यान के रहते मातृकर्तृक आत्मविषयक दर्शन का अभाव चाहते हैं, इस- माता की अपादान संज्ञा हुई, और उस के वाचक शब्द में अपादाने पञ्चमी क्ति हुई है। यहाँ गम्यमान दर्शन क्रिया का कर्तृत्वनिबन्धन माता में तृतीया विभक्ति को रोककर या तो मातृसम्बन्धी निलयन इस तात्पर्य दशा में सम्बन्धे षष्ठी को रोककर इस सूत्र से अपादान संज्ञा होनेपर दाने पञ्चमी हुई है।[२]

सूत्र में 'अन्तर्द्धौ' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है? इसके उत्तर में उदाहरण दिया गया है—'चौरान् न दिदृक्षते'—चोरों को देखना नहीं या यहाँ पर व्यवधान नहीं है, चोर आमने-सामने आ गये हैं, केवल चोर

१. सूत्रेऽनुपात्तोऽपि तच्छब्दो यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाल्लभ्यते—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग १) पृ० ५४२।

२. कर्तृतृतीयापवादोऽयं षष्ठ्यपवादो वा—बालमनोरमा, पृ० ६६१ म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

मुझे न देखें इस बुद्धि से चोरों को देखना नहीं चाहता। इसलिये व्यवधान न होने के कारण चोरों की अपादान संज्ञा नहीं हुई। अतः अनुक्त कर्मकारक में 'चौरान्' पद में द्वितीया विभक्ति हुई है।

शब्देन्दुशेखर में नागेश भट्ट जी ने कहा है कि 'चौरान् न दिदृक्षते' इस वाक्य का चोरकर्मक जो दर्शन तद्विषयक इच्छा का अभाव रूप अर्थ प्राप्त होता है। वह अर्थ चोरकर्तृक स्वकर्मक दर्शन के अभाव के लिये अभिप्रेत है—इसलिये चोरों के अपादानत्व की प्राप्ति होती है। इसको रोकने के लिये सूत्र में 'अन्तर्द्धौ' पद का प्रयोग किया है[1]।

सूत्र में 'इच्छति' पद क्यों कहा गया है इसके उत्तर में कहा गया है कि अदर्शन की इच्छा रहने पर भी कदाचित् दर्शन हो जाने पर यत्कर्तृक स्वकर्मक दर्शन का अभाव चाहता है, वह अपादान संज्ञा प्राप्त करता है। नहीं तो जहाँ पर दर्शन का अभाव मात्र रहेगा केवल वहीं अपादान संज्ञा हो सकती।[2]

इसी तरह सूत्र में 'येन' पद न रहने पर स्वकर्मक दर्शन का अभाव जो चाहता है ऐसे इच्छाकारी व्यक्ति की ही अपादान संज्ञा हो जाती है। इसलिये 'यत्कर्तृक' इस तात्पर्य से 'येन' पद का प्रयोग किया गया है[3]।

न्यास तथा पदमञ्जरी टीका में भी इसी तरह की बात कहकर बाद में कहा गया है कि सूत्र में 'येन' पद न रहने पर सूत्र का कोई संगत अर्थ नहीं हो सकता। कारण इस सूत्र में भी 'ध्रुवम्' पद की अनुवृत्ति होती है। अतः सूत्र का अर्थ होता है कि व्यवधान रहने पर जो अपना अदर्शन चाहता है ऐसे 'ध्रुव' को अपादान संज्ञा होती है। परन्तु जो 'ध्रुव' या अवधिभूत

१. चोरकर्मकदर्शनेच्छाभाव इति शाब्दोऽर्थः, स च चोरकर्तृकस्वदर्शनाभाव... प्राप्तिः.........प्रकृते नान्तर्द्धिरिति न दोषः—लघुशब्देन्दुशेखर, गु० प्र० ... पृ० ७३५।

२. अन्यथा यत्र दर्शनाभावः एव तत्रैव स्यादिति भावः।—लघुशब्देन्दु, पृ० ७३६।

३. येनेत्यस्याभावे हि स्वकर्मकदर्शनाभावं य इच्छतीत्यर्थे कर्तुरेव स्यादतः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७३५।

इच्छा नहीं करता है, और जो इच्छा करता है, वह ध्रुव नहीं है[1]।

अतएव सूत्र में 'येन' पद न रहने पर सूत्र अवाचक हो जाता है, अर्थात् बोध नहीं कराता है। इस दोष को हटाने के लिये सूत्र में 'येन' पद कहा है। 'येन' पद रहने से व्यवधान रहते अवधिभूत जिस कर्त्ता के द्वारा विषयक दर्शन का अभाव चाहता है, वह कारक अपादान संज्ञा प्राप्त करता है और उस अपादान में पञ्चमी होती है। 'ध्रुवम्' पद की अनुवृत्ति होने से सूत्र का यह अर्थ होता है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने बुद्धिकृत अपादानत्व का आश्रय लेकर इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान किया है[2]।

आख्यातोपयोगे। (१-४-२९)

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्? नटस्य गाथां शृणोति।

अनुवाद तथा विवृति।

उपयोग होने पर आख्याता अर्थात् वक्ता अपादान होता है। नियम पूर्वक ब्रह्मचर्य भूमिशयन आदि करके उपाध्याय के उच्चारण के पश्चात् उच्चारण रूप विद्याग्रहणात्मक अध्ययन करने पर वक्ता अर्थात् आचार्य पूर्वोक्त संज्ञा यानी अपादान संज्ञा प्राप्त करता है। उदाहरण—उपाध्यायादधीते—उपाध्याय से अध्ययन करता है। 'उपेत्य अस्मादधीयते'—इनके पास जाकर अध्ययन किया जाता है—इस अर्थ में उपाध्याय शब्द बना है। नियम-

1. येनेत्यस्मिन्नसति अदर्शनमिच्छतः शिष्यस्यैव स्यात्, ध्रुवमित्यनुवर्त्तिष्यते। एवं तर्हि सूत्रस्यावाचकत्वं मा भूत्। असति हि तस्मिन् अन्तर्द्धौ ध्रुवमपादानसंज्ञं भवति तच्चेद् ध्रुवमदर्शनमिच्छतीत्यर्थः स्यात्। न च ध्रुवमिच्छति, यच्चेच्छति न तद्ध्रुवमित्यवाचकं स्यात्—पदमञ्जरी (काशिका, भाग १) पृ० ५४२ तथा न्यास, पृ० ५४२ पूर्वोक्त संस्करण।

2. भाष्ये तु बुद्धिकृतमपादानत्वमाश्रित्य इदमपि प्रत्याख्यातम्—बालमनोरमा, पृ० ६६२। अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम् ...... स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्त्तते तत्र ध्रुवमपायेऽपादानमित्येव सिद्धम्—महाभाष्य, (खण्ड २), पृ० २५२-२५३।

पूर्वक विद्यास्वीकार रूप अर्थ में ही उपयोग शब्द रूढ़ है। भाष्यकार ने 'अथवा' इत्यादि अन्तिम कल्प में उपयोग शब्द का यही अर्थ बताया है।[1]

तत्त्वबोधिनी टीका में भी उपाध्याय शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है कि 'उपेत्य अस्मादधीयते' इनके पास जाकर अध्ययन किया जाता है—इस अर्थ में उपाध्याय शब्द बना है।

सूत्र में 'उपयोगे' क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है 'नटस्य गाथां शृणोति'—नट की गाथा सुनता है। इस प्रत्युदाहरण में नटजन्य श्रवण का बोध होने से नट का कारकत्व प्राप्त होता है। परन्तु नटजन्य श्रवण होने पर भी सुननेवाले को नियमपूर्वक विद्याग्रहण या नट को नियमपूर्वक विद्यावक्तृत्व न होने के कारण नट की अपादान संज्ञा नहीं होती।[2] अथवा 'गाथाकर्मक नटसम्बन्धी श्रवण' इस प्रकार अर्थ मानने से नट का श्रवण क्रिया से अन्वय करने पर उसका कारकत्व प्राप्त होता है[3]। नट से गाथा का श्रवण नियमपूर्वक न होने से नट का अपादानत्व नहीं होता। यदि नट से नियम पूर्वक गाथा का श्रवण किया जाय तो [4]'नटात् शृणोति गाथाम्' नट से गाथा सुनता है—ऐसा प्रयोग होने में कोई बाधा नहीं है।

---

१. अथवा उपयोगः को भवितुमर्हति ? यो नियमपूर्वकः—महाभाष्य, (खण्ड २) पृ० २५३, नि० सा० प्रेस संस्करण। तत्रैवोपयोगशब्दो रूढ इति भाव—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। उपयोगशब्दस्य [illegible] नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम्—भाष्यप्रदीप, पृ० २५३ उपयोगशब्दस्य तत्र [illegible] तु लक्षणया प्रयोगः—उद्द्योत, पृ० २५३।

२. नटजन्यंश्रवणमिति बोधात् कारकत्वम्। नियमपूर्वकविद्या-वक्तृत्वाभावान्न— लघुशब्देन्दु०, पृ० ७३६।

३. गाथाकर्मकं नटसम्बन्धि श्रवणमित्यर्थः। नटस्य गाथान्वये तु कारकत्वाभावाद् [illegible] रुपयोगग्रहणं समर्थितं न स्यात—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६२। नटं विना गीत[illegible] श्रयोगात्तस्य तज्जनकतया कारकत्वम्—उद्द्योत, पृ० २५३।

४. यदा नटादिभ्योऽपि तथ ध्ययनं तदा नटाच्छृणोतीति भवत्येवेति [illegible] उद्योत, पृ० २५३, महाभाष्य (खंड २) नि० सा० प्रेस।

उपाध्याय से निर्गत वेद को ग्रहण करता है, ऐसा अर्थ मानकर भाष्यकार ने इस सूत्र का भी प्रत्याख्यान किया है[1]।

भाष्यकार के सिद्धान्तानुसार ज्ञान ही शब्द के रूप में परिणाम प्राप्त होता है[2]। अतः उपाध्याय का ज्ञान शब्द के रूप में परिणत होकर उनसे निर्गत होता है। उन शब्दों को विद्यार्थी ग्रहण करता है।

शब्दतत्त्व के बारे में भिन्न भिन्न शास्त्रों में भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं। भर्तृहरि ने कहा है कि शब्दतन्मात्रात्मक वायु का परमाणु शब्द के रूप में परिणाम प्राप्त होता है—यह भी एक मत है[3]। तथा ज्ञान शब्द के रूप में परिणत होता है—यह अन्य एक मत है। इसके बारे में कैयट ने महाभाष्य की प्रदीपटीका में कहा है कि यह मत महाभाष्यकार का है।

१६३। जनिकर्त्तुः प्रकृतिः। (१-४-३०)

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।

अनुवाद तथा विवृति।

जो उत्पन्न होता है, उसका हेतु अपादान हो। उदाहरण—ब्रह्मा जी से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं।

सूत्र में 'जनिकर्त्तुः' पद है उसका अर्थ जनि अर्थात् उत्पत्ति का जो कर्त्ता, उसका 'जन्' धातु के साथ भाव अर्थ में 'इन्' प्रत्यय जोड़ने से जनिशब्द का उत्पत्ति अर्थ है। उत्पत्ति का कर्त्ता कहने से जो उत्पन्न होता है वही समझा जाता है। 'जनिकर्त्तृ' शब्द की षष्ठी विभक्ति एकवचन में 'जनि-

---

१. भाष्ये तु उपाध्यायान्निर्गतं वेदं गृह्णातीत्यर्थमाश्रित्य प्रत्याख्यातमिदम्—बालमनोरमा, पृ० ६६२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्—महाभाष्य, पृ० २५४ (खंड २),

२. ज्ञानस्य शब्दरूपतापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य—प्रदीप (महाभाष्य खंड २) पृ० २५४. नि० सा० प्रेस।

३. वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते। कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः। वाक्यपदीय, काण्ड १, १०८ श्लोक।

कर्त्तुः' पद बनता है। अतएव 'जनिकर्त्तुः' शब्द का 'जायमानस्य' ऐसा अर्थ किया गया है। 'जनेः कर्त्ता' इस प्रकार विग्रह करने पर शेष षष्ठी विभक्त्यन्त 'जनेः' पद के साथ 'कर्त्ता' पद का षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है। कारकषष्ठी विभक्ति से समास का विग्रह वाक्य नहीं कहना, कारण 'तृजकाभ्यां कर्तरि' (२-२-१५) सूत्र से कारक षष्ठी से समास का निषेध किया गया है[1]। परन्तु पदमञ्जरी टीका में हरदत्तजी ने 'जनिकर्त्तुः' पद में कर्मकारक में षष्ठी विभक्त्यन्त 'जनेः' पद के साथ 'कर्त्ता' इस पद का समास माना है। उनके मतानुसार कारकषष्ठी विभक्त्यन्त पद के साथ कर्तृकारक में 'तृच्' प्रत्ययान्त पद का समास निषिद्ध है, वह निषेध अनित्य है। 'जनिकर्त्तुः' इस सूत्रस्थ समासबद्ध पद से यह बात ज्ञापित होती है[2]।

सूत्रस्थ 'प्रकृति' शब्द के अर्थ के बारे में मतभेद है। काशिकावृत्तिकार के मतानुसार सूत्रस्थ प्रकृति शब्द का हेतु या कारणमात्र अर्थ है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के तथा भाष्यव्याख्या प्रदीपटीका के रचयिता कैयट आचार्य के मतानुसार केवल उपादानकारण या समवायिकारण ही 'प्रकृति' शब्द का अर्थ है[3]। पदमंजरी टीका में हरदत्तजी ने भी 'प्रकृति' शब्द का उपादान कारण ही अर्थ बताया है[4]।

शब्देन्दुशेखरकार के मतानुसार भी सूत्रस्थ 'प्रकृति' शब्द का उपादान कारण ही अर्थ है[5]।

---

१. जनेः कर्त्तेति विग्रहः। शेषषष्ठ्या समासः। 'तृजकाभ्यां कर्तरि' इति निषेधस्तु कारकषष्ठ्या एवेति वक्ष्यते—बालमनोरमा, पृ० ६६२, जननं जनिरुत्पत्तिः।...... तस्याः कर्त्तेति शेषषष्ठ्या समासः, न तु कारकषष्ठ्या, तृजकाभ्यामिति निषेधात्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. जनेः कर्त्तेति कर्मणि षष्ठ्या समासः। अयमेव च निर्देशो ज्ञापयति 'कर्तरि च' इति प्रतिषेधोऽनित्यः—पदमंजरी (काशिका, भाग १), पृ० ५४३।

३. इह प्रकृतिग्रहणं हेतुमात्रपरमिति वृत्तिकृन्मतम्, पुत्रात् प्रमोदो जायत इत्युदाहरणात्। उपादानमात्रपरमिति भाष्यकैयटमतम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६२।

४. उपादानकारणमित्यर्थः—पदमंजरी, पृ० ५४४ काशिका, भाग १)।

५. प्रकृतिरुपादानकारणम्—लघुशब्देन्दु० पृ० ९३६।

परन्तु न्यासटीका में आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि जी कहते हैं कि 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (१-४-२४) सूत्र से 'ध्रुवम्' पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में है। अतएव इस सूत्र में 'प्रकृति' शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है। कारण अवधिभूत जो है वही ध्रुव होता है। 'जनि' या उत्पत्ति का जो कर्त्ता है उसकी अवधि तो उसका कारण ही हो सकता है क्योंकि कारण से ही तो कार्य निकलता है। अतएव सूत्र में प्रकृति शब्द का ग्रहण न करने पर भी प्रकृति या उपादान कारण की ही अपादान संज्ञा होगी।

इस प्रकार की आशङ्का करके उन्होंने समाधान किया कि 'पुत्रात् प्रमोदो जायते'—पुत्र से प्रमोद या प्रकृष्ट आनन्द होता है—इस प्रकार प्रयोग के कारण उपादान कारण से भिन्न पुत्र आदि की अपादान संज्ञा कराने के लिये 'प्रकृति' शब्द का ग्रहण किया गया है।

सूत्र में 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र से ध्रुव शब्द की अनुवृत्ति करके प्रकृति शब्द के उल्लेख के बिना भी कारण की अपादान संज्ञा प्राप्त कराना सम्भव होने पर भी फिर से प्रकृति शब्द के ग्रहण से सभी प्रकार के कारण की अपादान संज्ञा होती है[1]।

सूत्रस्थ 'प्रकृति' शब्द का अर्थ कारणमात्र या उपादान कारण कुछ भी हो, उदाहरण के रूपसे 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते'—ब्रह्मा जी से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं—यह वाक्य उभयमतसाधारण उदाहरण है[2]। ब्रह्म शब्द से हिरण्यगर्भ को यदि समझा जाय तो हिरण्यगर्भ घट आदि के लिये कुम्भकार आदि के सदृश निमित्त कारण ही माना गया है। और यदि ब्रह्म शब्द से

---

१. अथ प्रकृतिग्रहणं किमर्थम्? यावता ध्रुवमित्यनुवर्त्तते, ध्रुवञ्चावधिभूतमित्युक्तम् जनिकर्त्तुश्चावधिः कारणमेव भवति; तत्रान्तरेणापि प्रकृतिग्रहणं प्रकृतेरेव भविष्यति! नैतदस्ति; पुत्रात् प्रमोदो जायत इत्यादौ पुत्रादेरप्यपादानसंज्ञा यथा स्यादित्येवमर्थं प्रकृतिग्रहणम्.........तत्रासति प्रकृतिग्रहणे प्रत्यासत्तेरुपादानकारणस्यैव स्यात्, नेतरस्य। प्रकृतिग्रहणे तु सति सर्वस्यैव कारणमात्रस्य भवति—न्यास (काशिका, भाग १), पृ० ५४४, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. उभयसाधारणमुदाहरणमाह—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६२।

अद्वैत वेदान्त सम्मत ब्रह्मतत्त्व को लिया जाय तो मायोपहित ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण या अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, इस सिद्धान्तानुसार उदाहरण सङ्गत होता है[1]।

भाष्यकार ने 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'—इस सूत्र के द्वारा ही उसकी उपपत्ति की है और इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है[2]।

५९४ भुवः प्रभवः (१–४–३१)

भवनं भूः। भूकर्त्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। तत्र प्रकाशते इत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—प्रथम प्रकाश का स्थल (अपादान हो) सूत्रस्थ 'भूः' शब्द का 'भवन' अर्थात् प्रथम प्रकाश अर्थ है। जो प्रथम प्रकाशित होता है, उसके प्रथम प्रकाश का स्थल उस प्रकार अपादान हो। उदाहरण— हिमालय से गङ्गा प्रकाशित होती है। वहाँ पर (प्रथम) देखी जाती है, यह अर्थ है[3]।

इस सूत्र में 'जनिकर्त्तुः' (१–४ ३०) इस पूर्वसूत्र में जो 'कर्तृ' शब्द है वह समास में उल्लिखित होने पर भी उसमें पाणिनि व्याकरण सम्मत के अनुसार स्वरितस्वर होने के कारण उसकी अनुवृत्ति इस सूत्र में भी है।

---

१. ब्रह्मणः हिरण्यगर्भादित्यर्थः। घटादिषु कुलालादिवत् तस्य प्रजोत्पत्तौ निमित्तत्वमिति भावः……ब्रह्मशब्देन मायोपहितमीश्वरचैतन्यं विवक्षितम्। तद्धि सर्वोपादानमिति वेदान्तसिद्धान्तः—बालमनोरमा, पृ० ६६२, विवर्त्तोपादानमिति शङ्करमतम्, परिणाम्युपादानमिति भट्टभास्करमतम्—(लघुशब्देन्दु०) विवृति, पृ० ७३६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२, अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्—महाभाष्य, पृ० २५४ (खण्ड २)

३. प्रथमं दृश्यत इत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ०

४. पूर्वसूत्रे समासनिर्दिष्टमपि कर्तृपदमनुवर्त्तते स्वरितत्वादित्याह भूकर्त्तुरिति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६५, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण। पूर्वसूत्रे समासनिर्दिष्टं कर्त्तृपदमेकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलादिहानुवर्त्तते—बालमनोरमा, पृ० ६६५, संस्करण।

तात्पर्य यह है कि 'स्वरितेनाधिकारः' (१-३-११) इस सूत्र के अनुसार स्वरितत्वयुक्त शब्दस्वरूप अधिकृत है, यह समझना है। पूर्व 'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः' सूत्रस्थ कर्त्तृ शब्द पाणिनिव्याकरण सम्प्रदाय के अनुसार स्वरितस्वरयुक्त है। अतएव परवर्त्ती 'भुवः प्रभवः' सूत्र में उसका अधिकार माना गया है। पूर्वसूत्रस्थ 'जनिकर्त्तुः' इस समासवद्ध पद का एकदेश केवल 'कर्त्तृ' शब्द की अनुवृत्ति प्रायशः नहीं की जाती है। कारण समासवद्ध सम्पूर्ण पद का ही अधिकार परवर्त्ती सूत्र में होना स्वाभाविक है। परन्तु जहाँ समासवद्ध सम्पूर्ण शब्द के एकदेश में स्वरित स्वर है, वहाँ एकदेश का ही अधिकार परवर्त्ती सूत्र में माना जाता है।

सूत्रस्थ 'भुवः' पद की प्रकृतिभूत 'भू' शब्द 'भू' धातु से 'सम्पदादित्वात् क्विप्' इस वार्त्तिकसूत्र से 'भाव' अर्थ में क्विप् प्रत्यय लगाकर बना है। अतः 'भू' शब्द का 'भवन' अर्थ है। यहाँ 'भवन' शब्द का प्रथम प्रकाश अर्थ है। उस प्रथम प्रकाश का जो कर्त्ता है अर्थात् जो प्रथम प्रकाशित होता है, उसका 'प्रभव' यानी प्रथम प्रकाशस्थल की अपादान संज्ञा प्राप्त होती है। सूत्र में उल्लिखित 'प्रभव' शब्द का 'प्रभवति प्रथमं प्रकाशतेऽस्मिन्' अर्थात् इसमें प्रथम प्रकाशित होता है यह अर्थ है। अथवा 'प्रभवत्यस्मात्' अर्थात् यहाँ से प्रथम प्रकाशित होता है---इस प्रकार अपादान अर्थ में 'ऋदोरप्' (३-३-५७) सूत्र से 'प्र' पूर्वक 'भू' धातु से 'अप्' प्रत्यय जोड़कर 'प्रभव' शब्द बनने के कारण जहाँ से प्रथम प्रकाशित होता है, वह स्थल, यह अर्थ निकलता है। नागेशभट्ट जी के मतानुसार 'प्रभव' शब्द में 'प्र' उपसर्ग ग्रहण करने से प्रथम प्रकाशरूप अर्थ समझा जाता है।[1] 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' इस उदाहरण में स्थित 'प्रभवति' पद का 'उत्पद्यते' या उत्पन्न होता है—ऐसा अर्थ करने से

१. प्रभवनं प्रथमप्रकाशः प्रग्रहणात्—शब्देन्दुशेखर, पृ० ७३६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

असङ्गति होती है। कारण गङ्गा हिमालय से उत्पन्न नहीं होती है।[1]

'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः' (१-४-३०) इस पूर्वसूत्र से 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' इस वाक्य में स्थित 'हिमवतः' पद में अपादाने पञ्चमी विभक्ति की उपपत्ति नहीं की जा सकती। कारण 'जनि' शब्द का अभूतप्रादुर्भाव अर्थ है और अन्य स्थल से सिद्ध वस्तु का प्रथम उपलम्भ अर्थात् ज्ञान को 'प्रभव' कहा जाता है।[2] अतएव अर्थ का भेद होने के कारण पृथक् सूत्र कहने की आवश्यकता है।

बुद्धिकृत अपादानत्व स्वीकार करके भाष्यकार ने इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया है।[3]

'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' (वा १४७४-१४७५)। प्रासादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते, प्रासादमारुह्य आसन उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वशुराज्जिह्रेति। श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः।

ल्यप्प्रत्ययान्त पद का लोप होनेपर अर्थात् वाक्य में ल्यबन्तशब्द का ज्ञान न होने पर[4] अथवा ल्यबन्त पद का लोप यानी अदर्शन अर्थात् अप्रयोग होने पर, गम्यमान होने पर, गम्यमान ल्यप्प्रत्ययान्त पद के अर्थ के साथ सम्बद्ध कर्मकारक तथा अधिकरणकारक में पञ्चमी विभक्ति हो। ल्यप्प्रत्ययान्त पद का अर्थ गम्यमान होने के कारण वाक्य में उस का प्रयोग न किये

---

१. प्रभवतीत्यस्य उत्पद्यते इत्यर्थे तु असङ्गतिः, गङ्गायास्ततोऽनुत्पत्तेः—बालमनोरमा पृ० ६६३। म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। जन्यर्थस्तु अत्र न सम्भवत्येव, न हि हिमवान् गङ्गायाः कारणम्, साहि कारणेभ्य उत्पद्य, हिमालये केवलं प्रथम उपलभ्यते न्यास—पृ० ५४५ (खंड, १)

२. तथाच अभूतप्रादुर्भावो जनिः। अन्यतः सिद्धस्य, प्रथममुपलम्भः प्रभव इत्यर्थभेदोऽस्तीति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६३।

३. अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्—महाभाष्य (खंड २), पृ० २५५, नि० सा० प्रेस संस्करण।

४. ल्यबन्तस्याज्ञाने इत्यर्थः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७३७।

आने पर ल्यबन्तपद के अर्थ के कर्म तथा अधिकरण कारक में पञ्चमी विभक्ति हो—यह फलितार्थ है।[१]

'प्रासादात् प्रेक्षते'—राजमहल के ऊपर चढ़कर देखता है। 'आसनात् प्रेक्षते'—आसन पर बैठकर देखता है। 'श्वशुराज्जिह्रेति'—श्वशुर को देखकर शरमाता है। इन उदाहरणों में प्रथम वाक्य में 'आरुह्य' आरोहण करके द्वितीय उदाहरण में 'उपविश्य'– बैठकर तथा तृतीय उदाहरण में 'वीक्ष्य'—देखकर, इन 'ल्यप्' प्रत्ययान्त पदों का लोप होने से इन ल्यबन्त धात्वर्थ के कर्मकारक तथा अधिकरण कारक के वाचक शब्दों में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

वार्त्तिक सूत्र में ल्यब्ग्रहण ल्यबर्थपर है। अतएव 'क्त्वा' प्रत्ययान्त पद के लोप से भी पञ्चमी हो सकती है, यथा—आसने स्थित्वा प्रेक्षते—इस अर्थ में 'आसनात् प्रेक्षते'—ऐसा प्रयोग हो सकता है।[२]

'गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम्' (वा ५०४१).

कस्मात्त्वम्, नद्याः।

पूर्वोक्त उदाहरणोंमें ल्यबन्तपदों का प्रयोग न होनेपर भी अपादानकारक में पञ्चमी विभक्ति कैसे हो सकती है, इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि क्रियावाचक पद का वाक्य में प्रयोग न होने पर भी[३] प्रकरण आदि के द्वारा[४] क्रिया का ज्ञान होने से वह गम्यमान क्रिया भी कारक विभक्ति का निमित्त होती है। उदाहरण, 'कस्मात्? त्वम्ऽ नद्याः'—तुम कहाँ से? नदी से। अर्थात् तुम कहाँ से (आ रहे हो), नदी से (आ रहा हूँ)। इस उदाहरण में

---

१. ल्यबन्तस्य लोपे अदर्शने अप्रयोगे सति गम्यमानतदर्थं प्रति कर्मणि अधिकरणे च पञ्चमी वाच्येत्यर्थः—बालमनोरमा पृ० ६६३-६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। ल्यबन्तस्य गम्यमानार्थत्वादप्रयोग इत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६४।

२. ल्यब्ग्रहणमिह ल्यबर्थपरम्। तेन क्त्वोऽपि लोपे सिध्यति। आसने स्थित्वा प्रेक्षते आसनात् प्रेक्षत इति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. विशिष्य तद्वाचकपदानुपात्ताऽपीत्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७३७।

४. प्रकरणादिनेत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

'आगतोऽसि'—आ रहे हो—यह जो आगमन क्रिया का बोध 'आगतः' पद से होता है, वह आगमन क्रिया प्रकरण आदि से गम्यमान है और उसी गम्यमान आगमन क्रिया की अपेक्षा से किंपदार्थ का अपादानत्व होने से अपादाने पञ्चमी विभक्ति हुई है।[१]

उसी तरह उत्तर वाक्य में भी 'नद्याः'—नदी से (आ रहा हूँ)—'आगतोऽस्मि' इस अध्याहृत वाक्य में स्थित 'आगतः' पद से जो आगमन क्रिया-गम्यमान होती है उसी आगमन क्रिया की अपेक्षा से नदी का अपादानत्व होने पर नदी शब्द में अपादाने पञ्चमी विभक्ति हुई है।[२]

'यतश्चाध्वकालनिर्माणं[३] ततः पञ्चमी' (वा १४७७) 'तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ' (वा १४७८) 'कालात् सप्तमी च वक्तव्या' (वा १४७८)। वनात् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे।

जिस अवधि के द्वारा[४] या जिस को अवधि के रूप से आश्रय कर के[५] अध्वा अर्थात् पथ अथवा काल का परिच्छेद यानी इयत्ता का ज्ञान होता है उस के वाचक शब्द से पञ्चमी विभक्ति का उपदेश करना चाहिये। यह प्रथम वाक्य है।

उस पञ्चम्यन्त पद के साथ युक्त अर्थात अन्वित अध्ववाचक शब्द से प्रथमा और सप्तमी विभक्ति का उपदेश करना चाहिये। यह द्वितीय वाक्य है।

पञ्चमीविभक्ति से युक्त कालवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति का उपदेश करना चाहिये। यह अपर वाक्य है।

---

१. आगतोऽसीति गम्यमानक्रियापेक्षमपादानत्वमिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६६४।
२. आगतोऽस्मीति गम्यमानक्रियापेक्षमपादानत्वमिति भावः बालमनोरमा, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
३. निमानम् इति पाठान्तरम्।
४. यतः इति तृतीयार्थे तसिः। येन अवधिना अध्वनः कालस्य वा निमानं परिच्छेदः इयत्ता गम्यते ततः पञ्चमी वाच्येत्येकं वाक्यम्—बालमनोरमा, पृ० ६६४।
५. यदवधित्वेनाश्रित्याध्वनः कालस्य वा निर्माणं परिच्छेदः प्रतिपाद्यते ततः पञ्चमीत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

यथाक्रम उदाहरण—वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्त्तिक्या आग्र-हायणी मासे। वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा'—वन से ग्राम एक योजन यानी चार कोश दूर पर है अर्थात् वनरूप पूर्व अवधि विशिष्ट जो योजन उस के उत्तरवर्ती देश में ग्राम है।[1] इस उदाहरण में वन में अवधित्व होने पर भी विश्लेष की प्रतीति न होने के कारण 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (१-४-२४) इस सूत्र से अपादानत्व न होने से यह वार्तिक सूत्र कहना पड़ा है।[2]

'कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे'—कार्त्तिकी यानी कृत्तिकानक्षत्र से युक्त पौर्णमासी से आग्रहायणी अर्थात् मार्गशीर्ष पौर्णमासी एक मास व्यवधान पर है।

यहाँ पूर्वोक्त 'वनाद् ग्रामो योजने योजनं वा' इस उदाहरण में वन को अवधि अर्थात् सीमा के रूप से ग्रहण करके अध्वा या पथ का परिच्छेद किया गया है। इस लिये वन शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है और अध्वविशेष-वाचक योजन शब्द में प्रथमा तथा सप्तमी विभक्तियाँ हुई हैं। और 'कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे' इस द्वितीय उदाहरण में कार्त्तिकी पौर्णमासी को अवधि के रूप से ग्रहण कर के कालविशेष का परिच्छेद किये जाने पर कार्त्तिकी शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है तथा 'कालात् सप्तमी च वक्तव्या' इस वार्तिक सूत्र से द्वितीय उदाहरण में कालविशेषवाचक मासशब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है। इस वार्तिक सूत्र में भी पूर्वोक्त 'तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ' इस वार्तिक सूत्रस्थ 'तद्युक्तात्' पद की अनुवृत्ति की जाती है।[3] तदनुसार पञ्चम्यन्तार्थ के साथ अर्थ के माध्यम से युक्त निर्मीयमाण अर्थात् निश्चित

---

१. वनात्मक पूर्वावधिकयोजनोत्तरदेशे ग्राम इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अवधित्वसत्त्वेऽपि विश्लेषाप्रतीतेर्ध्रुवमित्यपादानत्वाभावाद्वचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६६४।

३. इहापि तद्युक्तादित्यपेक्ष्यते—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

रूप से ज्ञायमान कालविशेष के वाचक मास शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है। तब 'कार्त्तिक्या आग्रहायणी मासे' इस वाक्य का कार्त्तिक पौर्णमासीरूप पूर्व अवधि विशिष्ट जो मास, उस के उत्तरकाल में मार्गशीर्षपौर्णमासी है, यह अर्थ है[1]। यहाँ मासात्मक कालपरिमाण कार्त्तिकी पौर्णमासीरूप पूर्व अवधि के द्वारा परिच्छिन्न हुआ है[2]।

५६५ अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते। (२-३-२९)

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अन्येत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद् वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति। चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः। अवयववाचियोगे तु न 'तस्य परमाम्रेडितम्' (८-१-२) इति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य। अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ—' (२-३-३०) इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्। आच्—दक्षिणा ग्रामात्। आहि-दक्षिणाहि ग्रामात्। 'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८ इति सूत्रे 'कार्त्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। 'अपपरिबहिः—' (२-१-१२) इति समासविधानाज् ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी। ग्रामाद् बहिः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—अन्य, आरात् (दूर या निकट) इतर (भिन्न), ऋते (वर्जन), दिग्वाचक शब्द (पूर्व आदि) अञ्चु धातु जिन शब्दों का उत्तरपद है ऐसे शब्द (प्राक्, प्रत्यक् आदि), आच् प्रत्ययान्त शब्द (दक्षिणा—दक्षिण दिशा में), आहि प्रत्ययान्त शब्द (दक्षिणाहि—दक्षिण दिशा में दूरी पर)—इन के साथ योग होने पर पञ्चमी विभक्ति हो।

---

१. कार्त्तिकपौर्णमास्यात्मकपूर्वावधिकमासोत्तरकाले मार्गशीर्षपौर्णमासीत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अत्र मासात्मकं कालपरिमाणं कार्त्तिक्या पूर्वावधिना परिच्छिद्यते—बालमनोरमा, पृ० ६६४।

सूत्र में जो 'अन्य' शब्द है उस से वैयाकरण सम्प्रदाय की व्याख्यानुसार[1] अन्यार्थक शब्दों का ग्रहण किया है। इसका फलितार्थ यह है कि अन्यार्थक शब्द के योग से पञ्चमी होती है[2]।

उसी तरह सूत्र में जो 'इतर' शब्द का ग्रहण किया गया है वह प्रपञ्च विस्तार के लिये है। अर्थात् सूत्रस्थ 'अन्य' शब्द अन्यार्थक शब्द ग्रहण के लक्षण के लिये है, इस प्रकार मानने का फल बताने के लिये अन्यार्थक 'इतर' शब्द का ग्रहण किया गया है[3]। उदाहरण—अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्—कृष्ण से भिन्नः। यहाँ उदाहरण वाक्य तीन हैं, यथा—अन्यः कृष्णात्, भिन्नः कृष्णात्, इतरः कृष्णात्—सभी वाक्यों का कृष्ण से भिन्न—यही अर्थ है।

यद्यपि 'इतर' शब्द का 'नीच' अर्थ भी होता है, जैसे कि अमरकोष में 'इतरस्त्वन्यनीचयोः' ऐसा अर्थ बताया गया है, तथापि 'पञ्चमी विभक्ते' (२-३-४२) इस सूत्र से नीचार्थक इतरशब्द के योग से अस्मात् तारो मन्द्रो वा'—इससे ऊँचा या धीमा—ऐसे प्रयोग के माफिक पञ्चमी विभक्ति की उपपत्ति की जा सकती है—यह तत्त्वबोधिनी टीकाकार ज्ञानेन्द्र सरस्वती का कथन है[4]। इस कथन से सूत्रस्थ 'इतर' शब्द जो प्रपञ्चार्थ कहा गया है, वही सिद्ध होता है।

अतएव सिद्धान्तकौमुदी के लक्ष्मी नामक टीकाकार श्रद्धेय पण्डित श्रीबाल कृष्ण पञ्चोलिजीने जो नीचार्थक इतरशब्द के योग से पञ्चमी विधान के

---

१. व्याख्यानादिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६६५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६५।

२. अन्यार्थकशब्दयोगे पञ्चमीति फलितम्—बालमनोरमा, पृ० ६६५।

३. अन्यशब्दस्य अन्यार्थकशब्दग्रहणोपलक्षणार्थत्वकथनस्य प्रयोजनकथनार्थमितियावत्—बालमनोरमा, पृ० ६६५।

४. नच 'इतरस्त्वन्यनीचयोः' इत्यमरोक्ते नीचार्थस्येदं ग्रहणमस्त्विति वाच्यम् 'अस्मात तारो मन्द्रो वा' इतिवत 'पञ्चमी विभक्ते' इत्यनेनैव सिद्धत्वात—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

लिये सूत्र में इतरग्रहण आवश्यक है—ऐसा सिद्धान्त किया है[1] उस की यौक्तिकता चिन्त्य है।

लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्टजी ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है कि 'भिन्न' शब्द का अर्थ है 'भेदवान्'। अतः 'घटाद् भिन्नः'—घट से भिन्न—इस प्रयोग में अन्यार्थक 'भिन्न' शब्द के योग से 'घट' शब्द में पञ्चमी विभक्ति होती है। 'नञ्' निपात का अर्थ है केवल 'भेद'। इसलिये 'नञ्' के योग से 'घटो न पटः'—घट पट या वस्त्र नहीं है—ऐसे वाक्य में 'घट' शब्द में पञ्चमी नहीं होती[2]।

'आरात्' शब्द के योग से पञ्चमी का उदाहरण—आराद् वनात्—वन से दूर या समीप। 'आराद् शब्द का दूर या समीप अर्थ है, जैसे कि अमरकोष में 'आराद् दूरसमीपयोः' ऐसा अर्थ बताया गया है। 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्' (२-३-३४) इस सूत्र से वैकल्पिक रूप से 'आरात्' शब्द के योग से षष्ठी की प्राप्ति होती है। उसको रोकने के लिये इस सूत्र में 'आरात्' शब्द का ग्रहण किया गया है[3]। 'आरात्' शब्द स्वरादिगण में पठित अव्यय है।

'ऋते' शब्द के योग से पञ्चमी का उदाहरण—'ऋते कृष्णात् न सुखम्' कृष्ण (भगवान्) को वर्जन (करने से सुख नहीं होता है)—इस प्रकार के तात्पर्ययुक्त वाक्य में 'कृष्णात्' पद में 'ऋते' शब्द के योग से पञ्चमी विभक्ति हुई है। 'ऋते' शब्द भी स्वरादिगण में पठित एकारान्त अव्यय है[4]।

---

१. अतएव नीचार्थजेतरशब्दयोगे पञ्चमीविधानार्थं सूत्रे इतरग्रहणमावश्यकम्—पञ्चोलिनः सिद्धान्तकौमुदी की लक्ष्मी टीका, पृ० ८३३, मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।

२. तदर्थश्च—भेदवान्, अतएव, 'घटाद्भिन्नः' इत्यादिसिद्धिः। नञर्थश्च भेदः 'घटो न पटः' इत्यत्र न पञ्चमी—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७३७, गु० प्रसाद संस्करण।

३. इह दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्यामिति प्राप्तम्—तत्त्वबोधिनी पृ० ६६५।

४. ऋते इत्येकारान्तमव्ययम्। कृष्णस्य वर्जने सुखं नास्तीत्यर्थः—बालमनोरमा, ६६६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

किसी-किसी आचार्य के मतानुसार 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इस वचन के अनुसार 'ऋते' शब्द के योग से द्वितीया विभक्ति भी हो सकती है। इस मत में 'ऋते द्वितीया च' यह चान्द्रव्याकरण का सूत्र अनुकूल है। अतएव शिवमहिम्नः स्तोत्र का 'फलति पुरुषाराधन मृते' यह प्रयोग शुद्ध ही है। हरदत्त के मत में यह प्रयोग गलत है[1]।

दिक्शब्द के योग से पञ्चमी का उदाहरण—पूर्वो ग्रामात्'—ग्राम की पूर्व दिशा में। यहाँ दिग्वाचक 'पूर्व' शब्द के योग से ग्राम शब्द में पञ्चमी हुई है।

दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः इत्यादि—सूत्र में केवल दिग्वाचक 'दिक्' शब्द न कहकर 'दिक्शब्द' ऐसा शब्द प्रयोग का फल बतलाने के लिये कह रहे हैं कि सूत्रस्थ 'दिक्शब्द' की व्याख्या 'दिशि दृष्टः शब्दः दिक्शब्दः'। अर्थात् जो शब्द दिग्वाचक के रूप से कदाचित् देखा गया अर्थात् ज्ञात हुआ है। अतएव इदानीं देशवाचक या कालवाचक 'पूर्व' शब्द के योगसे भी पञ्चमी विभक्ति हो सकती है, यथा—'चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः'—चैत्र से पहले फाल्गुन (मास) इस वाक्य में जो 'पूर्व' शब्द है उसका पूर्व दिक् अर्थ नहीं है, परन्तु पूर्वकाल का वाचक है। फिर भी इस 'पूर्व' शब्द के योग से चैत्र शब्द में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

सूत्रस्थ 'दिक्शब्द' का 'दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः'—ऐसा अर्थ किया गया है। 'अन्यारादितरर्ते-दिगञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इस प्रकार कहने से 'दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः' ऐसा उत्तरपदलोपी कर्मधारय समास अवलम्बन करके अर्थ करना सम्भव होता है[2]। दिक्शब्द की रूढ़ि शक्ति से वैयाकरण

---

[1] 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति वा द्वितीया। 'ऋते द्वितीया च' इति चान्द्रं सूत्रम्—बालमनोरमा, पृ० ६६५, कथं तर्हि 'फलति पुरुषाराधनमृते' इति प्रयोग इति चेत् प्रमादोऽयमिति हरदत्तः। अन्ये तु 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति दृशिग्रहणाच्चैत्रं यावच्छीतमित्यादाविव ऋतेयोगे द्वितीयापि साधुरित्याहुः। अस्मिन् व्याख्याने 'ऋते द्वितीया च' चान्द्रसूत्रमनुकुलम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६५७।

[2] शब्दग्रहणं देशकालवृत्तिनाऽपि दिक्शब्देन योगे यथा स्यात्—काशिका, २।३।२९ सूत्र। सति हि तस्मिन् दिशि दृष्टः। शब्दो दिक्शब्द इत्युत्तरपदलोपी समासो

सम्प्रदाय के व्याख्यानानुसार दिग्विशेष का वाचक 'पूर्व' आदि शब्द ही होते हैं, ऐन्द्री कौबेरी कुकुभ् आदि नहीं[1]। कारण ऐन्द्री, कौबेरी आदि शब्द यौगिक शब्द हैं, रूढ़ नहीं, और ककुभ्शब्द दिगविशेष का वाचक नहीं है।

तत्त्वबोधिनी टीका में सूत्रस्थ दिक्शब्द की व्याख्या प्रसंग में 'दि‍ग्भिन्नेऽर्थे यो न दृष्टः सोऽत्र गृह्यते'[2]—अर्थात् दिग्भिन्न अर्थ में जिस शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है, ऐसा कहा गया है। इससे ऐन्द्री आदि यौगिक शब्द हटाये जाते हैं, कारण ऐन्द्री ऋक्' इत्यादि प्रयोग में दिग्भिन्न 'इन्द्र देवताका ऋक्' अर्थ समझा जाता है। ऐन्द्री देवता विशेष का नाम भी है[3]।

इस प्रसंग में और एक बात यह है कि शरीर के पूर्वभाग आदि के अवयववाचक भी पूर्व आदि शब्द होते हैं। परन्तु ऐसे शब्दों के योग में पञ्चमी नहीं होती। इस विषय को सिद्ध करने के लिये कह रहे हैं—अवयववाचियोगे तु न। 'तस्य परमाम्रेडित'मिति (८-१-२) निर्देशात्।

कहने का मतलब यह है'तस्य परमाम्रेडितम्'सूत्र में—जिसका अर्थ 'द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितसंज्ञं स्यात्'—पाणिनि मुनिने द्विरुक्त समुदाय का परवर्ती अवयव का—जो कि आम्रेडित संज्ञा से बोधित किया जाता है—वाचक 'पर' शब्द के योग से 'तस्य' पद में षष्ठी विभक्ति

लभ्यते, तेन यदा कदाचिद्दिशि दृष्टेन सम्प्रति देशकालवर्तिनापि योगे भवति—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २) पृ० १८७, प्रा० भा० प्रकाशन। शब्दप्रवेशे दिशिदृष्टः शब्दो दिक्शब्द इत्येषोऽर्थो लभ्यते। तेन योऽपि सम्प्रति दिक्शब्दो काले च वर्त्तते, सोऽपि दिशि दृष्टइति तद्योगे पञ्चमी भवति—न्यास, (काशिका भाग २) पृ० १८८, प्रा० भा० प्रकाशन।

१. रूढ्या दिग्विशेषवाचकाः पूर्वादय एव गृह्यन्ते। नत्वैन्द्रीककुभादयः—बालमनोरमा पृ० ६६६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। रूढ्येति शेषः। तेनैन्द्रादयो न गृह्यन्ते—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण)

२. तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६६।

३. 'ऐन्द्री गजसमारूढा वैष्णवी गरुडासना।'—मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत हरिहर विरचित देवीकवचस्तोत्र।

प्रयोग किया है, पञ्चमी का नहीं। इस से यह ज्ञापित होता है कि अवयव-वाचक पूर्व आदि शब्द के योग से पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी। इस का उदाहरण दिया गया है 'पूर्वं कायस्य'—शरीर का पूर्व भाग। शरीर का पूर्व भाग शरीर का अवयवविशेष ही है। अतः तद्वाचक पूर्वशब्द के योग से पञ्चमी न होकर सम्बन्ध का बोध कराने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

अञ्चूत्तरपद शब्द बहुव्रीहिसमास निष्पन्न है। 'अञ्चुधातुः उत्तरपदं यस्य अञ्चूत्तरपदः प्रागादिदिक्छब्दः[1]'—अञ्चु (धातु) उत्तरपद जिसका वह अञ्चूत्तरपद प्राक् आदि दिक्शब्द।

अञ्चूत्तरपद 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्द भी दिक्शब्द ही हैं। इन शब्दों के योग से पञ्चमी विभक्ति दिक्शब्द के योग से ही हो सकती है। फिर भी सूत्र में अञ्चूत्तरपद शब्दों का दिक्शब्द से पृथक् उल्लेख करने का कारण बताते हुए भट्टोजी दीक्षित कह रहे हैं—'अञ्चूत्तर पदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि षष्ठ्यतसर्थइति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्।'

कहने का तात्पर्य यह है कि 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी पञ्चमी प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५–३–२७) सूत्र से लेकर 'उत्तराच्च' (५–३–३८) तक कतिपय सूत्रों से दिक् देश तथा कालवाचक शब्दों के अन्त में स्वार्थ अर्थात् प्रकृत्यर्थ का ही बोध कराने के लिये कई प्रत्यय विहित हुए हैं। इनमें 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (५–३–२८) इस सूत्र से जो 'अतसुच्' प्रत्यय विहित हुआ है उसका अर्थ दिक्, देश तथा काल हैं। वेही दिक्, देश तथा काल रूप अर्थ जिन प्रत्ययों का हैं 'वे 'अतसर्थ' प्रत्यय कहलाते हैं। वे 'अस्ताति'; 'आति', 'एनप्', 'आच्' और 'आहि'—ये पाँच प्रत्यय हैं।'[2] इन प्रत्ययान्त शब्दों के योग से 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' (२–३–३०) सूत्र से षष्ठी

---

१. बालमनोरमा, पृ० ६६६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' इत्यस्य योऽर्थो दिग्देशकालरूपः सोऽर्थो यस्य प्रत्ययस्य सोऽतसर्थप्रत्ययः अस्तातिप्रभृतयः पञ्च—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

विभक्ति की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में 'प्राक् आदि शब्दों के, जो दिक् अतसर्थक अस्ताति प्रत्यय से बने हैं, योग से प्राप्त षष्ठी विभक्ति की बाधा कर के पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग सिद्ध करने के लिये सूत्र में 'अञ्चूत्तरपद' शब्द का पृथक् उल्लेख किया गया है।

उदाहरण—'प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्' ग्राम की पूर्व या पश्चिम दिशा की ओर। इस उदाहरण वाक्य में 'प्राक्' पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अञ्चु' धातु के साथ 'अस्ताति' प्रत्यय जोड़ने से बनता है 'अञ्चेर्लुक्' (५-३-३०) सूत्र से 'अस्ताति' प्रत्यय का लोप हो जाता है तथा दिक् स्त्रीलिङ्ग होने से स्त्रीप्रत्यय 'ङीष्' प्राप्त था, वह भी 'लुक्तद्धितलुकि' (१-२-४९) सूत्र से लुप्त होने पर 'प्राच' शब्द बनता है, जिसकी प्रथमा विभक्ति एकवचन में 'प्राक्' पद बनता है। इसी प्रकार 'प्रत्यक्' पद भी 'प्रति' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्चु' धातु से 'अस्ताति' प्रत्यय जोड़ने से बनता है।

यद्यपि दिग्वाचक नहीं है ऐसा भी अञ्चूत्तरपद शब्द है, जैसे 'सध्यङ्' आदि शब्द। फिर भी सूत्र में दिक्शब्द के साहचर्य से अञ्चूत्तरपद करके 'प्राक्' इत्यादि दिक्शब्द ही लिये जाते हैं, 'सध्यङ्' आदि नहीं। अतएव 'सध्यङ् देवदत्तेन' देवदत्त के साथ चलता है—इस प्रकार यहाँ 'सध्यङ्' शब्द के योग से देवदत्त से तृतीया विभक्ति हुई है, पञ्चमी नहीं।[1]

'आच्' प्रत्ययान्त शब्द के योग से पञ्चमी का उदाहरण—'दक्षिणा ग्रामात्'—ग्राम की दक्षिण दिशा में समीप में। दक्षिणशब्द से 'दक्षिणादाच्' (५-३-३६) सूत्रानुसार 'आच्' प्रत्यय जोड़ने पर 'दक्षिणस्यां दिशि अदूरे'—दक्षिण दिशा में समीप में—इस अर्थ में दक्षिणा शब्द बना है।

---

१. अन्चुधातुः उत्तरपदं यस्य स अन्चूत्तरपदः प्रागादिदिक्शब्दः, न तु सध्यङ् शब्दोऽपि, दिक्शब्दसाहचर्यात्। तेन सध्यङ् देवदत्तेनेत्यत्र न पञ्चमी—मनोरमा, पृ० २६६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। यद्यप्यदिक्शब्दोऽन्चूत्तरपदमस्ति सध्यङित्यादि तथापिदिक् शब्दसाहचर्यादन्चूत्तरपदेन प्रागित्यादि शब्द एव गृह्यते। तेन सध्यङ् देवदत्तेनेत्यत्र नातिप्रसङ्ग इति भावः—[illegible] पृ० ६६६, पूर्वोक्त संस्करण।

इसी तरह 'आहि' प्रत्ययान्त शब्द के योग से पञ्चमी का उदाहरण—
'दक्षिणाहि ग्रामात्'—ग्राम की दक्षिण दिशा में दूरी पर, 'दक्षिणस्यां दिशि दूरे'—दक्षिण दिशा में दूरीपर—इस अर्थ में 'दक्षिण' शब्द से 'आहि च दूरे' (५-३-३७) सूत्रानुसार 'आहि' प्रत्यय जोड़ने पर 'दक्षिणाहि' शब्द बनता है। 'दक्षिणा' 'दक्षिणाहि'—ये शब्द दिक्शब्द ही है और दिक्शब्द के योग से ही पञ्चमी हुई है।

'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८) इति सूत्रे 'कार्त्तिक्या प्रभृति' इति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी। भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः।' ऐसा मानने पर सूत्र में 'आच्' तथा 'आहि के ग्रहण का प्रयोजन चिन्त्य है, तत्त्वबोधिनी टीका में यह कहा गया है। अर्थात् 'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८) इस सूत्र के भाष्य में 'कार्त्तिक्या प्रभृति'—कार्त्तिकी पूर्णिमा से लेकर—इस प्रकार प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि प्रभृत्यर्थक शब्द के योग से पञ्चमी विभक्ति होती है। उदाहरण—'भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः'—जन्म से लेकर (आमरण) भगवान् हरि सेव्य हैं। उदाहरणवाक्यस्थ 'भव' शब्द का जन्म या उत्पत्ति यह अर्थ है[१]। 'आरभ्य' शब्द का 'अवधि परिगृह्य'—अवधि या सीमा को लेकर—यह अर्थ है। 'प्रभृति' शब्द का भी यही अर्थ है और वह शब्द अव्यय है[२]।

तब 'भवात् प्रभति आरभ्य वा सेव्यो हरिः' इस वाक्य का निष्कृष्टार्थ यह होता है—उत्पत्तिक्षणात्मक समय पूर्व अवधि जिसका ऐसे उत्तरकाल में परवर्ती काल में मृत्युपर्यन्त सर्वदा भगवान् हरि सेव्य हैं[३]।

'अपपरिबहिरिति समासविधानाज् ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी ग्रामाद् बहिः'—

१. भव उत्पत्तिः—बालमनोरमा, पृ० ६६७, पूर्वोक्त संस्करण।

२. आरभ्य इत्यस्य अवधिं परिगृह्येत्यर्थः। प्रभृतीत्यव्ययमप्येतदर्थकमेव—बालमनोरमा, पृ० ६६७।

३. उत्पत्तिक्षणात्मकपूर्वावधिकोत्तरकाले सर्वदा आमरणं हरिः सेव्य इति यावत्—बालमनोरमा, पृ० ६६७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

अव्ययीभाव समास प्रकरण में 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२-१-१२) यह सूत्र है। इसका अर्थ है 'अप', 'परि', बहिस् और अञ्चूत्तरपद—ये सुबन्त शब्द पञ्चम्यन्त पद के साथ वैकल्पिक रूप से समासबद्ध होते हैं और वह समास अव्ययीभाव समास होता है। इस सूत्र में उल्लिखित 'अप' और 'परि' शब्दों के योग से पञ्चमी विभक्ति का विधान 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२-३-१०) सूत्र से किया गया है। अञ्चूतरपद 'प्राक्' आदि शब्दों के योग से पञ्चमी का विधान 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' (२-३-२९) इस व्याख्यायमान सूत्र से किया गया है। परन्तु 'बहिः' शब्द के योग से पञ्चमी का विधान किसी सूत्र के द्वारा किया नहीं गया है। अतः 'बहिः' शब्द के योग से पञ्चमी विभक्ति का उपपादन करने के लिए कह रहे हैं 'अपपरिबहि' रित्यादिसूत्र से 'बहिस्' शब्द के साथ पञ्चम्यन्त पद का समासविधान के आधारपर यह ज्ञापित होता है कि 'बहिस्' शब्द के योग से पञ्चमी होती है[१]। नहीं तो 'बहिस्' शब्द के साथ पञ्चम्यन्त पद का समास का विधान ही व्यर्थ हो जाता है। 'बहिस्' शब्द के योग में पञ्चमी होती है, इस बात को सिद्ध के रूप मान कर 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' इस सूत्र से पञ्चम्यन्त पद के साथ समास विधान से यह ज्ञात हो जाता है कि 'बहिस्' शब्द के योग से पञ्चमी होती है[२]। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२-१-१२) इस सूत्र के भाष्य में इस सूत्र में पञ्चमी ग्रहण के सामर्थ्य से 'बहिः' शब्द के योग में पञ्चमी होती है, ऐसा कहा है[३]। काशिका वृत्ति में भी कहा गया है कि

---

१. अपपरियोगे 'पञ्चम्य पाङ्परिभिः' इति पञ्चमी विहिता अन्चूत्तरपदयोगेऽपि 'अन्यारादित्यादिना विहितैव। तेनात्र 'पञ्चम्या' इति ग्रहणं 'बहियोंगे पञ्चमी भवति' इति ज्ञापनार्थम्—अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या (२-१-१२) इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में तत्त्वबोधिनी, पृ० २०६, वेङ्कटेश्वर प्रेस संस्करणे।

२. बहिशूशब्दथोगे पञ्चमीं सिद्धवत्कृत्य 'अपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या' इति समास-विधानाद् बहिश्शब्दयोगे पञ्चमी विज्ञायत इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६७। ... प्रेस संस्करण

३. पञ्चमीग्रहणसामर्थ्यात्—महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ३६२ [illegible]

'बहिः' शब्द के योग से पञ्चमी होने का यही ज्ञापक है[1]। प्रदीप टीका में आचार्य कैयट ने इस भाष्य की व्याख्या प्रसंग में इस आशय की बात कही है कि 'बहिः' शब्द के योग से सम्बन्ध सामान्य में षष्ठीविभक्ति की प्राप्ति होती है, उसके स्थल में 'बहिः' शब्द के योग से पञ्चमी विभक्ति का होना अनुमित होता है[2]। पदमञ्जरी टीका में हरदत्तजी ने भी ऐसा ही कहा है[3]। न्यास टीकाकार आचार्य जितेन्द्रबुद्धि जी ने काशिकावृत्ति की इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि 'बहिः' शब्द का पञ्चम्यन्त पद के साथ ही समास का विधान हुआ है, अन्य से नहीं। नहीं तो सूत्र में 'पञ्चम्या' ऐसा कह कर पञ्चमी शब्द का ग्रहण व्यर्थ होता है[4]।

शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट जीने भी यही कहा है।

१९६—अपपरी वर्जने (१-४-८८)

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः।

अनुवाद तथा विवृत्तिः—ये दोनों (अर्थात् 'अप' और 'परि') वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय होते हैं।

'कर्मप्रवचनीयाः' (१-४-८३) इस सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा की अनुवृत्ति हुई है तथा द्विवचनान्त रूप से विपरिणाम हुआ है[5]।

सूत्रस्थ 'वर्जन' शब्द की व्याख्याप्रसंग में [इस सूत्र की काशिकावृत्ति में

---

१. बहिःशब्दयोगे पञ्चमीभावस्यैतदेव ज्ञापकम्—'अपपरिबहिः'—इत्यादिसूत्रव्याख्या में काशिका।

२. तस्मात् षष्ठीविषये पञ्चमी बहिर्योगेऽनुमीयते—उद्योत (महाभाष्य खण्ड २) पृ० ६६३।

३. तदेतत् पञ्चमीग्रहणं ज्ञापयति—षष्ठीविषये बहिर्योगे पञ्चमी भवतीति—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २) पृ० २६। प्रा० भा० प्रकाशन।

४. तस्माद् बहिःशब्दस्य पंचम्यन्तेनैव समासविधानम्, नान्येन, अन्यथा पंचमीग्रहणमनर्थकं स्यात्—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २६।

५. 'कर्मप्रवचनीयाः' इत्यधिकृतस्य द्विवचनेन विपरिणाम इति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६६७, म० म०।

कहा गया है 'प्रकृतेन सम्बन्धिना कस्यचिदनभिसम्बन्धः वर्जनम्'। काशिका वृत्तिस्थ 'प्रकृत' शब्द का अर्थ है 'वाक्य में प्रतिपाद्यमान'[1]। जैसे, 'अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः' इस उदाहरण वाक्य में प्रतिपाद्यमान सम्बन्धि शब्द से 'वर्षण' का[2] बोध होता है। उस वर्षण के साथ त्रिगर्त्त नामक देश का सम्बन्ध न होना ही अनभिसम्बध है। वही अनभिसम्बन्ध 'वर्जन' शब्द से बोधित होता है।

सूत्र में 'वर्जने' ऐसा कहने से वर्जनभिन्न अर्थ में 'अप' तथा 'परि' कर्मप्रवचनीय नहीं होता है। यथा 'ओदनं परिषिञ्चति'—अन्न को सब तरह से सींचता है। कर्मप्रवचनीय न होने से उपसर्ग होने के कारण 'उपसर्गात्सुनोतिसुवति—(८-३-६५) इत्यादि सूत्रानुसार परि' उपसर्गस्थ 'इण्' का निमित्त रहने से 'सिञ्च्' धातु का 'स' के स्थान में मूर्धन्य 'ष' आदेश हुआ है।

५६७ आङ्मर्यादावचने (१-४-८९)

आङ्मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि।

अनुवाद तथा विवृत्ति—मर्यादा अर्थ में 'आङ्' उक्तसंज्ञक अर्थात् कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। (सूत्र में) वचन ग्रहण से अभिविधि अर्थ में भी (आङ्कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हो) मर्यादा शब्द का सीमा अर्थ है। अभिविधि शब्द भी सीमा का ही बोधक है। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जो सीमा के रूप से गृहीत है उसको छोड़के यदि सीमा समझी जाय तो उस सीमा को मर्यादा कहा जाता है। और उसको लेकर यदि सीमा समझी जाय तो उस सीमा को अभिविधि कहा जाता है[3]।

---

१. प्रकृतेन वाक्ये प्रतिपाद्यमानेनेत्यर्थः—पदमञ्जरी (काशिका, भाग १), पृ० ६१८, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

२. प्रकृतेन सम्बन्धिनेति वर्षादिना—न्यास (काशिका, भाग १), पृ० ६१८, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. तेन विनेति मर्यादा तेन सहेत्यभिविधिः—बालमनोरमा, पृ० ६६७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। विना तेनेति मर्यादा सह तेनेत्यभिविधिः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

सूत्र में 'आङ् मर्यादायाम्' ऐसा न कह कर 'आङ् मर्यादावचने' इस प्रकार कहने का फल यह है कि 'अभिविधि' अर्थ में भी 'आङ्' कर्मवचनीय होता है—यह समझा जाता है। 'मर्यादाशब्दो यत्रोच्यते तन्मर्यादावचनम् आङ्मर्यादाभिविध्योः' इति 'इति सूत्रम्'—अर्थात् जिसमें 'मर्यादा' शब्द कहा जाता है वह समासप्रकरण में पठित 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' (२–१–१३) यह सूत्र 'मर्यादा वचन' शब्द का अर्थ होता है। उसमें जो 'आङ्' देखा जाता है वह कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो[1]। सूत्र में 'वचन' शब्द का ग्रहण करने से 'बहुव्रीहि' समास है, वह प्रतीत होता है[2]।

'आङ् मर्यादाभिविध्योः' यह सूत्र भाष्य में 'आङ् मर्यादावचने' सूत्र की व्याख्याप्रसंग आक्षेपवार्त्तिक के रूप में भी पठित हुआ है।

५६८ पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२–३–१०)

एतैः कर्मप्रवचनीयैः योगे पञ्चमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ तु हरिं परि। आ मुक्तेः संसारः। आ सकलाद् ब्रह्म।

अनुवाद तथा विवृत्ति—इन कर्मप्रवचनीयों के योग से पञ्चमी विभक्ति हो। उदाहरण—अप हरेः संसारः—हरि को वर्जन करने पर संसार होता है। संसारशब्द का जन्म मृत्यु का चक्र रूप आवागमन अर्थ है[3]।

'परि हरेः संसारः'—हरि को वर्जन करने पर संसार होता है—इस प्रकार पूर्व वाक्य के सदृश अर्थ है। 'परि हरेः संसारः' इस वाक्य में जो 'परि' शब्द है उसका द्विर्वचन द्विरुक्त प्रक्रियान्तर्गत 'परेर्वर्जने' इस सूत्रानुसार प्राप्त था। परन्तु 'परेर्वर्जने वावचनम्' इस वार्त्तिक सूत्र के अनुसार वैकल्पिक रूप से 'परि' शब्द का द्विर्वचन होने से 'परि हरेः संसारः' ऐसा वाक्य हुआ है। 'परि परि हरेः संसारः'—ऐसा वाक्य भी इसी अर्थ में हो सकता है।

---

१. बालमनोरमा, पृ० ६६७, तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६८ पदमञ्जरी, पृ० ६११, (काशिका, भाग १ प्रा० भा० प्रकाशन। न्यास, पृ० ६११ प्रा० भा० प्रकाशन।

२. वचनग्रहणे हि बहुव्रीहि र्लभ्यते, मर्यादा इत्येतद्वचनं यत्र सूत्रे तन्मर्यादावचनम्—न्यास (काशिका, भाग १), पृ० ६११, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. हरिं वर्जयित्वा जनिमृतिचक्रात्मकं संसरणमित्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६८।

काशिका वृत्ति में इस सूत्र के उदाहरण में 'परि परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः'—'त्रिगर्त्त नाम जनपद को छोड़कर (पर्जन्य) देव ने वर्णन किया है— इस प्रकार द्विर्वचनान्त 'परि' शब्द घटित वाक्य कहा गया है। परिरत्र वर्जने—

इस पञ्चमी विधायक सूत्र में ('पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र में) जो 'परि' शब्द है वह वर्जन रूप में अर्थ का बोधक है। इस सूत्र में 'परि' शब्द वर्जन अर्थ का बोधक है। इस सूत्र में 'परि' शब्द वर्जन अर्थ का बोधक है इस के लिये युक्ति यह है कि सूत्र में वर्जनार्थक 'अप' शब्द के साथ साहचर्य से 'परि' शब्द भी यहाँ वर्जनार्थक[1] ही समझना चाहिये। जैसे कि 'भीमार्जुनौ' कहने पर मध्यमपाण्डु व भीम के साथ साहचर्य के कारण 'अर्जुन' शब्द वृक्ष विशेष का वाचक न होकर तृतीय पाण्डव का ही वाचक होता है।

'लक्षणेत्थम्भूताख्यान—इत्यादि (१-४-९०) सूत्रानुसार 'लक्षण' आदि अर्थ में 'परि' कर्म प्रवचनीय शब्द के योग से 'कर्म प्रवचनीय युक्ते द्वितीया' (२-३-८) सूत्रानुसार द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—'हरिं परि'—हरि को लक्ष्य करके।

मर्यादा वाचक 'आङ्' के योग से पञ्चमी का उदाहरण—आ मुक्तेः संसारः—मुक्ति तक संसार है। अर्थात् मुक्ति संसार की सीमा है, अर्थात् जब तक मुक्ति न हो तब तक जन्म मृत्यु प्रवाह रूप संसार होता रहता है। मुक्ति होने पर संसार नहीं रहता है। इस वाक्य से यह ज्ञात होता है कि मुक्ति संसार की मर्यादा रूप सीमा है।

अभिविधि वाचक 'आङ्' के योग से पञ्चमी का उदाहरण—आ सकलाद् ब्रह्म—सब को व्याप्त कर के ब्रह्म है।

---

१. 'पंचम्यपाङ्परिभिः' इत्यत्र वर्जनार्थकेन अपेन साहचर्यात् परिरपि वर्जनार्थक एव गृह्यत इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६८, अत्रे पंचमीविधौ वर्जनार्थेनापेन साहचर्यादिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६८।

२. मुक्तेः प्रागिति यावत्—बालमनोरमा, पृ० ६६८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण मुक्तिं मर्यादीकृत्येत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण

१९९ प्रतिः निधिप्रतिदानयोः (१-४-९२)।

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्।

अनुवाद तथा विवृति :—इन दोनों अर्थों में 'प्रति' उक्तसंज्ञक अर्थात् कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो।

मुख्य के सदृश को प्रतिनिधि कहा जाता है और दत्त वस्तु का प्रत्यर्पण प्रतिदान कहलाता है।[1] पदमंजरी टीका में 'प्रतिनिधि' तथा 'प्रतिदान' शब्दों के अर्थ विचार प्रसंग में कहा गया है कि शत्रु वध आदि किसी कार्य में जिसका सामर्थ्य देखा गया हो वह मुख्य या प्रधान कहलाता है। उसके अभाव में उसी कार्य को करने के लिये जो अपनाया जाता है वह प्रतिनिधि है और उत्तमर्ण के द्वारा दत्त वस्तु का प्रतिनिर्यातन अर्थात् प्रत्यर्पण को प्रतिदान कहा जाता है।[2] तत्त्वबोधिनी टीका में इसी आशय की बात कही गयी है।[3]

२०० प्रतिनिधि प्रतिदान च यस्मात् (२-३-११)

अत्र कर्म प्रवचनीयै योगे पञ्चमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति भाषान।

अनुवाद तथा विवृत्ति —जिसका प्रतिनिधि और जिसका प्रतिदान हो (उसके वाचकशब्द में कर्मप्रवचनीय के योग से पञ्चमी हो।)

अत्र कर्मप्रवचनीयै र्योगे इत्यादि—

इस सूत्रोक्त विषय में[4] अर्थात् प्रतिनिधि या प्रतिदानरूप अर्थ में कर्मप्रवचनीय शब्द के योग से पञ्चमी विभक्ति हो। यथाक्रम उदाहरण—

---

१. मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः। दत्तस्य प्रतिनिर्यातनम् प्रतिदानम्—(काशिका भाग १) पृ० २३,, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

२. पदमञ्जरी (काशिका, भाग १), पृ० ६२३, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. मुख्यस्याभावे ततसदृश उपादीयते स प्रतिनिधिः दत्तस्य एतिनिर्यातनं प्रतिदानम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६८, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण।

४. सूत्रोक्तविषय इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६८।

'प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति'—प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है। 'तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्'—तिलों के बदले में उड़दों को देता है। सूत्रस्थ 'यस्मात्' पद में इसी निर्देश से षष्ठी के अर्थ में पञ्चमी हुई है[1]।

'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' इसी सूत्र में जो 'यस्मात्' पद है उसमें पञ्चमी विभक्ति रहने से यह ज्ञापित होता है कि जिसका प्रतिनिधि या जिसका प्रतिदान हैं उसके वाचक शब्द में कर्मप्रवचनीय के योग से पञ्चमी विभक्ति होनी चाहिये। अर्थात् 'प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्य' ऐसा सूत्र कहकर सूत्र में 'यस्य' के स्थल में 'यस्मात्' कहने से यह ज्ञापित होता है कि यत्सम्बन्धी प्रतिनिधि या प्रतिदान है, कर्मप्रवचनीय के योग से प्रतिनिधि या प्रतिदान वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो[2]।

६०१ अकर्त्तर्यृणे पञ्चमी २—३—२४)

कर्त्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्। शताद् बद्धः। अकर्त्तरि किम्? शतेन बन्धितः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—कर्त्तृभिन्न ऋण के वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो।

कर्त्तृवर्जित अर्थात् 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' इस सूत्रके द्वारा विहित कर्त्तृसंज्ञारहित[3] जो हेतुभूत ऋण है तद्वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो।

उदाहरण—'शताद् बद्धः'—सौ (रुपये ऋण) के कारण बंधा हुआ है।

सूत्र में 'अकर्त्तरि'—कर्त्तृभिन्न में—ऐसा क्यों कहा है? उत्तर—'शतेन बन्धितः'—सौ (रुपयों) ने (कर्ज देने वाले व्यक्ति के द्वारा बं

---

१. सूत्रे यस्मादिति षष्ठ्यर्थे पंचमी अस्मादेव निर्देशात्—बालमनोरमा, पृ० ६६
अस्मादेव निर्देशाल्लिङ्गादाभ्यां योगे पंचमी—तत्त्ववोधनी, पृ० ६६८।

२. तथाच यत्सम्बन्धिनी प्रतिनिधिप्रतिदाने तस्मात् कर्मप्रवचनीयुक्तात् पंचमीत्यर्थः फलति—बालमनोरमा, पृ० ६६८।

३. कर्त्तृसंज्ञारहितमित्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
'तत्प्रयोजको हेतुश्चेतिविहितकर्त्तृसंज्ञावर्जितमित्यर्थः—विषमपदविवृति, पृ० ७४

देनेवाले व्यक्ति को) बंधवा दिया। इस प्रत्युदाहरण में सौ (रुपये) बंधने का प्रयोजक कर्त्ता तथा हेतु दोनों ही हैं।

इस सूत्र में 'हेतौ' (२-३-२३) सूत्र की अनुवृत्ति है। अतएव कर्त्ता से भिन्न हेतुभूत जो ऋण है उसके वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो, यह सूत्र का अर्थ होता है। इस सूत्र के द्वारा हेतुतृतीया की बाधा की गयी है[1]। 'शतेन बन्धितः' इस प्रत्युदाहरण में 'शत' ऋण है तथा 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१-४-५५) इस सूत्रानुसार कर्तृसंज्ञक भी है। प्रत्युदाहरण में जो 'बन्धितः' पद है वह 'बन्ध्' धातु से 'हेतुमति च' (३-१-२६) सूत्रानुसार 'णिच्' प्रत्यय करने पर कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय लगाकर बनता है। अणिजन्त काल में अधमर्ण उत्तमर्ण से बँधा गया है, यह अर्थ होता है। उसके बाद शत ऋण रूप प्रयोजक कर्त्ता से उत्तमर्णरूप प्रयोज्यकर्त्ता के द्वारा अधमर्ण बंधवा गया है, यह णिजन्तकाल में अर्थ होता है। यहाँ पर शतरूप ऋण प्रयोजक होने से कर्तृसंज्ञक तथा हेतु संज्ञक भी हुआ है। कारण 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' (१-४-५५) इस सूत्र में 'च' कार के द्वारा कर्त्ता के प्रयोजक के लिये 'हेतु' और 'कर्त्ता' दोनों ही संज्ञाओं का विधान किया गया है। अतः इस सूत्र में 'अकर्त्तरि' यह पद न कहने पर प्रयोजक कर्त्ता के वाचक 'शत' शब्द में हेतु तृतीया का अपवादभूत पञ्चमी विभक्ति सूत्रानुसार हो जाती है। अतः इस सूत्र में 'अकर्त्तरि' यह पद कहा गया है। सूत्र में 'अकर्त्तरि' यह पद कहने पर 'शत' हेतु होने पर भी 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' सूत्रानुसार 'कर्त्ता' होने के नाते उसके वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति नहीं हुई है[2]।

'हेतु' की अनुवृत्ति करके सूत्र की व्याख्यामें 'हेतुभूतम्' ऐसा कहने से

---

१. तृतीयापवादोऽयम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। हेतुतृतीयापवादः—बालमनोरमा, पृ० ६६९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. शतस्य हेतुत्वेऽपि कर्तृत्वान्न ततः पचमीति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६६९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण, णयन्ते प्रयोजककर्तुः शतस्य हेतुसंज्ञाप्यस्तीति पंचम्यत्र स्यादेवातीऽत्राकर्त्तरीत्युक्तमिति भाव;—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७० म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

करणत्वविवक्षा में तृतीया विभक्ति ही होगी, यह समझना चाहिये[1]।

६०२ विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्—(२-३-२५)

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्याद् जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम्—धनेन कुलम्। अस्त्रियां किम्—बुद्धया मुक्तः। 'विभाषा' इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—अस्त्रीलिङ्ग गुणवाचक शब्द में विकल्प से पञ्चमी हो।

जब हेतु कोई गुणपदार्थ हो और स्त्रीलिङ्ग न हो तब उस के वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति विकल्प से होनी चाहिये।

उदाहरण—'जाड्याद् जाड्येन वा बद्धः'—जड़ता या अज्ञानवश बद्ध है। सूत्र में 'गुणे' ऐसा क्यों कहा गया है? उत्तर 'धनेन कुलम्'—धन के कारण कुल या खानदान है।

इस सूत्र में जो गुणशब्द है वह वैयाकरण सम्प्रदाय परिभाषित समझना चाहिये। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने—

'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः।'

इस श्लोक से गुण का लक्षण 'वोतो गुणवचनात्' (४-१-४४) इस सूत्र की व्याख्याप्रसंग में बताया है। महाभाष्य की प्रदीप टीका तथा प्रदीप के ऊपर जो उद्योत टीका है उस में तथा बालमनोरमा और तत्त्वबोधिनी टीका में 'वोतो गुणवचनात्' सूत्र की व्याख्या प्रसंग में 'सत्त्वे निविशतेऽपैति—' इत्यादि गुण लक्षण का विवरण किया गया है। काशिका वृत्ति में भी 'वोतो गुणवचनात्' सूत्र की व्याख्याप्रसंग में गुण का यही लक्षण उद्धृत किया गया है तथा न्यास और पदमञ्जरी टीका में इसकी व्याख्या की गयी है।

---

१. तेन करणत्वविवक्षायां तृतीयैवेति भाव—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४१।

संक्षेप में 'सत्त्वे निविशते—' इत्यादि गुणलक्षण बोधक श्लोक का अर्थ है—'सत्त्वे' अर्थात् द्रव्य में 'निविशते'—समवाय सम्बन्ध से रहता है, 'अपैति'—कतिपय द्रव्यों से अपगत होता है—अर्थात् कतिपय द्रव्यों में नहीं रहता है, 'पृथग्जातिषु दृश्यते'—भिन्नजातीय द्रव्यों में रहता है, ऐसा देखा जाता है, 'आधेयश्चाक्रियाजश्च'—उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य अर्थात् नित्य और अनित्य, 'सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः'—वह द्रव्य से भिन्न गुण है।

सिद्धान्त कौमुदी की बालमनोरमा टीका में इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग वासुदेव दीक्षित जी ने 'सत्त्वे सिविशतेऽपैति—' इत्यादि गुण लक्षण की विस्तृत व्याख्या की है, जो वहीं देखना है और, उसके बाद अन्त में 'जाति-भिन्नत्वे सति क्रिया भिन्नत्वे सति द्रव्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वम्' इस प्रकार उसका निष्कर्ष बताया है[1]। अर्थात् जो जाति से भिन्न, क्रिया से भिन्न तथा द्रव्य से भिन्न होकर समवेत पदार्थ है वही 'सत्त्वे विविशतेऽपैति—' इत्यादि गुण लक्षण से लक्षित गुणपदार्थ है। इस पर भी तार्किक सम्मत 'विशेष' पदार्थ में गुण लक्षण की अतिव्याप्ति रोकने के लिये 'विशेष भिन्नत्व' लक्षण में निवेश करना चाहिये—ऐसा भी कहा है।[2]

परन्तु गुण के इस निष्कृष्ट लक्षण को स्वीकार करने पर भी भट्टोजी दीक्षित प्रोक्त 'जाड्याद् बद्धः' इस उदाहरण में जो गुण वाचक 'जाड्य' शब्द कहा गया है उसका ग्रहण नहीं हो सकता। कारण 'जाड्यय' या जड़ता ज्ञान अभाव पदार्थ है और अभाव समवाय सम्बन्ध से न रहने के कारण उसमें 'समवेतत्व' नहीं है।

अतएव काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में 'विभाषागुणेऽस्त्रियाम्' की व्याख्याप्रसंग में 'अन्ये तु—' इत्यादि ग्रन्थ से 'परतन्त्रमात्र' को कहा गया है।[3]

---

1. बालमनोरमा, पृ० ५ ०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
2. अत्र नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव' इति तार्किकाभिमत–विशेषपदार्थाङ्गीकारे तद्भिन्नत्वमपि निवेश्यम्—बाल मनोरमा, पृ० ५ ०।
3. अन्ये तु 'पर्वतो वह्निमाम् धूमवत्त्वादि' त्यादावनेनैव पंचमीमिच्छन्न- परतन्त्र-मात्रस्य ग्रहणं वर्णयन्ति—पद्मंजरी, (काशिका भाग २) पृ० १८२।

इस सूत्र की व्याख्याप्रसंग में न्यास टीका में भी 'परार्थरूपापन्न' अर्थात् पारार्थ्यविशिष्ट परार्थ अर्थात् दूसरे के लिये अभिप्रेत सम्बन्धिमात्र को 'गुण' कहा गया है[1]।

वैयाकरणसम्मत 'गुण' के बारे में वाक्यपदीय ग्रन्थ के साधनकाण्ड गुणसमुद्देशप्रकरण की हेलाराजकृत टीका में विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थविस्तार के भय से वे सब बातें यहाँ नहीं लिखी जा रही हैं। जिज्ञासु पाठक हेलाराज की टीका को अवश्य देखें।

'गुणे किम् ? धनेन कुलम्।

सूत्र में जो 'गुणे' पद है उसका पदकृत्य बताने के लिये पूछते हैं कि सूत्र में 'गुणे' ऐसा क्यों कहा गया है? इस के उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है—'धनेन कुलम्'—धन के कारण कुल या खानदान। प्रत्युदाहरण में 'धन' को कुल या खानदान का हेतु कहा गया है। 'धन' द्रव्य पदार्थ है, गुण पदार्थ नहीं। इस लिये 'धन' के वाचक 'धन' शब्द में हेतु अर्थ में वैकल्पिक रूप से पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी।

अस्त्रियां बुद्धया किम् ? मुक्तः—

सूत्र में 'अस्त्रियाम्' यह पद क्यों कहा गया है? उत्तर—बुद्ध्या मुक्तः—ज्ञान के कारण मुक्त। इस वाक्य में मुक्त होने का हेतु बुद्धि या ज्ञान का वाचक 'बुद्धि' शब्द गुण वाचक होने पर भी 'बुद्धि' शब्द स्त्रीलिङ्ग होने के कारण उसमें पञ्चमी विभक्ति न होकर हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है।

'विभाषा' इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः।

'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र का 'विभाषा' इस रूप से विभाग किया जाता है। हेतौ' (२–३–२३) सूत्र से 'हेतौ' पद की और 'अकर्तर्यृणे पञ्चमी' (२–३–२४) सूत्र से 'पञ्चमी' पद की अनुवृत्ति होती है।

अतएव 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र का 'विभाषा' इस प्रकार से योग

---

१. गुणशब्देन चात्र सम्बन्धिमात्रं परार्थरूपापन्नमुच्यते—न्यास (काशिका, भाग २ पृ० १८२।

याग करने पर हेतु अर्थ में पञ्चमी विभक्ति वैकल्पिक रूप से होती है, यह र्थ निकलता है। हेतु गुणवाचक न होने पर भी उस के वाचक शब्द में इस व्याख्यान के अनुसार पञ्चमी होती है, यथा—धूमादग्निमान्। इस उदाहरण क्य का अर्थ यह है कि धूम रूप हेतु से अग्निमान् या वह्निमान् को जाना जाता है अतएव 'इस वाक्यस्थ, 'अग्निमान्' पद के अनन्तर 'ज्ञायते' (जाना जाता है) यह पद शेष है, यह समझना है[1]। कारण 'धूम' अग्निज्ञान का तु है।[2]।

शब्देन्दुशेखरकार नागेश भट्ट जी के मतानुसार उदाहरण वाक्यस्थ 'धूम' शब्द की धूमज्ञान में लक्षणा है और 'अग्निमत्' शब्द स्वज्ञानविषय में अर्थात् अग्निमत् के ज्ञान के विषय 'अग्निमत्' पदार्थ में लाक्षणिक है[3]।

'धूमादग्निमान्' इस उदाहरण वाक्यस्थ 'धूमात्' पद में स्थित पञ्चमी विभक्ति से जो जन्यजनकभावरूप अर्थ का बोध होता है वह प्रकृतस्थल में ज्ञान में ही है। कारण धूमज्ञानजन्य वह्निज्ञान होता है। इसीलिये शब्देन्दु-शेखरकार ने धूम शब्द का धूमज्ञान में और 'अग्निमत्' शब्द का अग्निमत् के ज्ञान के विषय में लाक्षणिक माना है। शब्देन्दुशेखर की चिदस्थिमाला टीकामें तथा वरवर्णिनी टीका में यह बात स्पष्ट कही गयी है[4] ज्ञान में रहनेवाला जो हेतुहेतुमद्भाव है उसको विषय में आरोप करके 'धूमादग्निमान्' ऐसा वाक्य प्रयोग किया है[5]।

'विभाषा' इस प्रकार योगविभाग का दूसरा फल यह है कि हेतु स्त्रीलिङ्ग

---

१. अग्निमानित्यनन्तरं ज्ञायत इति शेष—वालमनोरमा, पृ० ६६६।

२. धूमस्य अग्निज्ञानहेतुत्वादिति भावः—वालमनोरमा, पृ० ६६६

३. धूमपदं स्वज्ञाने, अग्निमत्पदं स्वज्ञानविषये लाक्षणिकं बोध्यम्—शब्देन्दु०, पृ० ७४१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

४. जन्यजनकभावस्य ज्ञाननिष्ठत्वादाह धूमेति—चिदस्थिमाला, पृ० ७४१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। धूमज्ञानस्यैव अग्निमज्ज्ञानं प्रति हेतुत्वादिति भावः—शब्देन्दुशेखरवरवर्णिनी, पृ० ७४१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

५. ज्ञाननिष्ठो हेतुहेतुमद्भावश्च विषये आरोप्यते—वरवर्णिनी, पृ० ७४१।

होने पर भी तद्वाचक शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो सकती है, यथा, 'नास्ति घटोऽनुपलब्धेः'—घड़ा नहीं है, क्योंकि उसकी अनुपलब्धि है। इस उदाहरण में अनुपलब्धिशब्द स्त्रीलिङ्ग होने पर भी उस में हेतु अर्थ में पञ्चमीविभक्ति हुई है।

इसके बाद 'गुणेऽस्त्रियाम्' यह सूत्र का दूसरा भाग है, जिसके अनुसार गुणवाचक अस्त्रीलिङ्ग 'जाड्य' आदि हेतुवाचक शब्द में पञ्चमी हो सकती है।

'वाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' यह वार्त्तिक सूत्र भी गुणवाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द में हेतु अर्थ में पञ्चमी का ज्ञापक है। कारण 'तनुदृष्टि' शब्द गुणवाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द है[1]।

किसी-किसी आचार्य का मत यह है कि 'वाहुलकं प्रकृते स्तनुदृष्टेः' इस वार्त्तिक प्रयोग से 'गुणेऽस्त्रियाम्' यह पञ्चमी विधान प्रायिक है, यह सिद्ध होता है[2]।

६०७ पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२-३-३२)

एभिर्योगे तृतीया स्यात् पञ्चमीद्वितीये चानुवर्त्तेते। पृथग् रामेण रामात् रामं वा। एवं विना नाना।

अनुवाद तथा विवृत्ति—पृथक्शब्द, विना शब्द तथा नाना (विनार्थक) शब्द के योग से तृतीया विभक्ति विकल्प में हो।

इन शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति हो। पञ्चमी और द्वितीया विभक्ति की अनुवृत्ति की जा रही है। पृथग् रामेण, रामं वा—राम से पृथक्, अर्थात् रामप्रतियोगिक भेदवान् यह अर्थ है।

सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' शब्द विकल्पार्थक अव्यय है। तृतीया विभक्ति के अभावपक्ष में पृथक् आदि शब्द के योग से विकल्प में पञ्चमी और द्वितीया विभक्तियाँ होती हैं। अव्यय अनेकार्थक होने से समुच्चय का बोध कराता है।

---

१. वाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः' इतिवार्त्तिकनिर्देशोऽपीह ज्ञापकः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७७
२. 'वाहुलकं प्रकृते स्तनुदृष्टे' रित्युक्तवार्त्तिकप्रयोगात्, गुणेऽस्त्रियामिति प्रायिकमिति ध्येयं—शब्देन्दु० पृ० ७८१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

'अन्यतरस्याम्' शब्द विकल्प में अन्य विभक्तियों की भी प्राप्ति कराता है[१]।
'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' इस सूत्र पाठ के प्रसङ्ग में मूल अष्टाध्यायी व्याकरण में यहाँ के लिये आवश्यक सूत्रों का पाठ निम्नलिखित क्रम से है :—

अपादाने पञ्चमी (२–३–२८)

अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते (२–३–२९)

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (२–३–३०)

एनपा द्वितीया (२-३-३१)

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम् (२–३–३१)

इन सूत्रों में से 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' सूत्र में स्थित षष्ठी' में वैयाकरण सम्प्रदाय की व्याख्यानुसार स्वरितस्वर न होने के कारण 'पृथग्विना—' आदिसूत्र में उसकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। 'अपादाने पचमी' सूत्र से 'मण्डकप्लुति' अधिकार से पंचमी की अनुवृत्ति की जाती है। 'द्वितीया' की तो 'एनया द्वितीया' इस सन्निहित पूर्ववर्त्ती सूत्र से अनुवृत्ति की गयी है[२]।
'एवं विना नाना'—इसी प्रकार 'विना' तथा 'नाना' शब्द के योग से तृतीया, पंचमी तथा द्वितीया विभक्तियाँ होती हैं।

तत्त्वबोधिनी टीका में इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग में कहा गया है कि पृथगर्थ:—अर्थात् पृथगर्थक शब्दों के योग से तृतीया, पंचमी तथा द्वितीया होती हैं, ऐसा न कहकर 'पृथक्', विना तथा 'नाना' सूत्र में इन तीन' पर्याय शब्दों के ग्रहण से अन्य पर्याय शब्द का ग्रहण नहीं होगा, ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये। अतएव 'हिरुग् देवदत्तस्य'—देवदत्त को छोड़कर, इस अर्थ

१. अन्यतरस्यांग्रहणं पक्षे विभक्त्यन्तरप्रापणार्थं सद् व्यवहितामपि पंचमीं प्रापयिष्यतीत्यर्थ;—महाभाष्य प्रदीप, (खण्ड २), पृ० ५०७, नि० सा० प्रेस संस्करण।
अव्ययानामनेकार्थत्वात् समुच्चयबोधनद्वारेत्यर्थ ;—उद्योत, पृ० ५०७, (महाभाष्य खण्ड २), नि० सा० प्रेस संस्करण। निपातानामनेकार्थत्वादिति भाव;—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. बालमनोरमा, पृ० ६७०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

में वर्जनार्थक 'हिरुक्' शब्द के योग से तृतीया, पंचमी तथा द्वितीया विभक्ति नहीं होगी।[1]

वर्जनार्थक 'नाना' शब्द के योग से द्वितीया विभक्ति का उदाहरण तत्त्वबोधिनी टीका में दिया गया है—'नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा'—अर्थात् नारी के बिना संसार यात्रा बेकार है[2]।

६०४ करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य (२-३-३३)

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापंचम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः।

अनुवाद तथा विवृति—'स्तोक', 'अल्प', 'कृच्छ्र' तथा 'कतिपय' ये शब्द जब द्रव्यभिन्न के वाचक होते हैं तब इनसे करण कारक में तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियाँ हों।

इस सूत्र में पृथग् विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' (२-३-३२) सूत्र से विकल्पार्थक 'अन्यतरस्याम्' पद की तथा 'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८) सूत्र से 'पञ्चमी' पद की अनुवृत्ति हुई है। इससे करण कारक में तृतीया की प्राप्ति होने से विकल्प में इन शब्दों से पञ्चमी विभक्ति का विधान किया जाता है। जब पञ्चमी विभक्ति नहीं होती तब करण में तृतीया तो सिद्ध ही है[3]।

उदाहरण के लिये 'स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः' अल्प आयास से या अनायास से मुक्त हुआ है। इस उदाहरण में 'स्तोक' शब्द अल्प आयास

---

१. इह पृथगर्थैरिति सूत्रयितव्ये पर्यायत्रयोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्, तेन हिरुग् देवदत्तस्येत्यत्र नेत्याहुः;—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७०।

२. तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. अन्यतरस्यामिति वर्त्तते पञ्चमीति च, तेन करणे तृतीयायां प्राप्तायां पक्षे पञ्चमी विधीयते, तथा मुक्ते करणत्वादेव तृतीया सिद्धा—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७०-६७१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

अन्यतरस्यामित्यनुवर्त्तते पंचमीति च। ततश्च करणे पंचमी वेति लभ्यते। तत्र तु तृतीया सिद्धैव—बालमनोरमा, पृ० ६७१, गिरिधर शर्मा संस्करण।

नायास का वाचक है, जो आयास या अनायास द्रव्य नहीं है।[1]

'स्तोक' आदि शब्द कब असत्त्व वचन होता है, काशिका वृत्ति में इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग में इसकी चर्चा की गयी है। जब 'स्तोक' आदि शब्द से केवल धर्म की करण के रूप से विवक्षा की जाती है, द्रव्य की नहीं, तब 'स्तोक' आदि की असत्त्व वचनता मानी जाती है।[2]

काशिका वृत्ति में उल्लिखित 'असत्त्ववचनता' की व्याख्या प्रसंग में हरदत्त जी ने पदमञ्जरी टीका में कहा है—

जिनके सम्बन्ध से 'द्रव्य' 'स्तोक' आदि शब्द प्रयोग के विषय होते हैं, वे 'गुण' 'धर्म' कहलाते हैं। 'स्तोक' आदि शब्द द्रव्य और गुण के वाचक होते हैं, जैसे कि शुक्ल आदि शब्द गुण वाचक होते हैं तब इनकी असत्त्ववचनता मानी जाती है।[3]

न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि जी ने भी इसी प्रकार की बात कही है। 'स्तोक' आदि शब्द जब केवल 'गुण' या 'धर्म' का वाचक होते हैं, धर्म का आश्रय द्रव्य का नहीं और वे धर्म जब करण के रूप से विवक्षित होते हैं तब उन शब्दों की असत्त्ववचनता मानी जाती है।[4] परन्तु जब 'वह यह है' (सोऽयम्) इस प्रकार अभिन्नतापूर्वक व्यवहार करने से 'स्तोक' आदि शब्द धर्मवान् द्रव्य के वाचक होते हैं, तब उनकी सत्त्ववचनता मानी जाती है।[5]

---

१. आयासो न द्रव्यमिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६७१

२. यदा तु धर्ममात्रं करणतया विवक्ष्यते न द्रव्यं तदा स्तोकादीनामसत्त्ववचनता—काशिका वृत्ति, २–३–३३

३. यद्योगाद् द्रव्यं स्तोकादिव्यपदेशमासादयति ते गुणा धर्माः' उभयवचना ह्येते द्रव्यमाहुर्गुणं च शुक्लादिवत्। यदा गुणवचनास्तदाऽसत्त्ववचनतेत्यर्थः—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २), पृ० १९०, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी।

४. यद्योगाद् द्रव्यं स्तोकादिव्यपदेशमासादयति ते गुणा धर्मशब्देनोच्यन्ते। तन्मात्रं स्तोकादिभिः शब्दैरभिधीयमानं करणत्वेन यदा विवक्ष्यते, न तु द्रव्यम्, तदा स्तोकादिशब्दनामसत्त्ववचनता—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १९०-१९१, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी।

५. यदा तु सोऽयमित्यभेदात् तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते, तदा तेषां सत्त्ववचनता भवति—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १९१

शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट जी ने भी कहा है कि सूत्रस्थ 'स्तोक' आदि शब्द, जिन धर्मों के सम्बन्ध से द्रव्य अर्थ में 'स्तोक' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उन्हीं धर्मों के बोधक हैं और वे धर्म 'अल्प' या 'स्तोक' आदि शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त 'अल्पत्व', 'स्तोकत्व' आदि हैं।[1]

और उन धर्मों का करणत्व परम्परा सम्बन्ध से है।[2] 'परम्परा' सम्बन्ध कहने का मतलब 'स्तोकत्व' आदि के आश्रय के माध्यम से है, ऐसा समझना।[3]

इस सूत्र में जो द्रव्यार्थक 'सत्त्व' शब्द है उससे सर्वनाम शब्द के द्वारा परामर्शयोग्य अथवा लिङ्ग के द्वारा परामर्शयोग्य अथवा लिङ्ग के द्वारा निरूपित विशेष्य को समझना।[4] लिङ्ग निरूपित विशेष्य शब्द से नपुंसक भिन्न लिङ्गनिरूपित विशेष्य का ग्रहण करना है।[5]

सूत्र में जो 'करणे च—' इस प्रकार 'च' शब्द का उल्लेख है उससे 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (२–३–३२) [इस पूर्ववर्ती सूत्र से 'तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इतने अंश का अनुकर्षण अभिप्रेत है[6]।

करण कारक में 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' (२–३–१८) सूत्र से तृतीया विभक्ति सिद्ध ही है, अतएव विकल्प में करण कारक में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग के लिये यह 'करणे च—'इत्यादि सूत्र कहा गया है।[7]

सूत्रस्थ 'स्तोक', 'अल्प', कृच्छ्' और 'कतिपय' शब्द एकार्थक होने पर भी पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण 'स्तोक' आदि के अन्य पर्याय शब्दों के निषेध

---

१. स्तोक शब्दो यद्धर्मावेशाद्द्रव्ये स्तोकव्यवहारस्तद्धर्मपरः। स च धर्मोऽल्पादि प्रवृत्तिनिमित्तमेव—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण

२. करणत्वञ्च परम्परया—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. परम्परया = स्तोकत्वाश्रयद्वारा, वरवर्णिनी, (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७४३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

४. द्रव्यपदेनात्र सर्वनामपरामर्शयोग्यं लिङ्गनिरूपितविशेष्यं वा—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७...

५. नपुंसक भिन्न लिङ्गेत्यर्थः—विषमपद विवृति', लघुशब्देन्दु०), पृ० ७४३, गु० प्र०

६. चकारः 'तृतीयान्यतरस्यामित्यस्यानुकर्षणार्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४२, शास्त्री संस्करण।

७. करणे तृतीयायाः सिद्धत्वेन पक्षे पंचम्यर्थं वचनमिदम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४४

लिये अभिप्रेत है। अतएव 'मात्रया मुक्तः'—थोड़े से मुक्त—ऐसे प्रयोग स्थल में 'मात्रा' शब्द में विकल्प में पञ्चमी विभक्ति नहीं होगी—न्यास टीका में यह बात कही गयी है[1]।

सूत्र में 'करणे'—ऐसा, क्यों कहा गया है ? काशिका वृत्ति में इसके उत्तर में कहा गया है कि 'स्तोक' आदि शब्द जब क्रिया विशेषण होकर कर्म बन जाते तब उन शब्दों में तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ नहीं होंगी—यथा-'स्तोकं मुञ्चति'—थोड़ा सा छोड़ता है[2]।

शब्देन्दुशेखर में नागेश भट्टजी ने भी इस प्रश्न को उठाकर 'स्तोकं यचति' इत्यादि क्रियाविशेषणरूप कर्म के स्थल में 'स्तोक' आदि शब्द में तृतीया और पञ्चमी विभक्तियाँ न होती हैं—ऐसा कहा है।[3]

सूत्रस्य—'असत्ववचनस्य' शब्द की व्यावृत्ति कहने के लिये भट्टोजी दीक्षित ने 'द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः' ऐसा प्रत्युदाहरण दिया है। 'स्तोकेन विषेण हतः'—थोड़े से विष से मारा गया—इस वाक्य में 'स्तोक' शब्द अल्प विषरूप द्रव्य का वाचक है। अतः यहाँ 'स्तोक' शब्द द्रव्य वाचक होने के कारण में केवल तृतीया ही होगी, विकल्प में तृतीया तथा पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ नहीं होंगी।[4]

'करणे च स्तोकाल्प कृच्छ्र'—इत्यादि सूत्र में और एक बात ध्यान देने योग्य है।

---

१. एकार्थत्वेऽपि स्तोकादीनां भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। इह मा भूत्—मात्रया मुक्त इति—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १९१, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

२. करणे इति किम् ? क्रियाविशेषणे कर्मणि मा भूत—स्तोकं मुंचति, काशिका २-३-३३।

३. करणे किम् ? स्तोकं पचति—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

४. द्रव्ये वृत्तौ स्तोकेन विषेण हत इति तृतीयैवेत्यर्थः—बाल मनोरमा, पृ० ६७१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

किसी प्रत्यय के विधान करने में जिसके उत्तर प्रत्यय का विधान हो उसमें पञ्चमी विभक्ति होनी चाहिये, परन्तु इस सूत्र में 'स्तोकाल्पकृच्छ्र कतिपयस्य' शब्द में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।[1]

इसके उत्तर में नागेशभट्टजी ने कहा है—'गापोष्टक्' (३-२-८) अर्थात् कर्मवाचक पद उपपद के रूप में रहते उपसर्गरहित 'गै' धातु तथा 'पा' धातु के उत्तर 'टक्' प्रत्यय हो—इस सूत्र में 'गै' धातु वाचक 'गै' शब्द तथा 'पा' धातु वाचक 'पा' शब्द में समास करके उसमें 'गापोः' इस प्रकार षष्ठी विभक्त्यन्त प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार इस 'करणे च'—इस सूत्र में भी समझना चाहिये[2]।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में जो 'षष्ठी' विभक्ति है वह 'सौत्री' षष्ठी है। अर्थात् पाणिनि मुनि ने जब स्वयं ही प्रत्ययविधि स्थल में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्ययविधि में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग सार्वत्रिक नहीं है। कहीं प्रत्ययविधि में षष्ठी विभक्ति का भी प्रयोग हो सकता है।[3]

६०५ दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च (२-३-३५)

एभ्यो द्वितीया स्यात्, चात् पंचमी तृतीये च। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधेयम्। ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा, अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्येत्यनुवृत्ते र्नेह—दूरः पन्थाः।

अनुवाद तथा विवृत्तिः—दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक (निकटार्थक) शब्दों में द्वितीया भी हो।

इन शब्दों में अर्थात् दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों के उत्तर द्वितीया विभक्ति हो, (सूत्रस्थ) 'च' कार से पंचमी तथा तृतीया विभक्ति

१. ननु प्रत्ययविधौ पंचम्यौचित्यम्—चिदस्थिमाला, लघुशब्देन्दु, पृ० ७४२।
२. षष्ठी गापोष्ठगितिवत्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४२, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
षष्ठीति। सौत्रत्वादिति शेषः—वरवर्णिनी (लघुशब्देन्दु०) पृ० ७४२.

(हों)। यह जो (दूरार्थक तथा निकटार्थक शब्दों के साथ विभक्तियाँ विहित हुई हैं) ये केवल प्रातिपदिक के अर्थ में है। अर्थात् यह 'दूर' 'अन्तिक' आदि प्रातिपदिकों का जो अर्थ है, 'दूर' 'अन्तिक' शब्दों के साथ जो द्वितीया आदि विभक्तियाँ विहित हुई है, उन विभक्तियों का भी वही अर्थ है कोई भिन्न अर्थ नहीं है। वैयाकरण सम्प्रदाय के व्याख्यानुसार यह बात ज्ञात होती है।[1]

पदमंजरी टीका में हरदत्तजीने इस सूत्र की 'प्रतिपदिकार्थे विधिरयम्' इस काशिकावृत्ति की व्याख्या में कहा है कि अन्य अर्थं का निर्देश न किये जाने पर प्रातिपदिकार्थ में इन विभक्तियों का विधान हुआ है, यह अभिप्राय प्रतीत होता है।[2]

उदाहरण—ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा, अन्तिकम् अन्तिकात् अन्तिकेन वा—गाँव से दूर या गाँव के समीप।

'असत्तवचनस्येत्यनुवृत्ते र्नेह—दूरः पन्थाः'—इत्यादि। करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य' (२–३–३३) इस सूत्र से 'असत्त्ववचनस्य' इसकी अनुवृत्ति होने के कारण—'दूरः पन्थाः'—दूर रास्ता—इस प्रयोग में दूर शब्द में द्वितीया आदि विभक्तियाँ नहीं होंगी।

इस सूत्र में जो 'असत्त्ववचनस्य' की अनुवृत्ति की जा रही है, उसका घटक 'सत्त्ववचनत्व' का अर्थ सत्त्वविशेषकत्व है। अर्थात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से सत्त्व का जो विशेषण है, उसके वाचक दुर आदि शब्दों में द्वितीयादि विभक्तियाँ नहीं होंगी। 'दूरः पन्थाः' इस वाक्य में 'दूर' शब्द सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से 'पन्था' में जो 'सत्त्व' है उसका विशेषण है। 'दूर' शब्द से

१. प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयमिति। व्याख्यानादिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६७१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। व्याख्यानादिति भावः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. अर्थान्तरस्यानिर्देशादिति भावः—पदमंजरी (काशिका, भाग २), पृ० १६२, प्रा० सा० प्रकाशन, वाराणसी।

बोधित 'दूरत्व' पन्था में है तथा 'सत्त्व' भी पन्था में है। इस रूप से 'दूर' शब्द सामानाधिकरण सम्बन्ध से 'सत्त्वविशेषक' अर्थात् 'सत्त्व' का विशेषण वाचक होता है।[1]

इस प्रसंग में और एक बात ध्यान देने योग्य है।

'दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचननम्। (क)
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपिताद् गुरोः॥'[2]

'मकान से दूर पेशाब करना तथा पैर धोना चाहिये, दस्युओं से तथा गुस्से में आये हुए गुरु से दूरी पर रहना चाहिये।'

इस भाष्यप्रयोग से 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (२-३-३५) सूत्र की 'सप्तम्यधिकरणे च' (२-३-३६) इस परवर्त्ती सूत्र में भी अनुवृत्ति करने पर अधिकरण में भी इन 'दूर' आदि शब्दों में द्वितीया, तृतीया, पंचमी तथा सप्तमी विभक्तियां हो सकती हैं।[3]

इति पञ्चमी विभक्ति।

६०६ षष्ठी शेषे (२-३-५०)।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी स्यात्। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम् सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधो एकस्य उपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः।

---

१. सत्त्ववचनत्वनिष्ट सत्त्वविशेषकत्वम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

(क) पादावनेनमिति बालमनोरमा स्थं पाठान्तरम्।

२. महाभाष्य (द्वितीय खण्ड), पृ० ५०८, नि० सागर प्रेस संस्करण।

३. इह सप्तम्यपि वक्ष्यते। किंच 'दूरान्तिकार्थेभ्यः'—इति सूत्रस्य 'सप्तम्यधिकरणे च' इत्युत्तरसूत्रेऽप्यनुवर्त्तनादधिकरणेऽप्येभ्यो विभक्तिचतुष्टयं बोध्यम्। तथा च प्रयुज्यते 'दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम्' इति। आवसथस्य दूरे इत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

अनुवाद तथा निवृत्तिः—शेष में षष्ठी हो। कारक और प्रातिप्रातिपदि-
कार्थ से भिन्न स्वस्वामि-भाव आदि सम्बन्ध शेष है, उसमें षष्ठी विभक्ति
हो। उदाहरण—

'राज्ञः पुरुषः'—राजा का तुरुष।

शेष का अर्थ यहाँ 'उक्तात् अन्यः'[1]

अर्थात् जो कहा गया है, उससे भिन्न। 'उपयुक्तात् अन्यः'—जिसका
प्रयोग या विधान किया गया हो, यह भी 'शेष' शब्द का अर्थ बताया गया
है। 'कर्म' आदि कारक तथा प्रातिपदिकार्थ में द्वितीया आदि विभक्तियों का
विधान किये जाने से उनका उपयोग हो चुका है।[2] महाभाष्यकार पतञ्जलि
ने पहले 'कर्मादिभ्यो येऽन्येऽर्थाः स शेषः' इस प्रकार 'शेष' शब्द का अर्थ
बतलाकर अन्त में 'कर्मादीनामविवक्षा शेषः' ऐसा कहा है।[3] 'कर्मादिभ्यो
येऽन्येऽर्थाः स शेषः' इस कथन का तात्पर्य आचार्य कैयट ने 'प्रदीप' टीका में
बताया है 'येऽन्येऽर्था इति। स्वस्वामिभावादयः सम्बन्धा इत्यर्थः'—जो अन्य
हैं इसका स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध, यह अर्थ है।[4]

'कर्मादीनामविवक्षा शेषः'—कर्म आदि की अविवक्षा 'शेष' है; भाष्यकार
के इस कथन का तात्पर्य भी आचार्य कैयट ने प्रदीप टीका में बतलाया है
क्रियाकारक अर्थात् क्रिया कारकत्व रूप[5] सम्बन्ध सर्वत्र वस्तुस्थिति के
अनुसार रहा है, और उसके कारण स्वस्वमिभाव आदि सम्बन्ध भी। इस

---

१. उक्तादन्यः शेषः—बालमनोरमा, पृ० ६७१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
उक्तादन्यः—लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ७४४, गुरु प्रसाद शास्त्री संस्करण।

२. उपयुक्तादन्यः शेषः कर्मादयश्च प्रातिपदिकार्थपर्यन्ता उपयुक्ता, तत्र द्वितीयादीनां
विधानात्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७२. उपयुक्तादन्यः शेषः—पदमञ्जरी, (काशिका,
भाग २), पृ० २०९, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. महाभाष्य (खण्ड २), पृ. ५१८–५१९, निर्णय सागर प्रेस संस्करण।

४. महाभाष्य—प्रदीप, (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५१८।

५. क्रियाकारकेति। स्वत्वहेतुदानादिक्रियाकारकत्वपूर्वक इत्यर्थः—उद्योत (महाभाष्य,
खण्ड २), पृ० ५१८, नि० सा० प्रेस संस्करण।

स्थिति में स्वस्वामिभाव आदि की विवक्षा करने पर वर्त्तमान रहते हुए भी क्रियाकारकत्व रूप सम्बन्ध की विवक्षा नहीं की जाती[1]। क्रियाकारकत्व रूप सम्बन्ध से यहाँ 'कर्मत्व', 'करणत्व', सम्प्रदानत्व को समझना है।

'षष्ठी शेषे'—सूत्र का तात्पर्य बालमनोरमा टीका में इस प्रकार बताया गया है 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादि द्वितीयादि विधायक सूत्रों में कर्म, कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक बतलाये गये हैं। 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाण—इत्यादि प्रथमाविधायक सूत्र में प्रातिपदिकार्थ भी कहा गया है। इन सबसे भिन्न स्वस्वामिभावादिसम्बन्ध 'शेष' पदार्थ है।[2]

इन स्वस्वामिभावादिरूप सम्बन्धों का यदि कोई बाधक न हो तो, 'विशेष को छोड़कर सामान्य हो नहीं सकता इस नियम से 'सम्बन्धत्व' रूप सामान्य रूप से तथा 'कर्मत्वत्व' आदि विशेष रूप से ज्ञान होता है। यदि कोई बाधक हो तो 'मातुः स्मरति'—मातृसम्बन्धि स्मरण करता है—ऐसे प्रयोगस्थल में माता के साथ स्मरण क्रिया का सम्बन्ध मात्र का बोध होगा। 'कर्मत्व' आदि विशेष रूप से विवक्षाधीन ज्ञान के स्थल में द्वितीयादि विभक्तियाँ होती हैं, यही वस्तु स्थिति है[3]।

ऐसे स्थलों में सम्बन्धमात्र की विवक्षा को बाधक कहा जा सकता है। 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो

---

१. क्रियाकारकसम्बन्धोऽपि सर्वत्र वस्तुस्थित्यास्ति तन्निमित्तश्च स्वस्वामिभावादि तत्र स्वस्वामिभावादिविवक्षायां सन्नपि क्रियाकारकसम्बन्धो न विवक्ष्यते—प्रदीप (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५१६, नि० सा० प्रेस संस्करण।

२. 'कर्मणि द्वितीया' इत्यादिसूत्रेषु द्वितीयादिविधिषु हि कर्मकर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणकारकाण्युक्तानि। प्रथमाविधौ प्रातिपदिकार्थोऽनुक्रान्तः। एतेभ्योऽन्यः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषपदार्थ इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६७२।

३. तत्रासति बाधके सम्बन्धः विशेष रूपेण सामान्यरूपेण च भासते, 'न हि, निर्विशेषं सामान्यम्' इति न्यायात्। सति तुबाधके 'मातुः स्मरती'त्यादौ सम्बन्धत्वेनैव भानम्, कर्मत्वादि (कर्मत्वत्वादि ?)—विशेष रूपेणापि भाने द्वितीयादिप्रसङ्गादिति लिङ्गम्—बालमनोरमा १७२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

...ते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भो श्चरणयोः।
...नां तृप्तः।'

अनुवाद तथा विवृति :—कर्मत्व-कर्तृत्व आदि की भी केवल सम्बन्धत्व' साधारण धर्म लेकर विवक्षा करने से वास्तव में कर्म आदि कारकों के ...में भी षष्ठी विभक्ति ही होगी, कारक विभक्ति नहीं[1]। उदाहरण— ...गतम् सज्जन में वास्तव में गमन कर्तृत्व होने पर भी उस कर्तृत्व की ...क्षा न करके गमन के साथ सज्जन का कोई सम्बन्ध है, केवल इसकी ...क्षा करने से 'सताम्' पद में शेष षष्ठी विभक्ति हुई है। 'क्तस्य च वर्त्तमाने' (२-३-६७) सूत्र के भाष्य में आचार्य पतञ्जलि ने कर्मादीनामविवक्षा शेषः—...आदि की अविवक्षा 'शेष' है—ऐसा कहा है। सज्जन में जो गमन कर्तृत्व ...उसकी विवक्षा अगर होती है तो 'सद्भिः गतम्'—सज्जनकर्तृक गमन— ...प्रकार 'सत्' शब्द में अनभिहित कर्तृकारक में तृतीया विभक्ति होगी। भट्टोजी दीक्षित की 'कर्मादीनामपि' इत्य दिपंक्ति में कर्म शब्द को भाव-...न निर्देश समझना। —अतः 'कर्मादीनाम्' का 'कर्मत्वादीनाम्' ऐसा ...है 'सतां गतम्' वाक्य में 'गतम्' पद 'गम्' धातु से 'नपुंसके भावेक्तः' (३-३-५६) सूत्रानुसार 'क्त' प्रत्यय से बना है। अतः 'गतम्' का 'गमनम्' अर्थ होता है।

विशेष की अविवक्षा के कारण और विशेष की विवक्षा से एक ही वस्तु ...बारे में भिन्न भिन्न प्रकार का शब्द प्रयोग हो सकता है, जैसे रूप विशेष अविवक्षा से सामान्यतः 'रूपवान्'—रूपविशिष्ट—ऐसा कहा जाता है। ...हीं रूप विशेष की विवक्षा करने पर 'नीलः', 'पीतः'—नीला, पीला— ...आदि कहते हैं, उसी प्रकार कर्मादि की अविवक्षा के स्थल में भी भिन्न ...प्रकार का शब्द प्रयोग युक्ति सिद्ध ही है[2]।

---

१. कर्मत्वकर्तृत्वादीनामपि सम्बन्धत्वसामान्यात्मना विवक्षायां षष्ठ्येव, न तु कारक-विभक्तय इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६७२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. यथा विशेषाविवक्षायां रूपवानिति प्रयुज्यते, विशेषविवक्षायां तु नीलः, पीत इत्यादि, तथेदमपि न्यायसिद्धमिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

इसी प्रसंग में दूसरा उदाहरण—'सर्पिषो जानीते'—कर्त्ता में प्राप्ति सर्पिसम्बन्धिनी प्रवृत्ति—सर्पि या घी के बारे में प्रवृत्त होता है। सर्पि को जो प्रवृत्ति का करणत्व है, उसकी सम्बन्धत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है। इस वाक्य में 'ज्ञा' धातु का 'प्रवृत्ति' लाक्षणिक अर्थ है, और यह 'ज्ञा' धातु अकर्मक क्रिया वाचक होने से 'अकर्मकाच्च' (१-३-४५) सूत्रानुसार आत्मनेपदी हुआ है। तत्त्वबोधिनी टीका के अनुसार यहाँ 'ज्ञा' धातु में अनुपसर्गाज्ज्ञ:' (१-३-७६) सूत्रानुसार भी आत्मनेपद हो सकता है[२]।

यहाँ तीसरा उदाहरण—'मातु: स्मरति'—मातृसम्बन्धि स्मरण करता है। वस्तुत: माता स्मरण का कर्म होने पर भी कर्मत्व का शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

इस में चौथा उदाहरण—'एधोदकस्योपस्कुरुते'—लकड़ी तथा पानी को (शोषण, गन्धद्रव्याधान आदि के द्वारा) साफ करता है। 'एधोदक' में वस्तुत: जो कर्मत्व है, उसकी शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है। उदाहरण वाक्यस्थ 'एधोकस्य' पद में द्वन्द्वसमास है। 'एधाश्च उदकानि च' इस प्रकार विग्रहवाक्य से द्वन्द्व समास करने पर 'जातिरप्राणिनाम्' (२-४-६) सूत्र से एकवद्भाव होकर 'एधोदकम्' पद बना है। उसकी षष्ठी एकवचन में 'एधोदकस्य' ऐसा हुआ है। यह 'एध' शब्द अकारान्त पुंलिङ्ग शब्द है।

सकारान्त नपुंसक लिङ्ग भी दूसरा एक 'एधस्' शब्द है। उसका भी वही लकड़ी अर्थ है। तथा 'उदक' का पर्याय नपुंसक लिङ्ग 'दक' शब्द भी एक है। तब 'एधांसि च दकं च' इस प्रकार विग्रह वाक्य कहने पर पहले के माफिक द्वन्द्व में एकवद् भाव होकर 'एधोदकम्' पद बनता है। उसकी षष्ठी में 'एधोदेकस्य' पद बनता है। 'उदक' का पर्याय 'दक' शब्द का उल्लेख हलायुध कोष में मिलता है, यथा—'भूवनममृतं जीवनं स्याद् दकं च'।

---

१. कर्त्राश्रिता सार्पि:सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरिति बोध:—बालमनोरमा पृ० ६७३, पूर्वोक्त संस्करण।

२. 'अकर्मकाच्च' 'अनुपसर्गाज्ज्ञ:' इत्यनेन वा जानाते स्तङ्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७३, पूर्वोक्त संस्करण।

अथवा 'एधः' प्रथमा एकवचनान्त कर्तृपद है, 'एधो दकस्य उपस्कुरुते'—लकड़ी 'दक' या उदक सम्बन्धी उपस्कार करता है। 'दक' (पानी) में वस्तुतः जो कर्मत्व है, उसकी शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है। उदाहरण वाक्यस्थ 'उपस्कुरुते' क्रिया पद में 'कृ' धातु 'गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः' (१-३-३२) सूत्रानुसार आत्मनेपदी हुआ है। ये सब बातें बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी टीका में हैं।[1]

इस प्रकार भजे शम्भोश्चरणयोः'—(भगवान्) शम्भु (शङ्कर) का चरण सम्बन्धी भजन करता हूँ। यहाँ पर भी चरणों में जो भजन का कर्मत्व है, उसकी शेषत्वविवक्षा में 'चरण' शब्द में षष्ठी हुई है।

इस प्रसङ्ग में 'फलानां तृप्तः'—फल सम्बन्धितृप्ति का आश्रय। इस वाक्य में भी फलों में जो तृप्ति का करणत्व है, उसकी शेषत्वविवक्षा में 'फल' शब्द में षष्ठी हुई है।

इस 'षष्ठी शेषे' सूत्र की व्याख्या प्रसंग में और एक दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। इस सूत्र के द्वारा जो सम्बन्धे षष्ठी का विधान हुआ है उस स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ?

शब्देन्दुशेखर कार आचार्य नागेशभट्टजी कहते हैं कि स्वस्वामिभावसम्बन्ध का तात्पर्य स्वत्व-स्वामित्व का समूह रूप सम्बन्ध है। अन्य ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवेचन है, यह भी उन्होंने कहा है।[2] अन्य ग्रन्थों से मञ्जूषा आदि को समझना है।[3] वैयाकरण सम्प्रदाय में इस स्वत्व-स्वामित्व के समूह को सम्बन्ध क्यों माना गया है इसके बारे में शब्दन्दुशेखर की विजया टीका में कहा गया है कि प्राचीन नैयायिक मतानुसार स्वामित्व सम्बन्ध है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है। कारण 'राज्ञः पुरुषः' इस प्रकार वाक्य प्रयोग होने

---

१. बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी, पृ. ६७३, म. म. गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. स्वत्व-स्वामित्वसमूहः सम्बन्ध इत्यन्यत्र विस्तरः—लघुशब्देन्दु., पृ. ७४४, गु. प्र. शास्त्री संस्करण।

३. मञ्जूषादवित्यर्थः;—चिदास्थिमाला (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७४४, पूर्वक्त संस्करण।

पर जो पुरुष के साथ राजा का सम्बन्ध प्रतीत होता है वह सम्बन्ध 'स्वामित्व' है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि पुरुष में 'स्वामित्व' न होने से 'स्वामित्व' सम्बन्ध से 'राजपुरुष' में भी राजाभाव की आपत्ति हो जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका जो सम्बन्ध जहाँ नहीं है, उस सम्बन्ध से उसका अभाव वहाँ रहता है। जैसे घट का संयोग सम्बन्ध अगर भूतल में न हो तो उस संयोग सम्बन्ध से घटाभाव भूतल में होगा। उसी तरह राजा का 'स्वामित्व' रूप सम्बन्ध पुरुष में न होने से उस सम्बन्ध से राजपुरुष में राजाभाव की आपत्ति हो जायगी। और इस आपत्ति को इष्टापत्ति के रूप में भी मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि उससे अनुभव का विरोध होगा।

विजया टीका में इसी प्रकार और भी कहा गया है कि नवीननैयायिकों के मतानुसार 'स्वत्व' को भी सम्बन्ध के रूप से मानना युक्ति संगत नहीं, क्योंकि सम्बन्ध 'द्विष्ठ' होने से, अर्थात् दोनों में रहने से, 'स्वत्व' 'द्विष्ठ' न होने के कारण सम्बन्ध नहीं बन पायगा। इसी लिये 'स्वत्व-स्वामित्व' समूह को वैयाकरण सम्प्रदाय सम्बन्ध के रूप से मानते हैं।[२]

यह जो 'स्वत्व-स्वामित्व' का समूह सम्बन्ध माना गया है, इसके विषय में लघुशब्दन्दुशेखर की 'विषमपदविवृति' नामक टीका में कहा गया है कि 'निरूप्य-निरूपकभावसम्पन्न स्वत्व-स्वामित्व का समूह सम्बन्ध है, अलग 'स्वत्व' या 'स्वामित्व' सम्बन्ध नही है, क्योंकि वह द्विष्ठ नहीं है।[३]

---

१. प्रचीननैयायिकानां मते स्वामित्वं सम्बन्ध स्तच्च न युक्तम्, पुरुषे स्वामित्वाभावात् तत्सम्बन्धेन राजपुरुषेऽपि राजाभावापत्तिः स्यात—विजया (लघुशब्देन्दु०) पृ. ७४४, गु. प्र. शास्त्री संस्करण।

२. एवं स्वत्वं सम्बन्ध इति नवीन नैयायिकमतमपि न युक्तम् सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वात् स्वत्वस्याप्यतथात्वात्, अतः. स्वत्व–स्वामित्वसमूहात्मकः सम्बन्धो वैयाकरणैः क्रियते—विजया, पूर्वोक्त संस्करण, पृ. ७०.

३. समूह इति। निरूप्यनिरूपकभावापन्न इति शेषः। प्रत्येकं तु न सम्बन्धः अद्विष्ठत्वात्—विषमपदविवृत्ति (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७४५ गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

इस सम्बन्ध के स्यरूप के बारे में नाना प्रकार विचार विमर्श है। ग्रन्थ विस्तार के भय से उयकी आलोचना नहीं की जा रही है। जिज्ञासु पाठक आकर ग्रन्थादि अवश्य देखें।

अब इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि षष्ठी विभक्ति किस शब्द के साथ लगायीं जायगी ? वैयाकरण सम्प्रदाय का सिद्धान्त यह है कि यद्यपि सम्बनध द्विष्ठ है, और उस हिसाब से 'राज्ञः पुरुषः' ऐसे प्रयोग के वाक्य में 'राजा' और 'पुरुष' दोनों में ही षष्ठी विभक्ति लगायी जा सकती है, फिर भी विशेषण वाचक 'राज' शब्द में ही षष्ठी होगी, न कि विशेष्य वाचक 'पुरुष' शब्द में।[1] आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ के साधनकाण्ड में कहा है—

'द्विष्ठोऽप्यसौ परार्थत्वाद् गुणेषु व्यतिरिच्यते।
तत्राभिधीयमानः सन् प्रधानेऽप्युपयुज्यते॥'

भर्तृहरि के इस कथन का अभिप्राय नागेश भट्टजी ने महाभाष्य की प्रदीप टीका की व्याख्या प्रसंग में स्पष्ट किया है कि यह सम्बन्ध (विशेषण और विशेष्य दोनों में रहने पर भी) परार्थत्व के कारण अर्थात् विशेषणत्व पर है अर्थ यानी प्रयोजन जिसका, उसके भाव से, अर्थात् विशेषणता के उपपादकत्व के कारण, यह सम्बन्ध गुणों में अर्थात् विशेषणों में उभूत रूप से यानी स्पष्ट रूप से जाना जाता है। उस विशेषण में षष्ठी आदि विभक्ति वाचक शब्द से अभिदीयमान सम्बन्ध (द्विष्ठ होने के कारण) विशेष्य में भी उपयुक्त होता है।

इस उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि किसी एक सम्बन्ध के बिना विशेषण का विशेषणत्व उपपन्न नहीं होता है। अतः विशेषण के विशेषणत्व को सिद्ध करणे के लिये आकाङ्क्षित जो सम्बन्ध, वह विशेषण से ही स्वभावतः

---

१. राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजा विशेषणम्, पुरुषो विंशेष्यः—महाभाष्य (खण्ड २) पृ० ५१६, नि० सा० प्रेस संस्करण।

२. एकस्मादुत्पद्यमानापि षष्ठी विशेषणादेव भवति, न 'विशेष्यात्—न्यास (काशिका, भाग २) पृ० २१०, प्र० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

युक्त होता है, इसलिये सम्बन्धवाचक षष्ठी विभक्ति भी विशेषण शब्द के साथ ही आती है। बाद में यह सम्बन्ध विशेषण तथा विशेष्य दोनों में रहने के कारण विशेष्य के साथ भी इसका योग है, यह जाना जाता है।

विशेष्य वाचक पुरुष आदि पद प्रतिपदिकार्थ मात्र का बोधक होने से उसमें प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रसंग में काशिका वृत्ति की न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि ने कहा है कि सम्बन्ध यद्यपि द्विष्ठ अर्थात् दोनों में रहनेवाला है, तथापि (प्रत्येक स्थल में) उस सम्बन्ध के एक होने के कारण एक सम्बन्धी (विशेषण रूप) में उत्पद्यमान षष्ठी विभक्ति के द्वारा वह सम्बन्ध अभिहित हो जाने से द्वितीय सम्बन्धी (विशेष्य रूप) में षष्ठी नहीं होती। एक सम्बन्धी में षष्ठी विभक्ति उत्पन्न होते समय भी विशेषण में ही षष्ठी होती है, न कि विशेष्य में। विशेष्यवाचक शब्द में तो प्रथमा विभक्ति ही होती है। कारण यह 'शेष शब्द जैसे प्रकरण प्राप्त पुरुष आदि की अपेक्षा अन्य विशेषण को बतलाता है, उसी प्रकार 'परार्थ' को भी बतलाता है। ज्ञानी लोग इस प्रकार उपदेश करते हैं कि 'शेषः परार्थः' अर्थात् जो 'शेष' होता है वह दूसरे के लिये होता है। 'राज्ञः पुरुषः'—राजा का पुरुष—यह स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का उदाहरण है। यहाँ 'पुरुष' के विशेष्य होने के कारण प्रधानता है। 'राजा' विशेषण होने से अप्रधान है। 'विशेषण' परार्थ होने के कारण उसका शेषभाव (शेषत्व) है, अतः उसमें (अर्थात् उसके वाचक शब्द में) षष्ठी विभक्ति होती है[2]।

---

१. राज्ञः पुरुषस्तिष्ठतीत्यादौ पुरुषशब्दो हि प्रतिपदिकार्थमात्रवृत्तिः—तत्त्वबोधिनी, ६७३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. सम्बन्धश्च यद्यपि द्विष्ठस्तथापि तस्यैकत्वादेकत एव सम्बन्धिन उत्पद्यमानया विभक्त्याऽभिहितत्वात् द्वितीयसम्बन्धिनः षष्ठी न भवति। एकस्मादुत्पद्यमाना षष्ठी विशेषणादेव भवति न विशेष्यात्। विशेष्यात्तु प्रथमैव भवति, यस्माच्छेषशब्दो यथा प्रकृतादन्यविशेषणभाचष्टे तथा परार्थमपि। एवं हि अभियुक्ताः पुरुषा उपदिशन्ति—'शेषः परार्थं इति'। राज्ञः पुरुष इति स्वस्वामिभावसम्बन्धस्योदाहरणम्। अत्र पुरुषस्य प्राधान्यं विशेष्यत्वात्। राज्ञोऽप्राधान्यं विशेषणत्वात्। विशे

पदमञ्जरी में हरदत्त जी ने कहा है कि केवल 'राज्ञः'—राजा का—ऐसा पर अनियतप्रतियोगिक सम्बन्धित्व प्रतीत होता है, 'पुरुष' पद उच्चरित पर सविशेष की प्रतीति होती है कि राजा का (अमुक) व्यक्ति। व अनियत (विशेष्य) पुरुष रूप प्रतिपादिक की अपेक्षा पहले ही न्य के आधार पर विशेषण में षष्ठीं होती है[1]।

जब राजा को विशेष्य के रूप से विवक्षा की जाती है तब 'पुरुषस्य '—पुरुष का राजा—इस प्रकार वाक्य का प्रयोग होगा ही।[2]

शब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्टजी के मतानुसार षष्ठी विभक्त्यर्थ का संसर्ग-या ही भान अर्थात् ज्ञान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि षष्ठ्यर्थ न्ध का शाब्दबोध में भान होने के समय उस सम्बन्ध के लिये फिर से किसी सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। नागेश भट्टजी के मतानुसार कविभक्तिओं से भी क्रिया कारकभाव अर्थात् कर्त्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व दि का भी संसर्ग विधया भान होता है[3]। इस सिद्धान्त में श्रीबाल शास्त्री की सम्मति का उल्लेख करते हुए उसके समर्थन में महाभाष्यकार का ा विशेषणम्, पुरुषो विशेष्यः' इस कथन से शब्देन्दुशेखर की 'वरवर्णिनी' में 'इति तत्त्वविदः' ऐसा कह कर बताया गया है कि सम्बन्ध का त्व' मानने पर महाभाष्यकार सम्बन्ध को विशेष्य या विशेषण के रूप से

परार्थत्वात् शेषभाव इति ततः षष्ठी भवति—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २१ प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

१. राज्ञ इति केवलपद उच्चार्यमाणे सम्बन्धित्वमनियतप्रतियोगिकमवगम्यते, पुरुष-पदसन्निधौ तु सविशेषस्य प्रतीतिरित्येतावत्, ततश्च अनियतं स्वमपेक्ष्य प्रथममेव सम्बन्धाश्रया षष्ठी भवति—पदमञ्जरी (काशिका, भाग २), पृ० २११, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

२. यदा तु पुरुषनिरूपितसेव्यत्वसम्बन्धवान् राजेत्यर्थविवक्षा तदा पुरुषशब्दादपि षष्ठी भवत्येव पुरुषस्य राजेति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७२, पूर्वोक्त संस्करण।

३. षष्ठ्यर्थस्य संसर्गविधयैव भानम्। कारकविभक्तिभ्योऽपि क्रियाकारकभावस्य संसर्ग-विधया भानमित्युक्तम्—लघुशब्देन्दु', पृ० ७५, गुरु प्र० शास्त्री संस्करण।

कहते[1]।

'षष्ठी शेषे' सूत्र में जो 'शेष शब्द से सम्बन्ध बोधित होता है, उसके बारे में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के साधनकाण्ड में कहा है

'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः।
श्रुतायामश्रुतायां वा क्रियायां सोऽभिधीयते॥'

अर्थात् सम्बन्ध क्रिया कारक पूर्वक है, इसलिये वह कारकों से भिन्न है। वाक्य में क्रिया श्रुत हो या अश्रुत हो, वह सम्बन्ध षष्ठी विभक्ति के द्वारा अभिहित होता है। इस श्लोक में जो 'क्रियाकारकपूर्वकः' पद है उसकी व्याख्या नागेश भट्टजी ने महाभाष्य को प्रदीपोद्योत टीका में की है 'स्वत्व... दानादिक्रियाकारकत्व पूर्वक इत्यर्थः[2]। अर्थात् महाभाष्य में 'स्वत्व' उत्पन्न होने के लिये जो चार हेतु कहे गये हैं—क्रय, अपहरण, याच्ञा और विनिमय[3]—उनमें से किसी एक क्रिया का जनकत्व रूप कारकत्व है... उसका फलस्वरूप 'स्वत्व' उत्पन्न होता है। 'स्वत्व' के हेतुभूत महाभाष्य... उल्लिखित चार प्रकार क्रिया भी उपलक्षण के रूप से समझना। ... मनुसंहिता में—

'सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥'

इस वचन से अर्जित धन में 'स्वत्व' उत्पन्न होने के लिये महाभाष्य... उल्लिखित कारणों से कुछ और भी अधिक कारण बतलाये गये हैं।

अतएव यह देखा जाता है कि फलीभूत, 'स्वत्व' रूप 'शेष' सम्बन्ध... उसका कारणीभूत 'क्रियाकारकत्व' सम्बन्ध एक नहीं है[4]। कारण...

---

१. अतएव 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र राजा विशेषणम् पुरुषो विशेष्यः' इत्युक्तं षष्ठी शेषे... सूत्रे भाष्ये। सम्बन्धस्य प्रकारत्वे तु सम्बन्धं विशेष्यतया विशेषणतया वा ... तत्त्ववदः—वरवर्णिनी, (लघुशब्देन्दु), पृ० ७४६, पूर्वोक्त संस्करण।

२. उद्योत (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५१८, नि० सा० प्रेस संस्करण।

३. यदेतत् स्वं नाम चतुर्भिरेतत्प्रकारैर्भवति—क्रयणाद्, अपहरणाद्, याच्ञा... विनिमयादिति—महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ५१९, नि० सा० प्रेस संस्करण।

४. क्रियाकारकसम्बन्धः कारणं शेषसम्बन्धस्तु फलभूतः—त्तिदरियमाला (लघु... पृ० ७४६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

र्थं में अन्तर तो होता ही है। इसलिये भर्तृहरि के 'सम्बन्धः कारकेभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः,—इत्यादि श्लोक में क्रियाकारकत्व सम्बन्ध को पूर्व अर्थात् कारण कहा गया है।

अतः 'क्रियाकारकभाव' को ही 'षष्ठी शेषे' सूत्रस्थ 'शेष' पदार्थ सम्बन्ध मानना अनुचित है[1]।

यह ,शेषे' षष्ठी वाक्य में क्रियापद श्रुत होने पर अथवा श्रुत न होने पर दोनों स्थिति में ही ज्ञात होता है। 'राज्ञः पुरुषः'—राजा का पुरुष—इस वाक्य में क्रिया पद सुनाई नहीं पड़ता है। 'मातुः स्मरति'—मातृसम्बन्धी स्मरण[2] करता है—इस वाक्य में क्रियापद सुनाई पड़ता है। इस स्थल में स्मरण क्रिया का जो वास्तविक कर्मत्व वर्त्तमान है उसकी विवक्षा न करके स्मरण के लिये माता का विशेषणभाव ही प्रतिपादित किया जाता है, यथा—मातृसम्बन्धी स्मरण[3] (करता है)।

६०७ षष्ठी हेतुप्रयोगे। (२-३-२६)

हेतुशब्दप्रयोगे हतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।

अनुवाद तथा विवृत्ति। हेतु का प्रयोग होने पर षष्ठी हो—'हेतु' शब्द का प्रयोग होने पर तथा हेतुत्व द्योतित होने पर[4] (हेतुवाचक शब्द में[5]) षष्ठी हो। उदाहरण—अन्नस्य हेतोर्वसति—अन्न के कारण निवास करता

---

१. एतेन क्रियाकारकभाव एव सम्बन्धत्वेन विवक्षित इत्यन्याय्यम्—उद्योत (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५१८,

२. मातृसम्बन्धि स्मरणमिति—प्रदीप (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५१८, पूर्वोक्त संस्करण।

३. मातुः स्मरतीत्यादौ तु श्रूयमाणे क्रियाशब्दे सदपि कर्मत्वमविवक्षित्वा विशेषणभाव एव स्मरणं प्रति मातुः प्रतिपाद्यते—मातृसम्बन्धिस्मरणमिति—प्रदीप (महाभाष्य, खण्ड २)

४. हेतुत्वे द्योत्ये इत्यर्थः—बालमनोरमा, पूर्वोक्त संस्करण। पृ० ६७८, म० म० गिरिधर—शर्मा संस्करण।

५. हेतुशब्दाद् षष्ठीति फलितम्—बालमनोरमा, पृ० ६७८, पूर्वोक्त संस्करण।

है। इस सूत्र में 'हेतौ' (२-३-२३) सूत्र से 'हेतौ' इसकी अनुवृत्ति है। अतः 'हेतौ" तृतीया यहाँ प्राप्त है। उसकी बाधा करके इस सूत्र से षष्ठी होती है।[1] सूत्रे में जो 'हेतु' है उसका "हेतुशब्द" ऐसा अर्थ किया गया है। कारण शब्दोच्चारणरूप प्रयोग शब्द का धर्म है। इसलिये सूत्रस्य 'हेतुप्रयोग' शब्द का 'हेतुशब्द' प्रयोग ऐसा अर्थ किया गया है।[2]

नागेश भट्ट जी ने इस सूत्र की व्याख्या-प्रसंग में शब्देन्दुशेखर में कहा है कि हेतुहेतुमद्भावसम्बन्ध से दूसरे का अन्वय होने पर हेतुवाचक शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है।[3] लघुशब्देन्दुशेखर की वरवर्णिनी टीका में नागेश भट्टजी के इस कथन का आशय स्पष्ट किया गया है कि वास्तव में हेतु रहने पर भी हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध से जब अन्वय होता है तभी हेतुवाचक शब्द में षष्ठी विभक्ति होती है। यथा 'अन्नस्य हेतोः वसति'—अन्न के कारण निवास करता है। 'हेतुहेतुमद्भाव' से अन्वय न होने पर षष्ठी नहीं होती है। यथा—'अन्नं हेतुं पश्य'—अन्नरूप हेतु को देखो। पूर्व 'अन्नस्य हेतोः वसति' वाक्य में निवास क्रिया के प्रति अन्न हेतु है, अन्न के साथ निवास क्रिया का हेतुहेतुमद्भाव से अन्वय हुआ है। द्वितीय 'अन्नं हेतुं पश्य'—वाक्य में दर्शन क्रिया का अन्न के साथ 'कर्मत्व' सम्बन्ध है, हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध नहीं। अतः अन्नं हेतुं पश्य'—'अन्नरूप हेतु को देखो' इस वाक्य में 'हेतु' शब्द का प्रयोग होने पर भी 'हेतु' शब्द मे षष्ठी नहीं हुई, परन्तु 'पश्य' पद से जो दर्शन क्रिया का बोध होता है, उसका कर्म होने से 'हेतु' में कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है, और उसके साथ तादात्म्य से 'अन्न' में भी द्वितीया विभक्ति हुई है।

---

१. 'हेतौ' इति तृतीयायां प्राप्तायामनेन षष्ठी—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७४, (म० गिरिधर शास्त्री संस्करण।

२. प्रयोगस्य शब्दधर्मत्वाद् हेतुरित्यनेन हेतुशब्द एव विज्ञायते—प्रयोगस्य शब्दधर्मत्वादेवमुक्तम्—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १८२ पदमञ्जरी (काशिका भाग २), पृ० १८२.

३. हेतुहेतुमद्भावेनेतरान्वये इत्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४७, गु० प्र० संस्करण।

सूत्र में 'हेतुप्रयोगे' ऐसा क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी टीका में कहा गया है कि 'अन्नेन वसति'—अन्न के हेतु निवास करना है—इस वाक्य में 'अन्न' निवास का हेतु होने पर भी इस वाक्य में 'हेतु' शब्द का प्रयोग न होने से 'अन्न' शब्द में षष्ठी नहीं हुई, किन्तु हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है।[1]

फिर भी सूत्र की व्याख्या में भट्टोजी दीक्षित ने 'हेतौ द्योत्ये'—हेतुत्व द्योतित होने पर—ऐसा क्यों कहा है ? इसके उसके उत्तर में बालमनोरमा टीका में कहा गया है कि 'अन्नस्य हेतोस्तुभ्यं नमः' अन्न के कारण तुमको नमस्कार—इस वाक्य में 'युष्मत्' शब्द में षष्ठी नहीं हुई है, कारण 'युष्मत्' शब्द से हेतुत्व का बोध नहीं होता है।[2]

६०८ सर्वनाम्न स्तृतीया च (२-३-२०)

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च ।

अनुवाद तथा विवृति—सर्वनाम शब्द में तृतीया विभक्ति भी (होगा)। सर्वनाम तथा हेतुशब्द का प्रयोग होने से तथा हेतु अर्थात् हेतुत्व द्योतित होने से सर्वनाम तथा हेतु शब्द में[3] तृतीया और षष्ठी विभक्तियाँ (विकल्प से) होंगी।

उदाहरण—केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः—किस कारण से निवास करता है।

इस सूत्र में भी पूर्वसूत्र के समान 'हेतौ द्योत्ये'—इसका 'हेतुहेतुमद्भावेने-

---

१. हेतुप्रयोगे किम् ? अन्नेन वसति—तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा, पृ० ६७४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अन्नस्य हेतोस्तुभ्यं नमः। अत्र युष्मच्छब्दान्न भवति—बालमनोरमा, पृ० ६७४, पूर्वोक्त संस्करण।

३. कस्माद् भवतीत्यपेक्षायां अर्थात् सर्वनामहेतुभ्यामिति सम्बध्यते—तत्त्वबोधिनी पृ० ६७५, पूर्वोक्त संस्करण। कस्माद्भवतीत्यपेक्षायां सर्वनामहेतुभ्यामिति गम्यते—बालमनोरमा, पृ० ६७४, पूर्वोक्त संस्करण।

तरान्वये[1]"—हेतुहेतुमद्भावसे दूसरे का अन्वय होने से—ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

'निमित्तपर्य्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' (वा १४७३)। किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय इत्यादि। एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनम् इत्यादि।'

अनुवाद तथा विवृति—'निमित्त' अर्थात् हेतु के पर्य्याय शब्द के प्रयोग से सब विभक्तिओं का प्रायशः दर्शन होता है। उदाहरण—किं निमित्तं वसति—किस कारण से निवास करता है। 'केन निमित्तेन', 'कस्मै निमित्ताय' इत्यादि किस कारण से, किस कारण के लिये—इत्यादि। यहाँ इत्यादि शब्द से अन्याय विभक्तियों का प्रयोग समझना चाहिये। यथा पातञ्जल महाभाष्य में 'कस्मान्निमित्ताद् वसति। कस्य निमित्तस्य वसति। कस्मिन् निमित्ते वसति[2]।'—किस कारण से निवास करता है—किस कारण से सम्बन्धित निवास करता है—किस कारण के रहने पर निवास करता है—ये सब अन्यान्य विभक्तियों के प्रयोग के उदाहरण बतलाये गये हैं।

पूर्वोल्लिखित 'किं निमित्तं वसति'—यह उदाहरण प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के प्रयोग के हैं।

महाभाष्य में यह वार्त्तिक किञ्चित् भिन्न रूप में पठित हुआ है। वहाँ पर 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्'—इस प्रकार पाठ है। काशिकावृत्ति में भी वार्त्तिक का यही पाठ है।

भट्टोजीदीक्षित प्रोक्त वार्त्तिक में 'पर्य्याय' का उल्लेख है। पर्य्याय का सामान्यलक्षण है—'भिन्नानुपूर्वीकत्वे सति एकार्थप्रतिपादकत्वं पर्य्यायत्वम्' अर्थात् आनुपूर्वी भिन्न होते हुए एकार्थप्रतिपादक शब्दों को पर्य्यायशब्द कहते

---

१. हेतुहेतुमद्भावेनेतरान्वये इत्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४७, गु० प्र० संस्करण)

२. महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ५०४, नि० सा० प्रेस संस्करण।

जाता है। यथा 'घट' का पर्य्याय शब्द 'कलश' है। 'घट' को आनुपूर्वी 'घकारोत्तराकारोत्तरटकारोत्तरात्व' अर्थात् घकार के बाद अकार के बाद टकार के बाद अत्व 'घट' शब्द की (घ् + अ + ट् + अ) आनुपूर्वी है, और 'कलश' शब्द की आनुपूर्वी 'ककारोत्तराकारोत्तरलकारोत्तराकारोत्तरशकारोत्तरात्व' है—अर्थात् ककार के बाद अकार के बाद लकार के बाद अकार के बाद शकार के बाद अत्व 'कलश' शब्द की (क् + अ + ल् + अ + श् + अ) आनुपूर्वी है।

आनुपूर्वी का विशेष लक्षण 'तद्भिन्नत्वे सति तत्प्रतिपाद्यार्थप्रतिपादकत्वं तदानुपूर्वीकत्वम्, यथा घटभिन्नत्वे सति घटप्रतिपाद्यार्थप्रतिपादकत्वं कलशशब्दस्य घटानुपूर्वीकत्वम्'— अर्थात् 'घट' शब्द से भिन्न होते हुए 'घट' शब्दप्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादकत्व 'कलश' शब्द में है। वही 'कलश' शब्द में घटानुपूर्वीकत्व अर्थात् घट की आनुपूर्वी है।

'एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनम् इत्यादि'

अनुवाद तथा विवृति—इसी प्रकार किं कारणम्', कौन कारण, 'को हेतुः'—कौन हेतु, 'किं प्रयोजनम्'—कौन प्रयोजन—इत्यादि स्थलों में भी प्रथमा से लेकर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हो सकता है—ऐसा समझना चाहिये।[1]

'प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः, ज्ञानाय निमित्ताय इत्यादि।'

अनुवाद तथा विवृति—'निमित्तपर्य्यायप्रयोगे--' इत्यादि वार्त्तिकसूत्र में 'प्रायशः' अर्थ में 'प्राय' शब्द का प्रयोग करने से सर्वनाम से अतिरिक्त शब्दों के प्रयोगस्थल में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति नहीं होती। जैसे 'ज्ञानेन निमित्तेन-हरिः सेव्यः', 'ज्ञानाय निमित्ताय' इत्यादि—ज्ञान के कारण (भगवान्) हरि सेव्य हैं, ज्ञान के लिये हरि सेव्य हैं—इत्यादि।

इसी प्रकार 'निमित्त' आदि असर्वनाम शब्द के प्रयोग से अन्यान्य

१. इत्यदिति—कस्मान्निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन्निमित्ते—बालमनोरमा, पृ० २७५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

विभक्तियाँ भी होती हैं—यह बात भट्टोजी दीक्षित की 'ज्ञानाय निमित्ताय इत्यादि' इस पंक्ति के 'इत्यादि' शब्द से कही गयी है। अर्थात् 'ज्ञानात् निमित्तात्', 'ज्ञानस्य निमित्तस्य', 'ज्ञाने निमित्ते — इस प्रकार प्रयोग उपलब्ध होने पर समर्थन किया जा सकता है।

पातञ्जल महाभाष्य में किञ्चित भिन्नरूप से पठित 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्'—इस वार्तिक में स्थित 'प्राय' शब्द का तात्पर्य व्याख्या करते हुए प्रदीप टीका में आचार्य कैयट ने भी पूर्वोक्त निमित्त आदि असर्व-नाम शब्द के प्रयोग स्थल में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति को छोड़कर अन्य सब विभक्ति यों का जहाँ तक उपलब्ध होता है, हो सकता है—इस सिद्धान्त को प्रकट किया है[1]।

६०९ षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन (२–३–३०)

एतद्योगे षष्ठी स्यात्। 'दिक्शब्द' (सू ५९५) इति पञ्चम्या अपवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः पुरस्ताद उपरिष्टात्।

अनुवाद तथा विवृति—'अतसुच्' प्रत्यय का अर्थ जिन प्रत्ययों का है तदन्त शब्द के याग से षष्ठी हो।

इसके साथ योग या सम्बन्ध होने पर षष्ठी हो। भट्टोजी दीक्षित की विवृति में 'एतद्योगे' पद का अर्थ है 'अतसुच' प्रत्यय के अर्थवाले प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में हैं, उनके साथ योग या अन्वय होने पर षष्ठी विभक्ति हो। 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' (२–३–२९) सूत्र में उल्लिखित 'दिक्शब्द' (दिशि दृष्टः शब्दः) के योग से विहित पञ्चमी विभक्ति के विधायक सूत्र का यह (षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन) सूत्र अपवाद है। उदाहरण—'ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात्'। पाँच उदाहरण वाक्यों का संक्षेप में एक साथ उल्लेख किया गया है। अर्थात् (१) 'ग्रामस्य दक्षिणतः', (२) 'ग्रामस्य पुरः', (३) ग्रामस्य पुरस्तात् (४)

---

१. तत्र प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न भवतोऽन्यास्तु यथादर्शनं भवन्ति—प्रदीप (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५०५, नि० सा० प्रेस संस्करण।

'ग्रामस्य उपरि', (५) 'ग्रामस्य उपरिष्टात्'—ये पाँच उदाहरण वाक्य हैं। इन उदाहरण वाक्यों में 'अतसर्थ' प्रत्ययान्त शब्दों के योग से 'ग्राम शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई है। (१) 'ग्रामस्य दक्षिणतः'—इस वाक्य का 'ग्राम की दक्षिण दिशा मे'—यह अर्थ है। (२) 'ग्रामस्य पुरः'—इस वाक्य का अर्थ है—ग्राम की पूर्व दिशा में, (३) ग्रामस्य पुरस्तात्—इस वाक्य का भी ग्राम की पूर्व दिशा में—यह अर्थ है। (४) 'ग्रामस्य उपरि' तथा (५) ग्रामस्य उपरिष्टात्'— इन दोनों वाक्यों का 'ग्राम की ऊपर दिशा में अर्थ है।

'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी पञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५–३–२७) इस सूत्र से लेकर 'आहि च दूरे' (५–३-३७) तथा 'उत्तराच्च' (५–३–३८) तक सूत्रों से दिक्, देश तथा कालवाचक शब्दों से स्वार्थ में कतिपय प्रत्यय विहित हुए हैं। उन सूत्रों में 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (५–३–२८) सूत्र से जो 'अतसुच्' प्रत्यय विहित हुआ है उसका दिक्, देश तथा काल अर्थ है। वही दिक्, देश तथा काल जिस प्रत्यय का अर्थ है वह प्रत्यय अतसर्थ प्रत्यय कहलाता है। वह 'अस्ताति' आदि पांच प्रत्यय हैं। उस अतसर्थ—प्रत्ययान्त शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति होती है[1]। 'अस्ताति' आदि पांच प्रत्यय ये हैं— 'अस्ताति', 'अतसुच्', 'आति', 'आच्' तथा 'आहि'। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में जहाँ 'अस्ताति' प्रभृति पांच प्रत्यय उल्लिखित हैं वहाँ 'अतसुच्' प्रत्यय का उल्लेख 'अस्ताति' प्रत्यय के बाद ही किया गया है। तदनुसार 'षष्ठ्यत-सर्थप्रत्ययेन' ऐसा सूत्र न कहकर 'षष्ठ्यस्तात्यर्थप्रत्ययेन' इस प्रकार ही सूत्र कहना चाहिये था। फिर भी लाघव के अनुसार 'अस्तात्यर्थ' न कहकर

१. 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिगदेशकालेष्वस्तातिः' इत्यारभ्य 'आहि च दूरे' 'उत्तराच्च' इत्यन्तैः सूत्रैर्दिग्देशकालवृत्तिभ्यः शब्देभ्यः स्वार्थे प्रत्यया विहिताः। तत्र 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' इति विहितोऽतसुच्प्रत्ययः, तस्यार्थो दिग्देशकाल-रूपः, स एवार्थो यस्य सोऽतसर्थप्रत्ययः, तद्योग इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६७५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' इत्यस्य योऽर्थो दिग्-देशकालरूपः सोऽर्थो यस्य प्रत्ययस्य सोऽतसर्थप्रत्ययः, अस्तातिप्रभृतयः पञ्च, तदन्तेन योग इत्यर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७५, पूर्वोक्त संस्करण।

'अतसर्थं' कहा गया है। संयुक्ताक्षर घटित होने के कारण 'अतसर्थं' की अपेक्षा 'अस्तात्यर्थं 'में गौरव है'[1]।

सूत्र में 'अर्थं' शब्द कहने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न को उठाकर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उत्तर में कहा है कि 'षष्ठ्यतसुप्रत्ययेन' ऐसा सूत्र कहने पर 'दक्षिणतो ग्रामस्य', 'उत्तरतो ग्रामस्य'—ऐसे 'अतसुच्' प्रत्ययान्त शब्दों के ही योग से षष्ठी होगी, 'उपरि ग्रामस्य', 'उपरिष्टाद् ग्रामस्य'—ऐसे स्थलों में षष्ठी नहीं हो पाती, कारण यहाँ 'अतसुच्' प्रत्ययान्त शब्द का योग नहीं है। सूत्र में 'अतसर्थं' शब्द में 'अर्थं' का ग्रहण किये जाने पर 'उपरि ग्रामस्य' 'उपरिष्टाद् ग्रामस्य' इत्यादि वाक्यों में 'ग्रामस्य' में षष्ठी विभक्ति हो सकती है, क्यों कि 'उपरि' तथा 'उपरिष्टात्' शब्द 'अतसुच्' प्रत्ययान्त न होने पर भी 'अतसर्थं' प्रत्ययान्त हैं 'उपरि' तथा 'उपरिष्टात्' शब्द 'अस्ताति' प्रत्यय के अर्थं में 'उपर्युपरिष्टात्' (५-३-३१) सूत्रानुसार निपातन सिद्ध हैं। 'ऊर्द्ध्व' शब्द के साथ अस्तात्यर्थं में निपातन से यथाक्रम 'रिल्' तथा 'रिष्टातिल्' प्रत्यय जोड़ने से 'ऊर्द्ध' शब्द का 'उप' के रूप में परिवर्त्तन होकर 'उपरि' तथा 'उपरिष्टात्'—ये दोनों पद बनते हैं।

'षष्ठ्यतसर्थंप्रत्ययेन' सूत्र में 'प्रत्यय' शब्द क्यों कहा गया है ? 'अतसुच्' तो प्रत्यय होता ही है। प्रश्न का अभिप्राय यह है कि 'अतसुच्' तो एक प्रत्यय है; अतः 'षष्ठ्यतसर्थेन' इस प्रकार संक्षिप्त सूत्र कहने से ही 'अतसर्थं प्रत्ययेन' ऐसा अर्थं समझा जा सकता है। आचार्य कैयट ने भी 'षष्ठ्यतसर्थ

---

१. यद्यप्यतसर्थंप्रत्ययेषु अस्तातिरेव प्रथमः, तथापि लाघवादतसर्थेत्युक्तम् संयुक्ताक्षर घटितत्वेन गौरवात्—बालमनोरमा, पृ० ६७५, पूर्वोक्त संस्करण। अतसुचोऽस्ता त्यनन्तरत्वेऽपि रपि लाघवानुरोधोन अस्तात्यर्थेति नोक्तम् इत्याहुः। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण।

२. अर्थंग्रहणं किमर्थंम् ? 'षष्ठ्यतस्प्रत्ययेन' इत्युच्यमाने—इहैव स्यात्—दक्षिणतो ग्रामस्य उत्तरतो ग्रामस्येति, इह न स्यात्—उपरि ग्रामस्य उपरिष्टाद् ग्रामस्येति। अर्थंग्रहणे च क्रियमाणे अतस्प्रत्ययेन च सिद्धं भवति—यश्च अन्यस्तत्समानार्थः। महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ५०८-५०९, नि० सा० प्रेस संस्करण।

प्रत्ययेन' सूत्रभाष्य की व्याख्याप्रसंग में कहा है 'अतस्‌शब्दः प्रत्ययत्वं न व्यभिचरति'।[1] अर्थात् 'अतस्' शब्द में 'प्रत्ययत्व' है ही, यानी 'अतस्' शब्द प्रत्यय होता ही है। इस सूत्र की काशिकावृत्ति की व्याख्याप्रसंग में आचार्य हरदत्तजी ने पदमञ्जरी टीका में कहा है कि यद्यपि 'नञ्' पूर्वक 'तस्' धातु से (तसु उपक्षये–दिवादि) 'क्विप्' प्रत्यय जोड़कर 'अतस्' शब्द बन सकता है और वह 'अतसुच्' 'प्रत्यय नहीं है फिर भी सूत्र में 'अतस्' शब्द प्रत्यक्षरूप से सुनाई पड़ने से 'प्रत्यया-प्रत्यय—'परिभाषा से 'प्रत्यय' का ही ग्रहण होता है। अन्त में 'प्रत्यया प्रत्यय'—परिभाषा से 'प्रत्यय' का ही ग्रहण होता है। अन्त में 'प्रत्यया प्रत्यय'—परिभाषा का उल्लेख करके आचार्य कैयट ने कहा है कि सूत्र में 'प्रत्यय' शब्द का उल्लेख व्यर्थ है[2]।

इसके उत्तर में महाभाष्य में तथा प्रदीप टीका में कहा गया है कि सूत्र में प्रत्यय ग्रहण का यह फल है कि 'प्राग् ग्रामात्'—ग्राम की पूर्व दिशा में, 'प्रत्यग् ग्रामात्'—ग्राम की पश्चिम दिशा में—इत्यादि प्रयोग में, जहाँ 'प्राङ्', 'प्रत्यक्', आदि शब्द में अतसर्थ प्रत्यय लुप्त होने से सुनाई नहीं देता, षष्ठी विभक्ति नहीं होगी।[3] तत्त्वबोधिनी टीकामें भी यही उत्तर बताया गया है। वहाँ पर प्रदीप टीका में उक्त कैयटोक्त युक्ति भी उल्लिखित है।[4]

---

१. महाभाष्य प्रदीप (खण्ड २), पृ० ५०७, पूर्वोक्त संस्करण।

२. अत्र तस्यतेर्नञ्पूर्वस्य क्विपि अतसितिरूपसम्भवेऽपि प्रत्यक्षश्रुतत्वात् प्रत्यया प्रत्ययपरिभाषया च प्रत्ययस्यैव ग्रहणमिति सिद्धं नार्थः प्रत्ययग्रहणेन—पदमञ्जरी (काशिका, भाग २), पृ० १८८ प्रा० भा० प्रकाशन।

३. अथ प्रत्ययग्रहणंकिमर्थम् ? इह मा भूत्-प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् गामात्—महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ५०७, नि० सा० प्रेस संस्करण।

प्रत्ययग्रहणमधिकं क्रियमाणं श्रूयमाण-प्रत्ययग्रहणार्थं विज्ञास्यत इति लुप्तेऽस्तातौ षष्ठ्यभाव;—प्रदीप (महाभाष्य, खण्ड२), पृ० ५०७, पूर्वोक्त संस्करण।

४. प्रत्ययग्रहणं किम्, इह मा भूत्—प्राग् ग्रामात्। प्रत्यग् ग्रामात्। कृतेऽपि प्रत्यय-ग्रहणे कुतो नेति चेत् ? अत्राहुः कैयटादयः—प्रत्ययग्रहणमधिकं क्रियमाणं श्रूय-माणप्रत्ययग्रहणार्थं विज्ञास्यत इति लुप्तेऽस्तातौ षष्ठ्यभावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७६ पूर्वोक्त संस्करण।

प्रदीप टीका का आशय व्यक्त करते हुए नागेशभट्टजी ने उद्योतटीका में कहा है कि प्रत्यय लुप्त होने पर भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इस परिभाषा से 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्दों को 'अस्ताति' प्रत्ययान्त माना जा सकता है। इस पर भी सूत्र में 'प्रत्यय' शब्द का ग्रहण करने से यह समझा जाता कि जहाँ 'अतसर्थ' प्रत्यय प्रत्यक्ष सुनाई पड़ता है वहीं षष्ठी विभक्ति होगी, अन्यत्र नहीं।[1]

मनोरमा टीका में इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग में सूत्रस्य 'प्रत्यय' ग्रहण चिन्त्यप्रयोजन बतलाया गया है।

६१० एनपा द्वितीया (२–३–३१)

एनवन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। 'एनपा' इति योगविभागात् षष्ठी। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा।

अनुवाद तथा विवृति—'एनप्' अर्थात् 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्द के योग से द्वितीया हो।

'एनबन्त' अर्थात् 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्द के योग से द्वितीया विभक्ति हो।

'एनप्' प्रत्यय अतसर्थक होने से[2] 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' (२–३–३०) सूत्र से प्राप्त षष्ठी की इस सूत्र से नित्य बाधा[3] प्राप्त हो जाने पर 'एनपा' इस प्रकार से 'योग' या सूत्र का प्रथम विभाग किया जाता है[4] 'षष्ठ्यतसर्थ'—इत्यादि पूर्वसूत्र से 'षष्ठी' की अनुवृत्ति होती है। तब 'एनपा' ...

१. लुप्तेऽपि प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययान्तत्वमस्त्येवेत्यत आह प्रत्ययग्रहणमिति—उद्योत (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५०७, पूर्वोक्त संस्करण।

२. एनपोऽतसर्थत्वात्—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १८१, प्रा० भा० प्रकाशन

३. 'षष्ठ्यतसर्थ—' इति षष्ठ्या नित्यं बाधे प्राप्ते आह योगविभागादिति—मनोरमा, पृ० ६७६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

४. एनपेति पृथग् योगः कर्त्तव्यः, एनपा षष्ठी यथा स्यात्; अन्यथा हि द्वितीयया बाध्येत—न्यास, पृ० १८१, पूर्वोक्त संस्करण। एनपेति योगो विभज्यते—मनोरमा, पृ० ६७६, पूर्वोक्त संस्करण।

'योग' या सूत्र का अर्थ होता है—'एनप्' प्रत्ययान्त शब्द के साथ अन्वय होने पर षष्ठी विभक्ति हो।

योगविभाग करने पर 'द्वितीया' यह दूसरा 'योग' या सूत्र होता है।[1] इस द्वितीय 'योग' या सूत्र में 'एनपा' इसकी अनुवृत्ति होती है। तब 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्द के योग से द्वितीया विभक्ति हो, यह अर्थ होता है।

उदाहरणार्थं 'दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा'—ग्राम की दक्षिण ओर समीप में—यह वाक्य कहा गया है। 'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' (५-३-३५) इस सूत्रानुसार 'दक्षिण' शब्द के साथ 'एनप्' प्रत्यय जोड़ने से 'दक्षिणेन'—ऐसा शब्द बनता है; यह 'दक्षिण' शब्द का तृतीयाविभक्त्यन्त रूप नहीं है।

६११ दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्। (२-३-३४)

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च। दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद् वा।

अनुवाद तथा विवृति—दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों के योग से विकल्प में षष्ठी हो।

इनके साथ योग या सम्बन्ध होने पर षष्ठी विभक्ति हो, पञ्चमी भी। षष्ठी जब नहीं होती है तब 'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८) सूत्र से पञ्चमी की अनुवृत्ति की जाती है।

यद्यपि 'एनपा द्वितीया' (२-३-३१) और 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' (२-३-३२) इन सन्निहित या निकटवर्ती सूत्रों से यथाक्रम द्वितीया तथा तृतीया विभक्ति की अनुवृत्ति की जा सकती है, तथापि व्याकरणसम्प्रदाय की व्याख्यानुसार वह नही की गयी है[2]।

---

१. ततो द्वितीयेति द्वितीयो योगः, अत्र च एनपेति वर्तते—न्यास, पृ० १८१, द्वितीयेति योगान्तरम्। एनपेत्यनुवर्तते—बालमनोरमा, पृ० ६७६।

२. 'एनपा द्वितीया' इति 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीया—इति द्वितीयातृतीये सन्निहिते अपि न समुच्चीयेते व्याख्यानात—बालमनोरमा, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण। इहान्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम्, तेन विप्रकृष्टापि पञ्चमी समुच्चीयते, व्याख्यानात्, न तु सन्निहिते अपि द्वितीयातृतीये—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण।

६१२ ज्ञोऽविदर्थस्य करणे । २–६–५१)

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम्।

अनुवाद तथा विवृति—ज्ञानभिन्नार्थक ज्ञाधातु के करण में (षष्ठी हो)। ज्ञान से भिन्न अर्थवाले 'ज्ञा' धातु के साथ सम्बन्धित करण कारक में शेषत्व विवक्षित होने पर षष्ठी हो। उदाहरण—'सर्पिषः ज्ञानम्'—सर्पि-सम्बन्धी प्रवृत्ति। वास्तव में करणीभूत जो सर्पि अर्थात् घी, उससे सम्बन्धित प्रवृत्ति[1] यह अर्थ है।

सूत्र का पदच्छेद 'ज्ञः अविदर्थस्य' इस प्रकार है।[2]

सूत्र में जो 'ज्ञः' पद है, वह 'ज्ञा' धातु के अनुकरण शब्द की षष्ठी एकवचन में है[3]।

सूत्रस्य 'अविदर्थस्य' पद की व्याख्या इस प्रकार है—'विद्' अर्थात् ज्ञान है अर्थ जिसका, वह 'विदर्थ' है। 'विदर्थ' जो नहीं है, वह अविदर्थ है। जो 'ज्ञानार्थक से भिन्न का'—यह 'अविदर्थस्य' पद का अर्थ है[4]। इस सूत्रस्थ 'ज्ञा' धातु की लक्षणा से ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ है[5]। इस ज्ञान से इष्टसाधनताज्ञान को समझना। 'सर्पिर्मदिष्टसाधनम्' इस प्रकार सर्पिर्विषयक इष्टसाधनताज्ञान होने पर सर्पिर्विषयक प्रवृत्ति होती है।

सूत्र में 'अविदर्थस्य' पद रहने से उस पद का सामर्थ्य रूप लिङ्ग से ही

---

१. वस्तुतः करणीभूतं यत् सर्पिः तत्सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः—बालमनोरमा, ६७७, तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण।

२. अत्र सूत्रे अविदर्थस्येतिच्छेदो व्याख्यानात्—शब्देन्दु० पृ० ७४८ गु० प्र० शा० संस्करण। ज्ञः अविदर्थस्येतिच्छेदः—बालमनोरमा, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण।

३. 'ज्ञ इति ज्ञाधातोरनुकरणात् षष्ठ्येकवचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६७७ पूर्वोक्त संस्करण।

४. विद्–ज्ञानम् अर्थः यस्य स विदर्थः, स न भवतीति अविदर्थः, (तस्य) ज्ञानार्थ-भिन्नस्येति यावत्—बालमनोरमा, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण।

५. ज्ञानपूर्विकायां प्रवृत्तौ जानातेर्लक्षणा—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण।

अवबोधने'—इस धातु का प्रवृत्तिरूप अर्थ में लक्षणा मानी गयी है[1]।

यद्यपि 'षष्ठी शेषे' (२-३-५०) सूत्र से 'सर्पिषो ज्ञानम्' इस वाक्य में 'सर्पिषः' पद में षष्ठी विभक्ति हो सकती है, फिर भी 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इस परिभाषा के अनुसार 'सर्पिषः ज्ञानम्' में समास नहीं होगा, इस बात के लिये अलग से प्रतिपद षष्ठी का सूत्र कहा गया है[2]।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि (२-३-५२)

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ।

अनुवाद तथा विवृति—अधीगर्थ अर्थात् स्मरणार्थक धातु, 'दय' धातु 'ईश' धातुओं के कर्म में (षष्ठी हो) ।

इनके अर्थात् अधीगर्थ (स्मरणार्थक) धातु, 'दय' धातु तथा ईश धातुओं के कर्मकारक में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो ।

उदाहरण—मातुः स्मरणम्—मातृसम्बन्धी स्मरण—वास्तव में कर्मीभूत जो माता तत्सम्बन्धी, स्मरण । सर्पिषो दयनम्—सर्पिः अर्थात् घी का दयन अर्थात् दान । 'दय' धातु का दान, गति, रक्षण, हिंसा तथा आदान (ग्रहण) अर्थ हैं (दय दान गति हिंसादानेषु—बालमनोरमा, पृ० ६७७) । वास्तव में कर्मीभूत सर्पिः सम्बन्धी दयन (दान) । सर्पिषः ईशनम्—सर्पिः अर्थात् घी का यथेष्टविनियोग (ईशन), वास्तव में कर्मीभूत सर्पिःसम्बन्धी विनियोग—यह अर्थ है ।

सूत्रस्थ 'अधीगर्थ' शब्द का अर्थ स्मरणार्थक है । सीधा स्मरणार्थक न कहकर 'अधीगर्थ' कहने का अभिप्राय यह है कि स्मरणार्थक 'इक्' धातु नियमतः से 'अधि' उपसर्गपूर्वक प्रयुक्त होता है, इस बात को ज्ञापित करना[3] ।

---

1. अविदर्थस्येति लिङ्गादेव 'ज्ञा अवबोधने' इति धातोः प्रवृत्तौ वृत्तिः—बालमनोरमा, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण

2. 'षष्ठी शेषे' इति सिद्धेऽपि 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इत्येतदर्थं वचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण ।

3. अधिशब्दोच्चारणम् इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः इति ज्ञापनार्थम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७७, पूर्वोक्त संस्करण ।

सूत्रस्थ 'अधीगर्थ' शब्द का विग्रहवाक्य बालमनोरमा टीका में इस प्रकार दिया गया है—'इक् स्मरणे' नित्यमधिपूर्वः तस्यार्थं इवार्थो यस्य सोऽधीगर्थः स्मरणार्थक इति यावत्—(बालमनोरमा, पृ० ६७७)। अर्थात् 'इक्' धातु का स्मरण अर्थ है और वह नियमितरूप से 'अधि' उपसर्गपूर्वक है, उसके अर्थ के बराबर अर्थ जिसका वह 'अधीगर्थ' अर्थात् स्मरणार्थक।

सूत्र में 'कर्मणि' पद क्यों कहा गया है, इसके उत्तर में तत्त्वबोधिनी टीका में कहा गया है कि 'कारक की शेषत्वविवक्षा में षष्ठी नहीं होगी, यथा—'मातु र्गुणस्मरणम्'—गुण के कारण माता का स्मरण। इसमें 'माता' कर्मकारक है, 'गुण' करण है। दोनों के बारे में शेषत्व विवक्षा करने पर भी 'मातृ' शब्द में ही इस सूत्र से षष्ठी हुई है, 'गुण' में 'शेषे' सूत्रानुसार षष्ठी हुई है। इसलिये 'गुणस्मरणम्' ऐसा समास हुआ है'[1]।

अगर 'मातुर्गुणस्मरणम्' इस प्रयोग में 'गुणस्मरणम्' शेषे षष्ठी होकर प्रतिपद विधान षष्ठी होती तो समास ही नहीं हो सकता।

कारण—'प्रतिपदाविधाना षष्ठी न समस्यते' यह वैयाकरण सिद्धान्त है। परन्तु क्यों प्रतिपदविधान षष्ठी के स्थल में समास नहीं होता है—इसके लिये काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में आचार्य हरदत्त जी ने युक्ति बतलायी है। उन्होंने कहा है कि 'शेषे षष्ठी' इस सूत्र से ही शेषत्व विवक्षा करने पर 'न माषाणामश्नीयात्'—उरद नहीं खाना चाहिये, 'अनुकरोति भगवतो नारायणस्य'—भगवान् नारायण का अनुकरण करता है इत्यादि प्रयोग में कर्म में षष्ठी विभक्ति हो सकती है। तब प्रतिपदविधान षष्ठी का प्रकरण कहने का तात्पर्य अवश्य कुछ होगा। वह तात्पर्य यह है कि प्रतिपदविधान षष्ठी का प्रकरण नियमार्थक है—प्रतिपदविधान स्थल में षष्ठी होती ही है अर्थात् सुनाई पड़ती है, लुप्त नहीं होती। अगर पूछा जाय

---

१. कर्मणि किम्? करणे शेषत्वविवक्षायां मा भूत्। मातुर्गुणस्मरणम्। अत्र कर्म, गुणास्तु करणम्, उभयत्र शेषत्वविवक्षायामपि मातृशब्दादेवानेन सूत्रेण गुणशब्दात्तु 'षष्ठी शेषे' इत्यनेन। तेन गुणस्मरणमिति समासो भवति। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

हने से क्या लाभ है ? उत्तर—समास निवर्त्तित होता है, यथा—स्मरणम् (मातृसम्बन्धीस्मरण) समास करने पर 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' (२-१-७१) सूत्र से षष्ठी विभक्ति लुप्त हो जाती, विभक्ति न और सुनाई नहीं पड़ती। इसलिये समास न करके विभक्ति को ज्यों रखने के लिये 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' ऐसा सिद्धान्त गया है।[1]

कृञः प्रतियत्ने। (२–३–५३)।

प्रतियत्नो गुणाधानम्। कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। कस्योपस्करणम्।

अनुवाद तथा विवृति—प्रतियत्न (गम्यमान) होने पर 'कृ' धातु के षष्ठी हो।

प्रतियत्न का अर्थ है गुणाधान अर्थात् गुण उत्पन्न करा देना। इस सूत्र में काशिकावृत्ति में 'सतो गुणान्तराधानम् प्रतियत्नः' ऐसा कहा गया किसी सत्पदार्थ का गुणान्तराधान अर्थात् एक गुण के स्थान पर दूसरा उत्पन्न करा देना प्रतियत्न कहलाता है। गुणाधान (गम्यमान) होने 'कृ' धातु के कर्मकारक में शेषत्व की विवक्षा करने से षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—'एधोदकस्योपस्करणम्'—(वस्तुतः कर्मीभूत) एधोदक की उपस्करण अर्थात् गुणाधान।

उदाहरण में 'एधोदकस्य' पद समासबद्ध है। 'एधश्च दकं च' इस विग्रहवाक्य से 'एधोदकम्' द्वन्द्वसमास हुआ है। 'एधस्' शब्द सकारान्त नपुंसकलिङ्ग और 'दक' शब्द भी 'उदक'वाची नपुंसकलिङ्ग है।

---

1. ननु शेषत्वेन विवक्षिते पूर्वेणैव सिद्धा षष्ठी, यथा न माषाणामश्नीयात्, अनुकरोति भगवतो नारायणस्येति ? सत्यम्, प्रकरणं तु नियमार्थम्—अस्मिन् विषये षष्ठी भवत्येव श्रूयत एव न लुप्यत इति। किं कृतं भवति ? समासो निवर्त्तितो भवति—मातुः स्मरणमिति। एवं पूर्वसूत्रे परत्र च प्रकरणे सर्वत्र द्रष्टव्यम्। समासे सति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति षष्ठी लुप्येत, तेन प्रतिपदविधानषष्ठी न समस्यत इति सिद्धं भवति।—पदमञ्जरी (काशिका, भाग २), पृ० २१३, प्रा० ना० प्रकाशन, वाराणसी।

दोनों में समास हुआ है। अथवा 'एध' शब्द अकारान्त पुंलिङ्ग, 'एधश्च उदकं च'—ऐसा भी विग्रहवाक्य कहा जा सकता है। 'एधोदकस्योपस्करणम्' इस उदाहरण वाक्य का अर्थ होता है 'लकड़ी तथा पानी से सम्बन्धित दूसरा गुण उत्पन्न करा देना।

६१५ रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः। (२–३–५४)

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा। 'अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम्' (वा १५०३) रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिमित्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृति—'रुजा' अर्थात् पीड़ार्थक अथच 'भाववचन' अर्थात् सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थकर्तृक 'ज्वरि' धातुवर्जित पीड़ार्थक धातुओं (कर्म कारक में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी हो)।

'भावकर्तृक' अर्थात् सिद्धावस्थापन्न धात्वर्थकर्तृक, 'ज्वरि' धातु से भिन्न पीड़ार्थक धातुओं के कर्मकारक में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो।

उदाहरण—'चौरस्य रोगस्य रुजा'—रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी पीड़ा।

सूत्र में 'अज्वरेः' यह पद है। वार्त्तिककारने सूत्र का पूरण करते हुए कहा है कि सूत्रस्थ 'अज्वरेः' पद को हटाकर उसके स्थल में 'अज्वरिसन्ताप्योः' ऐसा कहना चाहिये। तब उदाहरणार्थ 'रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा' ये दोनों वाक्य एक साथ कहे गये हैं। 'रोगस्य चौरज्वरः' वाक्य का अर्थ है—रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी ज्वर। 'रोगस्य चौरसन्तापः' वाक्य का अर्थ है—रोगकर्तृक चोरसम्बन्धी सन्ताप। यहाँ 'चौरज्वरः', 'चौरसन्तापः' पदद्वय में शेषषष्ठी समास हुआ है।

सूत्रस्थ 'भाववचनानाम्' शब्द का 'भाववाचकानाम्' ऐसा अर्थ न कर 'भावकर्तृकाणाम्' अर्थ किया गया है। कारण यह है कि सब धातु ही भाव-वाचक होते हैं, अतः धातुओं के बारे में 'भाववाचक' ऐसा विशेषण व्यर्थ है, चूंकि सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्

व्यभिचार होनेपर विशेषण सार्थक होता है। इसलिये 'वक्तीति वचनः बाहुलकात् कर्त्तरि ल्युट्। प्रकृत्यर्थस्तु न विवक्षितः, नहि भावो वक्ता सम्भवति, तस्मात् प्रत्ययस्य साधुत्वनिर्वाहायैव 'वचि'रिति बोध्यम्'[1]—अर्थात् 'कहता है' इस अर्थ में 'वचन' शब्द आता है। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३-३-११३) सूत्रानुसार कर्तृवाच्य में 'ल्युट्' प्रत्यय है। 'वचन' शब्द की प्रकृति 'वच्' धातु का अर्थ विवक्षित नहीं है, कारण 'भाव' वक्ता नहीं हो सकता। अतः प्रत्यय का साधुत्व निर्वाह के लिये ही 'वच्' धातु है. यह समझना चाहिये—ऐसी व्याख्या 'भाववचन' शब्द की की गयी है। 'भावो वचनः कर्त्ता येषां तेषां भाववचनानाम्' इस प्रकार विग्रह करके बहुव्रीहि समास माना गया है। काशिकावृत्तिकी पदमञ्जरी[2] और न्यास[3] टीका में तथा महाभाष्य और प्रदीप[4] टीका में भी ये सब बातें कही गयी हैं।

लघुशब्देन्दुशेखर की विषमपदविवृति टीका में कहा गया है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं, अत. 'वच्' धातु 'कृ' धातु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'ल्युट्' प्रत्यय 'कर्त्ता' अर्थ में है। अतः सूत्रस्थ, 'वचन' शब्द 'कर्तृ' शब्द के बराबर है[5]।

सूत्र में 'भावकर्तृकाणाम्' क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में 'श्लेष्मकचौरजा'[6]—कफकर्तृकचोरसम्बन्धी पीड़ा—यह प्रत्युदाहरण तत्त्वबोधिनी टीका में दिया गया है। 'श्लेष्मा' या कफ 'भाव' नहीं है। सूत्रमें 'रुजार्थानाम्' क्यों कहा गया है—इसके उत्तर में इस सूत्र की काशिकावृत्ति में बड़ा सुन्दर एक श्लोक उद्धृत करके प्रत्युदाहरण दिया गया है—

---

१. तत्त्वबोधिनी, पृ० ६७८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
२—३. पदमञ्जरी, न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २५१, प्रा० भा० प्रकाशन।
४. महाभाष्य तथा प्रदीप (खण्ड २), पृ० ५२३, नि० सा० प्रेस संस्करण।
५. अन्ये तु धातूनामनेकार्थत्वाद् वचिः करोत्यर्थे, ल्युट् च कर्त्तरि। तथाच वचनशब्दः कर्तृशब्द समशील इत्याहुः—विषमपदविवृति (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७४९-७५०, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
६. भावकर्तृकाणां किम् ? श्लेष्मणश्चौररुजा—तत्त्वबोधिनी, पृ०।

"एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ।
जीव पुत्रक मामैवं तपःसाहसमाचर ॥"

इस श्लोक में आनन्द 'एति' क्रिया का कर्त्ता है । 'आनन्द' भाव भी है, परन्तु 'एति' क्रिया का प्रकृतिभूत 'इन गतौ' धातु पीड़ार्थक नहीं, परन्तु गत्यर्थक है । इसलिये 'नरम्' इस कर्मपद में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई है ।

६१६ आशिषि नाथः । (२-३-५५)

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । आशिषि किम् ? माणवकनाथनम् । तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः ।

अनुवाद तथा विवृति—'आशीः' अर्थ समझे जाने पर 'नाथ' धातु के कर्म में षष्ठी हो ।

आशीरर्थक 'नाथ्' धातु के कर्मकारक में शेषत्व विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हो । उदाहरण—सर्पिषो नाथनम्—सर्पिः अर्थात् घी मेरा हो, इस प्रकार इच्छा । उसी इच्छा को आशीः या आशासन कहते हैं[1] । इस सूत्र में भी 'शेषे' और 'कर्मणि' इन दोनों की अनुवृत्ति है । 'सर्पिषो नाथनम्'—इस स्थल में समास रोकने के लिये यह सूत्र कहा गया है ।

सूत्र में आशिषि क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है—'माणवकनाथनम्'—बालकसम्बन्धी याच्ञा (माँगना) । इस प्रत्युदाहरण में 'नाथ्' धातु का माँगना अर्थ है, आशीः या इच्छाविशेष नहीं । इसलिये प्रतिपदविधानषष्ठी न होकर शेषे षष्ठी हुई है, और 'माणवकनाथनम्' में समास हुआ है ।

६१७ जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् । (२-३-५६)

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनं प्रणिहननं निहननं प्रहणनं वा । 'नट अवस्कन्दने चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम्—धानापेषणम् ।

१. इदं मे भूयादितीच्छा आशासनम् । तदेवाशीः नाथतेरर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६७६, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण ।

अनुवाद तथा विवृति—'जास्' घातु, 'नि' तथा 'प्र' पूर्वक 'हन्' घातु, [illegible] घातु, 'क्राथ' घातु तथा 'पिष्' घातु—ये सब घातु जब हिंसारूप अर्थ में [illegible] हों तब उनके कर्म में शेषत्व विवक्षा किये जाने पर षष्ठी हो।

[illegible]ये (अर्थात् सूत्रोक्त जास् आदि घातु) जब हिंसार्थक हों तब इनके [illegible] में शेषत्व विवक्षा किये जाने पर षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—'चौर-[illegible]जासनम्'—चोर की हिंसा अर्थात् चोरसम्बन्धिनी हिंसा।

सूत्र में जो 'जाति' इस प्रकार घातु के अन्त में इकार है वह 'इक्श्तिपौ [illegible]निर्देशे' इस वार्त्तिक सूत्र के अनुसार घातु के निर्देश के लिये है। 'जसु [illegible]' 'जसु हिंसायाम्' इस चुरादिगणीय 'जस' घातु का इस सूत्र में ग्रहण [illegible] गया है, 'जसु मोक्षणे' इस दिवादिगणीय का नहीं, कारण सूत्र में [illegible]' इस प्रकार निर्देश है और हिंसायाम्' ऐसा भी कहा गया है।[1] [illegible]र्य यह है कि दिवादिगणीय 'जसु मोक्षणे' इस घातु के हेतुमण्णिजन्त [illegible]का ग्रहण करने की अपेक्षा चुरादिगणीय स्वार्थिक णिजन्त 'जसु ताड़ने', [illegible] हिंसायाम्' इन घातुओं का ग्रहण सूत्रोक्त 'जासि' शब्द से समझना है, [illegible] स्वार्थिका णिजन्त हेतुमण्णिजन्त की अपेक्षा अन्तरङ्ग है[2]। [illegible] दिवादिगणीय 'जसु मोक्षणे' घातु का ग्रहण करने पर सूत्रोक्त 'हिंसायाम्' के अर्थका अन्वय नहीं हो पाता[3]।

वस्तुतः यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सूत्रोक्त 'जासि' शब्द 'जसु' [illegible] का णिजन्त रूप ही नहीं है, परन्तु इस 'जासि' शब्द के द्वारा 'जसु' घातु [illegible]य आकार का उच्चारण के घातु करके विकृतरूप का निर्देश किया गया

१. 'जसु मोक्षणे' इति दैवादिकस्य न ग्रहणम्, जासीति निर्देशात्, हिंसाया मित्यु-क्तेश्च—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. दैवादिकस्य न ग्रहणमिति। हेतुमण्ण्यन्तस्येत्यर्थः। किन्तु 'जसु हिंसायाम्' 'जसु ताड़ने' इति चौरादिकयोरेव ग्रहणं स्वार्थिकण्यन्तस्यान्तरङ्गत्वादित्याशयः—विजया (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७४६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. एवञ्च हेतुमण्ण्यन्तस्य दैवादिकस्य ग्रहणेऽनन्वयापत्तिरिति भावः—लघुशब्देन्दु-शेखर सर्वार्थिनी, पृ० ७४६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

है। धातु के विकृतरूप के निर्देश से यह सूचित किया गया है कि जिस प्रयोग में इस 'जस्' धातु का 'जाति' इस प्रकार का रूप होता है वहीं पर षष्ठी विभक्ति होगी, अन्यत्र नहीं; जैसे कि 'दस्युमजीजसत्'—दस्यु की हिंसा की गयी—इस वाक्य में णिजन्त 'जस्' धातु का लुङ् का रूप है, परन्तु इस प्रयोग में 'जास' इस विकृतरूप का श्रवण नहीं हो रहा है, इसलिये 'दस्यु' में षष्ठी बिभक्ति नहीं हुई है[1], परन्तु 'चौरस्य उज्जासनम्' इस प्रयोग में 'जास्' इस विकृतरूप का श्रवण हो रहा है, और 'चौरस्य' पद में षष्ठी-विभक्ति हुई है।

सूत्रस्थ 'निप्रहण—' शब्द का 'निप्रोपसृष्टो हनो निप्रहणः'[2] 'नि' और 'प्र' उपसर्गयुक्त 'हन्' धातु अर्थ है। परन्तु 'नि' और 'प्र'—ये दोनों उपसर्ग सूत्र में जिस आनुपूर्वी से निर्दिष्ट हुए हैं उसी आनुपूर्वी से ही सर्वदा प्रयुक्त हों—ऐसी बात नहीं है। 'नि' और 'प्र' उपसर्ग का यथासम्भव उपसर्ग प्रयोगानुसार अभिप्रेत है। अतएव सूत्रस्थ 'निप्रहण'—इस शब्द की व्याख्या करते हुए काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में आचार्य हरदत्तजी ने कहा है—'निप्राभ्यां यथासम्भवमुपसृष्टो हनो निप्रहणः'—अर्थात् 'नि' और 'प्र' उपसर्ग के द्वारा यथासम्भव उपसर्गयुक्त 'हन्' धातु 'निप्रहण'—शब्द का अर्थ है। सी तात्पर्य से भट्टोजी दीक्षितजी ने कहा है—'निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा' अर्थात् 'नि' और 'प्र' उपसर्ग एक साथ सम्मिलित रूप से 'हन्' धातु के पूर्व प्रयुक्त हो सकते हैं, यथा—'निप्रहन्ति' अथवा 'विपर्यस्त' अथवा विपरीतक्रम से प्रयुक्त हो सकते हैं—यथा 'प्रणिहन्ति', अथवा 'व्यस्त' अर्थात् अलग-अलगरूप से प्रयुक्त हो सकते हैं—यथा 'निहन्ति', 'प्रहन्ति'। बालमनोरमा टीका में यह बात स्पष्टरूप से कही गयी है।[3]

---

१. 'कः पुनराह णयन्तस्य निर्देश इति ? अत्रवीकारनिर्देशोऽयं धातुनिर्देशार्थः इक् 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति। यद्येवं जासीत्याकारः कथं श्रूयते ? उच्यते—आ... मुच्चार्य विकृतनिर्देशः कृतः, विकृतनिर्देशस्तु यत्रास्यैतद्रूपं भवति तत्रैव यथा स्यात्... माभूद्—दस्युमजीजसदिति।—न्यास (काशिका, भाग २), प्रा० भा० प्रकाशन...

२. लघुशब्देन्दु०, पृ० ७४६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. निप्रहणेति निप्रपूर्वस्य हन्धातोः निर्देशः। तत्र 'निप्र' इत्येतौ समस्तौ गृह्येते...

उदाहरण—चौरस्य निप्रहननम्, प्रणिहननम्, निहननम्, प्रहणनं वा—चोर का हनन या चोरसम्बन्धी हनन।

'नट अवस्कन्दने' चुरादिः। चौरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्। वृषलस्य पेषणम्।

सूत्र में उल्लिखित 'नाट' शब्द पूर्वोक्त 'नट' धातुका विकृत रूप है। 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'नट' धातु का हिंसा अर्थ है[1]। 'चौरस्योन्नाटनम्'—चोर की हिंसा। सूत्रोक्त 'क्राथ' शब्द भी 'क्रथ हिंसायाम्' इस चुरादिगणीय[2] धातु का विकृत निर्देश है। 'चौरस्य क्राथनम्'—चोर की हिंसा।

'वृषलस्य पेषणम्'—शूद्र की हिंसा। 'पिष्लृ संचूर्णने' इस रुधादिगणीय धातु से चूर्ण करना अर्थ होने पर भी तात्पर्यवशात् हिंसा प्रतीत होती है।

सूत्र में 'हिंसायाम्' क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है—'धानापेषणम्'—धाना अर्थात् लावा को पीसना। धाना के पेषण से हिंसा प्रतीत नहीं होती, कारण हिंसा प्राणि से सम्बन्धित है[3]।

सूत्र की व्याख्या में 'एषाम्' क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में काशिका वृत्ति में प्रत्युदाहरण दिया गया है—'चौरं हिनस्ति'—चोर को हिंसा करता है। 'हिंस्' धातु हिंसार्थक होने पर भी सूत्रोक्त 'जासी'त्यादि धातुओं के अन्तर्गत नहीं है। सूत्र में 'निप्रहण'—ऐसा क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में भी ऐसा कहा गया है काशिकावृत्ति में 'चौरं विहन्ति'—चोर को मारता है। इस प्रत्युदाहरण में 'हन्' धातु का प्रयोग किये जाने पर भी 'नि' आदि उपसर्गयुक्त न होने से 'चौरं' पद में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई है।

प्रनीत्येवं व्युत्क्रमेण च गृह्यते, प्रेति नीति च पृथगपि गृह्यते व्याख्यानादित्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६७९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

१. उपसर्गवशान्नाटेः हिंसायां वृत्तिरिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६८०, पूर्वोक्त संस्करण।

२. चुरादेरेव ग्रहणमित्यर्थः—वरवर्णिनी (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७५०, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. अत्र हिंसा नास्ति, तस्याः प्राणिधर्मत्वात्—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २१८, प्रा० भा० प्रकाशन।

६१८ व्यवहृपणोः समर्थयोः । (२-३-५७)

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता । शतस्य व्यवहरणं पणनं वा । समर्थयोः किम्—शलाकाव्यवहारः । गणनेत्यर्थः । ब्राह्मणपणनं स्तुति इत्यर्थः ।

अनुवाद तथा विवृत्ति—'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु तथा 'पण' धातु के कर्म कारक में शेषत्व विवक्षा किये जाने पर षष्ठी हो ।

शेषत्व विवक्षा किये जाने पर समानार्थक 'वि' तथा 'अव' तथा उपसर्ग पूर्वक हृ धातु तथा पण धातु के कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो ।

यद्यपि 'पण' धातु का 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इस प्रकार 'स्तुति' रूप अर्थ भी कहा गया है, अतः 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु के साथ 'पण' धातु को समानार्थक कैसे माना जा सकता है, यह प्रश्न उठ सकता है, फिर भी 'द्यूत' अर्थात् अक्ष क्रीड़ा करने में तथा क्रयविक्रयमूल्यसंवाद रूप अर्थ में ये दोनों धातु समानार्थक माने गये हैं[1] ।

यही 'द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता' इस पंक्ति का तात्पर्य है ।

सूत्रस्थ 'समर्थयोः' पद समानार्थक 'सम्' शब्द के साथ 'अर्थ' शब्द का समास करके बनाया गया है । अथवा 'सम' शब्द के साथ 'अर्थ' शब्द का समास करके बनाया गया है । इस द्वितीय व्याख्या में 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इस वार्त्तिक सूत्रानुसार 'सम' और 'अर्थ' का समास करते समय पररूप हुआ है । अतः सूत्र में 'समार्थयोः' ऐसा पद न कहकर 'समर्थयोः' ऐसा कहा गया है[2] ।

---

१. ननु 'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इति पणधातुः स्तुतावपि वर्तते, ननु व्यवहार एव तत् कथमनयोरेकार्थकत्वमित्यत आह—द्यूत इति । द्यूते अक्षैः क्रीड़ने क्रयविक्रय विषयकमूल्यसंवादे चानयोः व्यवहृपणो रेकार्थकत्वमित्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६८०, म० म० गिरिधर शर्मा सस्करण ।

२. समपर्यायसं' शब्देन समासः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपं वा—लघुशब्देन्दु, पृ० ७५०, गु० प्र० शास्त्री संस्करण ।

संशब्दो वृत्तौ समानार्थः, समशब्दस्य वा निपातनात् पररूपमिति भावः—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २) पृ० ३१८, [illegible]

उदाहरण—'शतस्य व्यवहरणं पणनं वा' अक्षक्रीड़ा के द्वारा 'शत' का ग्रहण, क्रयविक्रय विषयक मूल्य संवाद द्वारा 'शत' का ग्रहण-यह यथाक्रम अर्थ है।

सूत्र में समानार्थक 'समर्थयोः' पद क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिये गये हैं—'शलाकाव्यवहारः' अर्थात् शलाकाओं को गिनना, और 'ब्राह्मणपणनम्'—ब्राह्मण की स्तुति। इन प्रत्युदाहरणों में 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु तथा 'पण' धातु का यथाक्रम 'गणना और स्तुति' अर्थ होने से प्रत्युदाहरण में ये दोनों धातु समानार्थक नहीं हैं। इसलिये प्रतिपदविधान षष्ठी न होकर शेषे षष्ठी होने से 'शलाकाव्यवहारः' तथा 'ब्राह्मणपणनम्' पदों में षष्ठीतत्पुरुष समास हुआ है।

६१९ विवस्तदर्थस्य। (२–३–५८)

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्—ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—तदर्थक अर्थात् पूर्वसूत्रोक्त द्यूतार्थक तथा क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थक 'दिव्' धातु के कर्म में षष्टी हो।

द्यूतार्थक तथा क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थक 'दिव्' धातु के कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति हो।

उदाहरण—'शतस्य दीव्यति'—अक्षक्रीड़ा से अथवा क्रयविक्रयविषयक मूल्य के वार्तालाप से शत मुद्रायें ग्रहण करता है[1]।

इस सूत्र में सम्प्रदायानुसारी व्याख्यान से 'शेषे' इस पद की अनुवृत्ति पूर्वोक्त उदाहरण से नहीं होती है[2]। 'शेषे' इसकी अनुवृत्ति न होने के कारण कर्मत्व प्रकारक बोध होता है[3]। अर्थात् अक्षक्रीड़ा से शतकर्मक ग्रहण करता

---

१. शतमक्षक्रीड़नेन क्रयविक्रयविषयकमूल्यसंवादेन गृह्णातीत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६१, पूर्वोक्त संस्करण।

२. 'शेषे' इति त्वत्र न सम्बध्यते व्याख्यानात्–लघुशब्देन्दु, पृ० ७५१, पूर्वोक्त संस्करण।

३. अत्र शेष इत्यननुवृत्तेः कर्मत्वप्रकारक एव बोधः—बालमनोरमा, पृ० ६६१, पूर्वोक्त संस्करण।

है, ऐसा वाक्यार्थबोध होता है, न कि अक्षक्रीड़ा से शतसम्बन्धी ग्रहण करता है।

इस सूत्र में जो 'तदर्थस्य' पद है, उसके अन्तर्गत सर्वनाम 'तत्' शब्द से 'व्यवहृपणोः समर्थयोः' इस पूर्व सूत्र में उल्लिखित 'वि' तथा 'अव' पूर्वक 'हृ' धातु और 'पण' धातु का परामर्श किया जाता है[1]।

सूत्रस्थ 'तदर्थस्य' शब्द में जो बहुव्रीहि समास है उसका विग्रह इस प्रकार है—'तयोः व्यवहृपणोः अर्थं एवार्थौ यस्य तस्य'[2]। उसी प्रकार भट्टोजी दीक्षित की वृत्ति में जो 'द्यूतार्थस्य' तथा 'क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य' बहुव्रीहि समास निष्पन्न पद हैं उनके विग्रह वाक्य भी इस प्रकार हैं—'द्यूतम् अक्षक्रीड़नेन ग्रहणम् अर्थो यस्य (दिवः) तस्य', 'क्रयविक्रय विषयक मूल्यसंवादोऽर्थो यस्य (दिवः) तस्य'।'[3]

सूत्र में तदर्थस्य क्यों कहा है ? इसके उत्तर में काशिका वृत्ति में 'ब्राह्मणं दीव्यति'—ब्राह्मण की स्तुति करता है—यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस प्रत्युदाहरण में 'दिव्' धातु स्तुत्यर्थक है, 'द्यूतार्थक' या 'क्रयविक्रयरूप-व्यवहारार्थक' नहीं है। अतः 'ब्राह्मणम्' पद में कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है, षष्ठी नहीं।

६२० विभाषोपसर्गे। (२–३–५९)

अनुवाद तथा विवृत्ति—उपसर्ग रहने पर व्यवहृपणार्थक 'दिव्' धातु के कर्मकारक में षष्ठी विकल्प से हो[4]।

यह सूत्र पूर्वसूत्र (दिवस्तदर्थस्य) का अपवाद या बाधक है। तात्पर्य यह है पूर्वसूत्र से द्यूतार्थक तथा क्रयविक्रयरुपव्यवहार्थक 'दिव्' धातु के कर्म-कारक में षष्ठी विभक्ति नित्य प्राप्त थी। इस सूत्र से उपसर्गयुक्त 'दिव्'

---

१. पूर्वसूत्र में निर्दिष्टव्यवहृपणौ तच्छब्देन परामृश्येते—बालमनोरमा, पृ० ६८१, पूर्वोक्त संस्करण।

२. बालमनोरमा, पृ० ६८१, पूर्वोक्त संस्करण।

३. बालमनोरमाः पृ० ६८१, पूर्वोक्त संस्करण।

४. उपसर्गे सति व्यवहृपणार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी वा स्यात्—बालमनोरमा, पृ०

धातु के कर्मकारक में विकल्प में षष्ठी विभक्ति होगी। इस सूत्र में भी 'शेषे' पद की अनुवृत्ति नहीं है, परन्तु 'तदर्थस्य' इस पद की अनुवृत्ति की जाती है[1]।

उदाहरण—शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति सौ मुद्रायें अक्षक्रीड़ा से जीत लेता है या क्रयविक्रयव्यवहार से खरीद लेता है।

सूत्र में 'उपसर्ग' ऐसा क्यों कहा गया है? इस के उत्तर में काशिकावृत्ति में 'शतस्य दीव्यति'—सौ मुद्रायें अक्षक्रीड़ा से जीतता है—ऐसा प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस प्रत्युदाहरण में 'दिव्' धातु उपसर्ग युक्त न होने से 'शत' रूप कर्मकारक में पूर्वसूत्र से नित्य षष्ठी विभक्ति हुई है, विकल्प में द्वितीया नहीं।

पूर्वसूत्र से इस सूत्र में 'तदर्थस्य' इस पद की अनुवृत्ति है—यह पहले बताया गया है। अतः जिस वाक्य में 'दिव्' धातु द्यूतार्थक या क्रयविक्रय व्यवहार्थक नहीं होता है वहाँ कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी। इस बात को समझाने के लिये काशिकावृत्ति में 'शलाकां प्रतिदीव्यति'—शलाका का खेल खेलता है—यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस वाक्य में 'शलाका' रूप कर्म में षष्ठी नहीं होगी। इस वाक्य में जो 'दिव्' धातु का प्रयोग हुआ है उसका क्रीड़ाविशेषरूप दूसरा ही अर्थ है,[2] पूर्वसूत्रोक्त अर्थ नहीं।

१ प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने। (२-३-६१)

देवतासम्प्रदानेऽर्थे (देवतासम्प्रदानकेऽर्थे वर्त्तमानयोः * प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविर्विशेषस्य (हविषो*) वाचकाच्छब्दाच्छष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा।

---

१. अत्रापि 'शेषे' इति न सम्बद्ध्यते 'तदर्थस्ये'ति च वर्त्तते—लघुशब्देन्दु० पृ० ७५२, पूर्वोक्त संस्करण।

२. शलाकां प्रतिदीव्यतीति। अर्थान्तरे क्रीड़ादौ दीव्यतिर्वर्त्तते—न्यास (काशिका भाग २), पृ० २१६, प्रा० भा० प्रकाशन। अत्र विजियोपादी दिविर्वर्त्तते, न व्यवहारे—पदमञ्जरी, पृ० २१६, (काशिका भाग २), प्रा० भा० प्रकाशन।

(*) पाठान्तरम्। (*) पाठान्तरम्।

अनुवाद तथा विवृति—देवतासम्प्रदान अर्थ में 'प्रेष्य' तथा 'ब्रू' धातु
निष्पण्ण क्रियापद के 'हवि' रूप कर्मवाचक शब्द से षष्ठी हो।

देवतासम्प्रदान रूप अर्थ बोधक 'प्रेष्य' क्रियापद तथा 'ब्रू' धातुनिष्
क्रियापद के कर्मकारक हविर्विशेष के वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति हो
उदाहरण—'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा'
इस में दो उदाहरण वाक्य हैं। (१) 'अग्नये छागस्य हविषो वपा
मेदसः प्रेष्य' और (२) 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः अनुब्रूहि'
प्रथम उदाहरण मैत्रावरुण संज्ञक पुरोहित के प्रति अध्वर्युसंज्ञक पुरोहि
प्रैष अर्थात् प्रेरणावाक्य है। '(हे मैत्रावरुण), अग्निदेवता के लिये
मान छागसम्बन्धी वपा तथा मेदोरूप हवि को (प्रेरक मन्त्र से) प्र
करो। इसके साथ साथ सम्बन्धित प्रैषमन्त्र (प्रेरकमन्त्र) का
बालमनोरमा टीका में इस प्रकार उल्लिखित है 'होता यक्षदग्नि छाग
वपाया मेदसो जुषतां हवि र्होतर्यज'[1]।

'अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः अनुब्रूहि'—यह द्वितीय उदाह
वाक्य है। इस वाक्य का भी प्रायः पूर्ववाक्य के समान अर्थ है, केवल
'प्रेष्य' के स्थल में जो 'अनुब्रूहि' पद है उसका अर्थ पुरोऽनुवाक्या नामक
से प्रकाशित करो। वैदिक अनुष्ठान करने से पूर्व कभी-कभी कुछ ऋचा
पाठ किया जाता है, वैदिक लोग उनको पुरोनुवाक्या कहते हैं।

इस सूत्र में 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (२–३–५२) सूत्र से '
पद की अनुवृत्ति करा के 'कर्मणः' इस रूप से षष्ठ्यन्त करके विपरि
किया गया है।

सूत्रस्थ 'हविस्' शब्द 'वपा, 'मेद' रूपहर्विशेष का वाचक
बोधक है। वैयाकरणसम्प्रदाय के व्याख्यान से यह बात प्रतीत होती
उदाहरण वाक्य में 'छागस्य' पद में शेषे षष्ठी है।

---

१. बालमनोरमा, पृ० ६८२, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण।

२. हविश्शब्दो न स्वरूपपरः, किन्तु हविर्विशेषवाचकशब्दपरः, —बाल
मनोरमा, पृ० ६८२, पूर्वोक्त संस्करण।

सूत्र में जो 'प्रेष्यब्रुवोः' पद है, उसका विग्रह 'प्रेष्यश्च ब्रूश्च तयोः' प्रकार है। दिवादि गणीय 'इष्' धातु गत्यर्थक है, 'प्र' उपसर्ग के कारण प्रेरणार्थक हुआ है[1]। 'इष्' धातु के लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में 'प्रेष्य' बना है, उसके साथ साहचर्य वंश 'ब्रू' धातु का भी लोट् मध्यम पुरुष एकवचन का रूप इस सूत्र में लेना है। इसलिये इस सूत्र में 'शेषे' इसकी अनुवृत्ति नहीं की जाती। समास करने के लिये 'शेषे' षष्ठी माननी पड़ती है। प्रतिपदविधान षष्ठी के स्थल में समास नहीं होता। इस सूत्र के उदाहरण में 'प्रेष्य', 'अनुब्रुहि' ये तिङन्तपद कहे गये हैं। तिङन्त के साथ समास की प्राप्ति ही नहीं है, तब समास करने के लिये 'शेषे' पद की अनुवृत्ति की जाय[2]।

सूत्र में 'प्रेष्यब्रुवोः' ऐसा क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में काशिकावृत्ति में 'अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि'—इस प्रत्युदाहरण में 'प्रेष्य' 'ब्रूहि' का प्रयोग न करके 'जुहुधि' पद का प्रयोग किया गया है। इस लिये 'हविः', 'वयाम्' पदों में षष्ठी न होकर कर्मणि द्वितीया हुई है। उसी प्रकार सूत्र में 'हविषः' क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में भी काशिकावृत्ति में 'अग्नये गोमयानि प्रेष्य'। 'गोमय' 'हविः' न होने से तद्वाचक शब्द में षष्ठी न होकर द्वितीया विभक्ति हुई है। फिर भी सूत्र में 'देवतासम्प्रदाने' पद क्यों है इसके उत्तर में भी काशिकावृत्ति में 'माणवकाय पुरोडाशं प्रेष्य' यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। माणिवक देवता न होने

---

1. इष् गतौ दिवादिः श्यन्नन्त-, उपसर्गवशात् प्रेरणे वर्त्तते। प्रेष्यश्च ब्रूश्च तयोरिति विग्रह—वालमनोरमा, पृ० ६८२।

2. इष्यते दैवादिकस्य लोटो मध्यमपुरुषैकवचनं प्रेष्येति तत्साहचर्याद्ब्रूविरपि तथाभूत एव गृह्यते। अतएवेह शेषग्रहणं न सम्बध्यते। तिङन्तेन सह समासस्याप्रसक्तत्वात्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८२, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण।

से 'पुरोडाशं' शब्द में द्वितीया हुई है, षष्ठी नहीं'। ये सब प्रत्युदाहरण बाल-मनोरमा, तत्त्वबोधिनी टीकाओं में भी हैं।[1]

इस सूत्र की व्याख्या प्रसंग में महाभाष्य में 'हविषोऽप्रस्थितस्य' ऐसा एक वार्त्तिक पठित हुआ है। तदनुसार बालमनोरमा टीका में 'हविषः प्रस्थितत्वविशेषणे प्रतिषेधो वक्तव्यः' ऐसा वार्तिकका पाठ उद्धृत किया गया है। तत्त्वबोधिनी टीका में भी वार्त्तिक का पाठ वही है। 'प्रस्थित' शब्द का अव्यक्त अर्थ है[2]। प्रत्युदाहरण भी महाभाष्य में दिया गया है— 'इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य'। इस प्रत्युदाहरण में 'हविः' में 'प्रस्थित' विशेषण रहने से षष्ठी नहीं हुई। बालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदि में यही प्रत्युदाहरण दिया गया है।

६२२ कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे। (२-३-६४)

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात्। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। शेषे किम्? द्विरहन्यध्ययनम्।

अनुवाद तथा विवृति—'कृत्वसुच्' प्रत्यय के साथ अभिन्नार्थक या समानार्थक प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग होनेपर कालवाचक अधिकरणवाचक शब्दों में षष्ठी हो।

'कृत्वसुच्' प्रत्यय के साथ अभिन्नार्थक या समानार्थक जो प्रत्यय हैं उन प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग होनेपर कालवाचक अधिकरणवाचक शब्दों में शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—पञ्चकृत्वः अह्नो भोजनम्—दिन में पाँच बार खाना। द्विः अहनि अध्ययनम्—दिन में दो बार पढ़ना।

सूत्र की व्याख्या में 'शेषे' अर्थात् शेषत्व विवक्षा करने पर क्यों

१. बालमनोरमा, पृ० ६८२, पूर्वोक्त संस्करण तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८२, पूर्वोक्त संस्करण।

२. प्रस्थितम् अव्यक्तमित्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६८२।

है ? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है—'द्विः अहनि अध्य-यनम्'—दिन में दो बार पढ़ना। इस प्रत्युदाहरण में 'अहन्' का सम्बन्ध षष्ठी न करने से अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति हुई है। 'दिवस्तदर्थस्य' आदि सूत्रों में 'शेषे' पद की अनुवृत्ति न होने पर भी इस सूत्र में साम्प्र-दायिक व्याख्यानुसार 'शेष' पद की अनुवृत्ति की गयी है[1]।

सूत्र में जो 'कृत्वोऽर्थ' शब्द है उसका विग्रह वाक्य द्वारा तत्त्वबोधिनी टीका में 'कृत्वसुचोऽर्थ इवार्थो येषां प्रत्ययानां ते कृत्वोऽर्थाः'[2] और बाल-मनोरमा टीका में 'कृत्वसुच्प्रत्ययस्यार्थ एवार्थोयेषां ते कृत्वोऽर्थाः'[3]—इस प्रकार अर्थ बतलाया गया है।

'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५-४-१७) इस सूत्रानुसार उदाहरणस्थ 'पञ्चकृत्वः' पद में 'पञ्चन्' शब्द के साथ 'कृत्वसुच्' किया गया है।

इसी प्रकार 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' (५-४-१८) सूत्रानुसार उदाहरणस्थ 'द्विः' पद में द्विशब्द से 'सुच्' प्रत्यय है।

'कृत्वसुच्' प्रत्यय के अर्थ के साथ समानार्थक 'सुच्' प्रत्यय होता है। 'सुच्' प्रत्यय को ग्रहण करने के लिये सूत्र में 'कृत्वोऽर्थ'—इस प्रकार का शब्द का ग्रहण किया गया है।[4]

सूत्र में 'कृत्वोऽर्थ' इस अंश को क्यों कहा गया है ? काशिकावृत्ति में इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है—अह्नि शेते, रात्रौ शेते—दिन में सोता है—रात में लेटता है। इन वाक्यों में 'कृत्वोऽर्थ' प्रत्ययान्त पद न

---

1. इह 'दिवस्तदर्थस्य' इत्यादि सूत्रषट्के विच्छिन्नमपि शेषग्रहणमनुवर्त्तते व्याख्या-नात् तत्त्वबोधिनी पृ० ६८३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
2. तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
3. बालमनोरमा, पृ० ६८२ पूर्वोक्त संस्करण।
4. द्विरिति। द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' अर्थग्रहणमेतदर्थम्—पदमञ्जरी (काशिका भाग २) पृ० २२२, प्रा० भा० प्रकाशन।

रहने के कारण कालाधिकरण वाचक 'अहन्' तथा 'रात्रि' शब्द में षष्ठी न होकर सप्तमी विभक्ति हुई है।

सूत्र में 'प्रयोग' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है ? इसके उत्तर में काशिकावृत्ति में 'अहनि भुक्तम्'—दिन में खाया गया—यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। इस प्रत्युदाहरण में न कहने पर भी 'द्विः' (दो बार), 'त्रिः' (तीन बार) अथवा 'चतुः' (चारबार) प्रतीत होता है। परन्तु 'द्विः', 'त्रिः' या चतुः' शब्द का प्रयोग न करने पर षष्ठी विभक्ति नहीं होगी।

उसी प्रकार सूत्र में 'काल' शब्द का ग्रहण करने से 'द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते' इस वाक्य में 'कांस्यपात्री' रूप अधिकरण वाचक शब्द में षष्ठी न होकर सप्तमी विभक्ति हुई है।

६२३ कर्तृकर्मणोः कृति (२-३-६५)

कृद्योगे कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्ता कृष्णः। 'गुणकर्मणि वेष्यते' (वा ५०४२)। नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। कृति किम्—तद्धिते माभूत्, कृतपूर्वी कटम्।

अनुवाद तथा विवृति—'कृत्' के योग से कर्त्ता तथा कर्म में षष्ठी हो।

'कृत्' प्रत्यय के योग से कर्तृकारक तथा कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—'कृष्णस्य कृतिः'—कृष्णकर्तृक कृति—कृष्ण भगवान् की रचना। 'जगतः कर्ता कृष्णः'—जगत् का सृष्टिकर्त्ता कृष्ण भगवान् है—जगत्कर्मक जो सृष्टि उसके अनुकूल व्यापारवान् कृष्ण।

'गुणकर्मणि वेष्यते'—गौण कर्म में षष्ठी विभक्ति विकल्प में इष्ट है। उदाहरण—'नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा'—घोड़े को स्रुघ्नदेश में ले जाने वाला। यहाँ 'स्रुघ्न' गौणकर्म है। अतः इसमें षष्ठी विभक्ति विकल्प में हुई है।

सूत्र में 'कृति किम्'—ऐसा क्यों कहा गया है ? उत्तर—तद्धित रहने पर (षष्ठी) नहीं होगी। उदाहरण—'कृतपूर्वी कटम्'—जिसने कट

टाई को पहले बनाया हो। यहाँ 'कृतपूर्वी' पद में पूर्वशब्द के साथ 'इनि' प्रत्यय रहने से 'कटम्' में षष्ठी विभक्ति न होकर द्वितीया ही हुई है।

'कृति किम्? तद्धिते माभूत, कृतपूर्वी कटम्'—यह सिद्धान्त कौमुदी के कारकप्रकरण का एक विशिष्ट विचारणीय स्थल है। 'कृदतिङ' (३–१–९३) के द्वारा पाणिनि मुनि ने धातु के अधिकार में 'तिङ्' से भिन्न प्रत्यय की 'कृत' संज्ञा दी है।

'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र की व्याख्या प्रसङ्ग में प्रश्न उठाया गया है कि सूत्र में 'कृति'— कृत् प्रत्यय के योग से—यह कहने की आवश्यकता क्या है? अर्थात् 'कर्तृकर्मणोः' केवल इतना ही सूत्र हो। प्रश्नकर्त्ता का पूछने का अभिप्राय यह है कि कर्त्ता तथा कर्म के द्वारा क्रिया का आक्षेप होता है और क्रिया का वाचक धातु है। कारण धातु के द्वारा ही साध्यावस्थापन्न क्रिया की उपस्थिति होती है। धातु के साथ दो प्रकार के प्रत्यय हो सकते हैं—एक 'कृत्' प्रत्यय, दूसरे 'तिङ्' प्रत्यय। 'तिङ्' से 'तिप् तस् झि' इत्यादि दश लकार के स्थान में जो परस्मैपद में नौ तथा आत्मने पद में नौ—ये अठ्ठारह प्रत्यय होते हैं, वे ही समझे जाते हैं।

अब 'तिङ्' के प्रयोग से अर्थात् तिङन्त 'करोति' इत्यादि क्रियापद के योगसे 'कटं करोति' इत्यादि वाक्यस्थ 'कटं'रूप कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति न होकर द्वितीया ही होगी। कारण आगे चलकर 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२–३–६९) सूत्र से निषेध किया गया है कि लकार के स्थल में जो 'तिप्' आदि आदेश होते हैं, उनके योग से कर्म में षष्ठी नहीं होगी। अब बच जाते हैं 'कृत्' प्रत्यय जो धातु के साथ आ सकते हैं। इन कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग से कर्त्ता तथा कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति होगी, यह तो सूत्र में 'कृति' न कहने पर भी जाना जा सकता है। अतः सूत्र में 'कृति' क्यों कहा गया है?—यही 'कृति किम्' इस प्रश्न का तात्पर्य है[1]।

---

१. कर्तृकर्मभ्यां क्रिया सन्निधाप्यते। तद्वाची तु धातुरेव। कारकान्वययोग्यतावच्छेदकरूपेण धातुभिरेव तदुपस्थितेः।......धातोश्चद्वये प्रत्ययाः तिङ कृतश्च। तत्र तिङ्योगे

इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है 'तद्धिते माभूत्, कृतपूर्वी कटम्'— अर्थात् 'कृत्' के साथ जहाँ तद्धित प्रत्यय भी अधिक रहेगा, जैसे कि 'कृतपूर्वी' में है, उसके योग से कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी। यथा 'कृतपूर्वी कटम्'—जिसने चटाई को पहले किया हो। इस प्रत्युदाहरण में 'कृतपूर्वी' पद में 'कृ' धातु के साथ 'क्त' प्रत्यय जोड़ने से 'कृत' यह कृत् प्रत्ययान्त शब्द तो अवश्य बना है, परन्तु 'कृतपूर्वी' के परवर्ती भाग में 'पूर्व' शब्द के साथ 'इनि' प्रत्यय भी है, जो कि 'तद्धित' प्रत्यय है। अतः 'कृतपूर्वी' पद में 'कृत्' प्रत्यय के साथ अधिक 'तद्धित' प्रत्यय भी रहने के कारण उस पद के योग से 'कटम्' में षष्ठी नहीं हुई है।[1]

तात्पर्य यह है 'कृतपूर्वी' पद 'कृतं पूर्वमनेन' इस प्रकार विग्रह करके कर्म की अविवक्षा से अविवक्षितकर्मक होने के कारण 'कृ' धातु से भाववाच्य में 'क्त' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है। और 'कृतपूर्वी' में 'सुप्सुपा' समास है[2]। इस स्थिति में 'करोति' क्रिया की अपेक्षा 'कट' का कर्मत्व अनभिहित होने 'कट' में षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति हुई है। उस षष्ठी को रोकने के लिये सूत्र में 'कृति' यह पद कहा गया है[3]।

न लोकेति निषेधात् कृद्योगे एव भविष्यतीति किं तेन ऽ—लघुशब्देन्दु०, पृ० ... नन्विह कर्तृकर्मभ्यां क्रिया आक्षिप्यते, तद्वाची तु धातुरेव, धातोश्च द्वये प्रत्ययाः कृतस्तिङश्च। तत्र तिङ्प्रयोगे कटं करोतीत्यादौ 'न लोका—' इति प्रतिषेधो भाव्यम्। ततश्च परिशेषात् कृद्योग एव षष्ठी भविष्यति, तस्मात् किं कृद्ग्रहणेन इति प्रश्नः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८४,

१. तद्धिताधिक्ये तु सा माभूदित्येदर्थं कृद्ग्रहणमिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८४,

२. कृतं पूर्वमनेनेति विग्रहः। पूर्वं कृतवानित्यर्थः। अविवक्षितकर्मकतया भावे क्तः। सुप्सुपेति समासः—प्रौढ़मनोरमा, पृ० १४७, चौखम्बा संस्करण।

३. अत्र करोतिक्रियापेक्षमनभिहितं कर्मत्वं कटस्यास्त्येवेति षष्ठी स्यात्, तद्धिताधिक्ये तु सा माभूदित्येतदर्थं कृद्ग्रहणमिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८४, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

'तद्धिते' माभूत्' इस व्याख्या में लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट जी ने कहा तद्धितान्तशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियायाः कर्त्तरि कर्मणि च षष्ठी न भवतीत्यर्थः'—अर्थात् 'कृतपूर्वी' यह एक तद्धितान्त पद है, उस तद्धितान्त पद का शक्तिज्ञान मात्र से प्रयोज्य जो उपस्थिति या पदार्थस्मृति उस उपस्थिति की विषयीभूत क्रिया के कर्त्तृकारक या कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति नहीं होगी। 'कृतपूर्वी' पद 'पूर्वं कृतवान्'—इसने पहले किया है—इसके साथ समानार्थक है। क्रिया गुणभूत या गौण होने पर उस क्रिया के साथ कारकों का सम्बन्ध माना जाता है, जैसे कि 'कटं कृतवान्' इसने चटाई की है, यहाँ है। इस प्रयोग में 'कृतवान्' का घटक जो 'कृ' धातु है, उस धातु का अर्थ 'करना' रूप धात्वर्थात्मक क्रिया 'कृतवान्'—इसने किया है, इस अर्थ में 'कृ' धातु के साथ जो 'क्तवतु' प्रत्यय है उस क्तवतु प्रत्ययार्थ रूप धर्मी या विशेष्य में गुणीभूत हुई है। उस गुणीभूत क्रिया के साथ भी 'कट' रूप कर्म का सम्बन्ध माना गया है। उसी तरह 'पूर्वं कृतवान्' इस वाक्य में गुणीभूत 'कृ' धात्वर्थ क्रिया के साथ 'कट' रूप कर्म का सम्बन्ध माना जाता है। कट में रहनेवाला कर्मत्व किसी से अभिहित नहीं हुआ है, कारण 'कृतपूर्वी' पद में 'क्त' प्रत्यय भाववाच्य में हुआ है और 'इनि' प्रत्यय कर्त्तृवाच्य में हुआ है। अतः 'कट' में जो कर्मत्व है वह अनभिहित होने से सूत्र में 'कृति' यह पद न कहने पर कट में षष्ठी विभक्ति की आपत्ति होती है। उसको रोकने के लिये 'कृति' पद सूत्र में कहना आवश्यक हुआ है। कृति' कहने से केवल 'कृत्' प्रत्ययान्त पद के प्रयोग स्थल में ही कर्त्ता तथा कर्म में षष्ठी होगी। 'कृत्' प्रत्यय के साथ 'तद्धित' प्रत्यय अधिक रहने पर नहीं होगी, यह सूत्र में 'कृति' पद कहने का फल है।'

१. अत्राहुः पूर्वं कृतमनेनेति विग्रहे अविवक्षितकर्मतया भावे क्तप्रत्यये कृते कृतशब्दस्य कटसापेक्षत्वाभावात् समासतद्धितौ भवत एव। तथाच कृतपूर्वीत्यस्य पूर्वं 'कृतवान्' इत्यनेन समानार्थः सम्पद्यते, गुणभूतयापि क्रियया कारकाणां सम्बन्धस्य कटं कृतवानित्यादौ दर्शनादत्रापि करोतिक्रियापेक्षं कर्मत्वं कटस्याभ्युपगम्यते। तच्च

महाभाष्य में भी इसी प्रकार से 'कृति' ग्रहण का एक फल बतलाया गया है।[1]

६२४ उभयप्राप्तौ कर्मणि (२-३-६६)

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठीस्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन। 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः' (वा० १५१३)। भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य 'शेषे विभाषा' (वा० १५१३)। स्त्रीप्रत्यय इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरे हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा।

अनुवाद तथा विवृति—कर्त्ता तथा कर्म दोनों की प्राप्ति में कर्म में (षष्ठी हो)।

उभय अर्थात् कर्त्ता तथा कर्म दोनों की प्राप्ति या सम्बन्ध जिस कृत् प्रत्यय में हो उस 'कृत्' के रहते कर्म कारक में ही षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—'आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन'—जो आहीर नहीं है उसके द्वारा गायों का दुहना अद्भुत है—अर्थात् अगोपकर्त्तृक गोकर्मक जो दोहन वह अद्भुत है।

इस सूत्र में 'कर्त्तृकर्मणोः कृति इस पूर्वसूत्र से कर्त्ता तथा कर्म को लेते हैं[2]। उसी पूर्वसूत्र से 'कृति' इस पद को भी अनुवृत्ति होती है।

सूत्रस्थ 'उभयप्राप्तौ' पद बहुव्रीहि समास निष्पण्ण है,[3] तत्पुरुष नहीं

कर्मत्व न केनाप्यभिहितम्। भावे क्तस्य, कर्त्तरि 'इनि' प्रत्यय च विधान अतोऽसति कृद्ग्रहणे षष्ठी स्यादेवेति।—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८५, पूर्वोक्त संस्करण

१. अथवा कृतो ये कर्त्तृकर्मणी तत्र यथास्यात्। तद्धितस्य ये कर्त्तृकर्मणी तत्र मा भूदिति। कृतपूर्वी कटम् भुक्तपूर्वी ओदनमिति।—महाभाष्य (खण्ड २), पृ० १ नि० सा० प्रेससंस्करण।

२. उभयशब्देन प्रकृतत्वात् कर्त्तृकर्मणी सम्बध्येते—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २ पृ० २२६, प्रा० भा० प्रकाशन।

३. उभयप्राप्ताविति बहुव्रीहिः—बालमनोरमा, पृ० ६८६, काशिका भाग २ पृ० २२

अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहिसमास में यहाँ अन्यपदार्थ 'कृत्' है[१]। 'उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्' कृति स उभयप्राप्तिः कृत् (प्रत्ययः)—इस प्रकार व्यधिकरण बहुव्रीहि समास है।

बहुव्रीहि समास अवलम्बन करने से एक कृत्प्रत्ययान्त शब्दार्थरूप निमित्त के साथ कर्त्ता तथा कर्म दोनों का युगपत् सम्बन्ध होने के कारण 'ओदनस्य पाकः, ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भावः'—अन्न का पाक तथा ब्राह्मणों का प्रादुर्भाव—इस प्रकार विभिन्न क्रिया का कर्त्ता ब्राह्मण तथा कर्म ओदन में षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति होने पर 'उभयप्राप्तौ कर्मणि एव' उभय की प्राप्ति के स्थल में कर्म कारक में ही षष्ठी होगी, यह नियम नहीं लगेगा।[२] पूर्वोक्त वाक्य में पाक क्रिया निरूपित कर्मत्व अन्न में है, और प्रादुर्भाव क्रिया निरूपित कर्त्तृत्व ब्राह्मणों में है, दोनों क्रियाओंका सम्बन्ध दोनों कारकों से अलग से हैं, एक क्रिया निरूपित कर्त्तृत्व तथा कर्मत्व युगपत दोनों कारकों में नहीं है, जैसे कि 'आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन'—इस वाक्य में एक दोहन क्रिया निरूपित कर्मत्व तथा कर्त्तृत्व युगपत् गाय तथा अगोप में है[३]। 'ओदनस्य पाकः'—इत्यादि वाक्य में एक कृत्' में दोनों का सम्बन्ध नहीं है।[४]

---

१. अन्यपदार्थः कृत—बालमनोरमा, पृ० ६८६।

२. तेन (बहुव्रीहिणा) एकनिमित्तत्वलाभात् 'ओदनस्य पाको ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भाव इत्यादौ विभिन्नक्रियाकर्त्तृकर्मणोः षष्ठीप्राप्तौ नाय नियम इति भावः—शब्देन्दुशेखर, पृ० ७६६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. उभयप्राप्तिर्नाम सा भवति यत्रोभयष्य युगपत् प्रसङ्गः—महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ५३२, नि० सा० प्रेस।

४. इह तु न भवति—आश्चर्यमिदम् ओदनस्य च पाको ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भाव इति। नह्यत्रैकस्मिन् कृति उभयोः प्राप्तिः। तथाहि ओदनस्य पाक इत्यत्र कर्मण्येवौदने प्राप्तिः, नतु ब्राह्मणेषु कर्त्तृषु। नहि पाकस्य कर्त्तृत्वेन विवक्षिता ब्राह्मणाः कर्तंहि ? प्रादुर्भावस्य कर्त्तृत्वेन। ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भाव इत्यत्रापि प्रादुर्भाव इत्येतस्मिन् कृति कर्त्र्वेव ब्राह्मणेषु प्राप्तिः, न कर्मण्योदने। नहि प्रादुर्भावस्य ओदनः कर्म, भवतेरकर्मकत्वात्। पाकस्यैव त्वोदनः कर्मत्वेन विवक्षितः—न्यास (काशिका भाग२), पृ० २२७, प्रा० भा० प्रकाशन।

'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयो नायं नियमः'—यह एक वार्त्तिक सूत्र है। 'स्त्रियां क्तिन्' (३-३-९४) इस सूत्र के अधिकार में विहित स्त्रीप्रत्ययान्त 'अक' तथा 'अ'—इन दोनों कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग से एक कृत्प्रत्ययान्त शब्द के साथ कर्त्ता तथा कर्म दोनों कारकों का सम्बन्ध होने पर कर्मकारक में ही षष्ठी होगी—यह नियम नहीं लगेगा। अर्थात् 'अक' तथा 'अ' प्रत्ययान्त शब्दों के योग से कर्म के समान कर्तृकारक में भी षष्ठी विभक्ति हो सकती है—यह फलितार्थ है।[1] उदाहरण—'भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः'—रुद्रकर्तृक जगत्कर्मक भेदन या भेदनेच्छा—अर्थात् रुद्र या शङ्कर भगवान् के द्वारा संसार का नाश या नाश करने की इच्छा। उदाहरणवाक्यस्थ 'भेदिका' शब्द का भेदन या नाश अर्थ है, तथा 'विभित्सा' शब्द का भेदनेच्छा या नाश करने की इच्छा अर्थ है। 'भिद्' धातु के साथ 'पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषुण्वुच्' (३-३-१११) सूत्र से 'ण्वुच्' प्रत्यय जोड़कर या 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' इस वार्त्तिक सूत्र से 'ण्वुल्' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है। इसके बाद 'युवोरनाकौ' (७-१-१) सूत्र से 'ण्वुच्' या 'ण्वुल्' प्रत्यय के 'वु' के स्थल में 'अक' हो जाता है। बाद में स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय हुआ है और 'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (७-३-४४) सूत्र से 'भेदिका' में 'इ'कार आ गया है।

इस प्रकार 'विभित्सा' शब्द इच्छार्थक 'सन्' प्रत्ययान्त 'भिद्' धातु से 'अ प्रत्ययात्' (३-३-१०२) सूत्रानुसार 'अ' प्रत्यय जोड़कर बाद में स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय लगाकर बना है।

---

१. अकाकारयोः प्रयोगे कर्मण्येव षष्ठी नतु कर्त्तरीति यो नियम उक्तः स न प्रवर्त्तते किन्तु कर्त्तर्य्यपि षष्ठी प्रवर्त्तत इति फलितोऽर्थः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८६-६८७, पूर्वोक्त संस्करण। वार्त्तिक मेतत। 'स्त्रियां क्तिन्' इत्यधिकारविहितयोः अकाकारप्रत्यययोः कृतोः प्रयोगे कर्मण्येवेत्युक्तनियमो नास्तीत्यर्थः। कर्त्तर्य्यपि षष्ठी भवतीति फलितम्—बालमनोरमा, पृ० ६८६, पूर्वोक्त संस्करण।

'शेषे विभाषा' (वा० १५१३)

'अक' तथा अकारभिन्नप्रत्यय के योग से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' यह नियम विकल्पसे होता है[1]।

'स्त्रीप्रत्यय इत्येके'—विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि 'शेषे विभाषा' यह पूर्वोक्त 'अक' तथा 'अ'कार प्रत्यय भिन्न 'कृत्' प्रत्यय के योग से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' यह नियम विकल्प से होता है, यह जो कहा गया है, वह स्त्री प्रत्यय के योग से ही होता है। उदाहरण—'विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा'—हरिकर्तृक जगत्कर्मक जो कृति या कार्य, वह विचित्र है। अर्थात् 'भगवान् हरि के द्वारा जगत् की सृष्टि अद्भुत है। इस उदाहरण में 'कृति' शब्द 'कृ' धातु से भाव या धात्वर्थ बताने के लिये 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है, जो कि स्त्रीलिङ्ग है। इसका कहने का तात्पर्य यह है कि अनभिहित कर्म में षष्ठी विभक्ति तथा कर्त्ता में षष्ठी और तृतीया दोनों विभक्तियाँ हो सकती हैं।

'केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा'—

कोई-कोई आचार्य अविशेष या साधारण रूप से अर्थात् 'अक' तथा 'अ' कारभिन्न 'कृत्' स्त्री प्रत्यय के योग से और स्त्रीलिङ्ग भिन्न कृत्' प्रत्यय के योग से पूर्वोक्त 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' यह नियम विकल्प से होता है, वह कृत् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग हो या न हो इसका कोई आग्रह नहीं है। उदाहरण—'शब्दानामनुशासनम् आचार्येण आचार्यस्य वा'—आचार्यकर्तृक शब्दकर्मक अनुशासन अर्थात् आचार्य के द्वारा असाधु शब्द से साधु शब्दों का विवेचन[2]।

इस उदाहरण में अनुशासन शब्द 'अनु' पूर्वक 'शास् धातु से 'भाव' या

---

1. इदमपि वार्त्तिकम्। अकाकारप्रत्ययव्यतिरिक्तप्रत्यययोगे 'उभयप्राप्तौ इति नियमो विकल्प्यत इत्यर्थ—बाल मनोरमा, पृ० ६८६-६८७, पूर्वोक्त संस्करण।
2. अनुशासनम् असाधुभ्यो विवेचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६८७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

भात्वर्थं समझाने के लिये 'ल्युट्' (अनट्) प्रत्यय से बना है, जो स्त्रीलिङ्ग 'कृत्' प्रत्यय नहीं है, और यह 'ल्युट्' प्रत्यय पूर्वोल्लिखित 'स्त्रीप्रत्यययोरक कारयो र्नायं नियमः' इस वार्त्तिकोक्त 'अक' और 'अ' प्रत्यय से भिन्न है और यह स्त्रीप्रत्यय भी नहीं है, परन्तु नपुंसकलिङ्ग है। तथापि इस 'शब्दानामनु-शासनम्—' इत्यादि उदाहरण में 'अनुशासन' क्रिया के अनुक्त कर्त्ता आचार्य में षष्ठी विभक्ति विकल्प से हुई है। और अनुक्त कर्म 'शब्द' में नित्यप्राप्त षष्ठी विभक्ति हुई है।

६२५ क्तस्य च वर्तमाने। (२–३–६७)।

वर्त्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। 'न लोक—' (सू० ६२७) इति निषेधस्यापवादः। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा।

अनुवाद तथा विवृति—वर्त्तमानार्थक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी हो।

वर्त्तमानकालबोधक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा' – ये तीन उदाहरण वाक्य हैं, यथा (१) राज्ञां मतः–राजसमूहकर्त्तृक वर्त्तमान इच्छा का विषय, (२) राज्ञां बुद्धः–राजसमूहकर्त्तृक वर्त्तमान ज्ञान का विषय, (३) राज्ञां पूजितः—राज-समूहककर्तृक वर्त्तमान पूजा का आश्रय।

'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३-२-१८८) इस सूत्र से वर्त्तमानकाल के अर्थ समझाने के लिये 'क्त' प्रत्यय विहित हुआ है। उस 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग से कर्त्तृकारक में षष्ठी विभक्ति का विधान 'क्तस्य च वर्त्तमाने' सूत्र से किया गया है। 'मति बुद्धि—' इत्यादि सूत्रस्थ 'मति' शब्द का इच्छा अर्थ है। 'न लोक—' (सू ६२७) इति निषेधस्यापवादः'—'न लोकाव्यय-निष्ठाखलर्थतृणाम्' (२-३-६९) इस सूत्र से आगे चलकर 'निष्ठा' अर्थात् 'क्त' तथा 'क्तवतु' प्रत्ययान्त शब्द के योग से कर्त्तृकारक में षष्ठी का निषेध किया है। अब 'क्तस्य च वर्त्तमाने' यह सूत्र उक्त निषेध का अपवाद

क है। अर्थात् 'न लोक—' इत्यादिसूत्र से 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग
कर्तृकारक में षष्ठी का जो निषेध किया गया है वह निषेध वर्त्तमान-
नार्थक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग से नहीं लगेगा। तात्पर्य यह
कि वर्त्तमानार्थक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग से कर्तृकारक में षष्ठी
भक्ति होगी।

६६ **अधिकरणवाचिनश्च (२-३-६८)।**

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा।

अनुवाद तथा विवृत्ति—अधिकरणवाचक 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के योग
षष्ठी हो।

अधिकरण वाचक 'क्त' 'प्रत्यय से बने हुए शब्द के योग से यथासम्भव
र्ता तथा कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति हो। उदाहरण—(१) 'इदम् एषाम्
सितम्'—यह इनका आसन है। (२) 'इदम् एषां शयितम्'—यह इनकी
य्या है। (३) 'इदम् एषां गतम्'—यह इनका गमनमार्ग है। (४) 'इदम्
षां भुक्तम्'— यह इनका भोजनपात्र है।

उदाहरण वाक्यस्थ 'आसितम्', 'शयितम्', 'गतम्' तथा 'भुक्तम्' पद
क्रम अधिकरण अर्थ में 'आस्' धातु से 'क्त' प्रत्यय, 'शीङ्' (शी) धातु
तुसे 'क्त' प्रत्यय, 'गम्' धातु से 'क्त' प्रत्यय तथा 'भुज्' धातु से 'क्त'
त्यय जोड़कर बनाये गये हैं। 'आस्ते अस्मिन् अथवा आस्यते अस्मिन्
ति आसितम्'—इसमें रहता है, या इसमें रहा जाता है इस अर्थ
'आसित' शब्द का आसन अर्थ होता है। उसी प्रकार 'शेते अस्मिन्
ति शयितम्'—इस पर सोता है, इस अर्थ में 'शयित' शब्द का शय्या-
अर्थ होता है 'गतम्' शब्द भी 'गच्छति अस्मिन्'—इसमें जाता
इस अर्थ में गमनमार्ग का बोधक है तथा 'भुक्तम्' शब्द 'भुङ्क्ते अस्मिन्'—
समें भोजन करता है—इस अर्थ में भोजन पात्र का बोधक है। 'आसितम्',
यितम्' इत्यादि शब्द में धातु के साथ जो 'क्त' प्रत्यय है, वह 'क्तोऽधिकरणे
ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' (३-४-७६) इस सूत्रानुसार हुआ है।

पूर्वोल्लिखित 'क्लोऽधिकरणे च—' इत्यादि सूत्र में 'ध्रौव्य' शब्द तथा 'प्रत्यवसानं' शब्द हैं, उनकी व्याकरण शास्त्र में यथाक्रम अकर्मक तथा अभ्यवहार या भोजनार्थक के रूप से प्रसिद्धि है[1]।

पूर्वोक्त उदाहरण वाक्यस्थ 'एषाम्' पद में कर्त्तृकारक में षष्ठी विभक्ति है[2]।

यह 'अधिकरणवाचिनश्च' सूत्र 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् (२-३-६९)' सूत्र से 'निष्ठा' प्रत्यय (क्त, क्तवतु प्रत्यय) के योग से षष्ठी विभक्ति का जो निषेध किया गया है, उसका अपवाद या बाधक है[3]।

'अधिकरवाचिनश्च' सूत्र का उदाहरण देते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इस सूत्र से कर्त्ता आदि कारक में जहां पर जो सम्भव हो, षष्ठी विभक्ति होगी। जिस वाक्य में केवल कर्त्तृ कारक ही सम्भव है वहाँ कर्त्तृ कारक में ही षष्ठी होगी। यथा—'इदमेषामसितम्—यह इनका आसन है इस वाक्य में 'आस्' धातु अकर्मक होने से यहाँ कर्त्तृ कारक ही सम्भव है, कर्म कारक नहीं।

जिस प्रयोग में कर्म तथा कर्त्ता दोनों सम्भव है वहाँ दोनों कारकों में ही षष्ठी होगी। यथा—'इदम् एषां भुक्तम् ओदनस्य'—यह इनका अन्न भोजन का पात्र है। इस वाक्य में कर्त्तृ पद 'एषाम्' तथा कर्मपद 'ओदनस्य'—दोनों में ही षष्ठी विभक्ति हुई है। 'भुज्' धातु सकर्मक होने से उसके कर्ता के साथ 'ओदन' रूप कर्म भी है[4]।

---

१. ध्रौव्यार्था अकर्मका- प्रत्यवसानार्था अभ्यवहारार्था इति स्वनिकायप्रसिद्धि- काशिका वृत्ति (३–४–७६)। 'निकाय' शब्द का शास्त्र अर्थ है।

२. तत्र एषामिति कर्त्तरि षष्ठी—बालमनोरमा, पृ० ६८८, पूर्वोक्त संस्करण। कर्त्तरि षष्ठीयम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८८, पूर्वोक्त संस्करण।

३. 'न लोक—इति निषेधापवादः—बालमनोरमा, पृ० ६८८, अयमपि प्रतिषेधापवादो योगः—काशिकावृत्ति।

४. यथासम्भवं यत्र कर्त्तैव सम्भवति तत्र कर्त्तरि भवति, यथा—इदमेषामासितम्।

काशिका की पदमञ्जरी टीका में आचार्य हरदत्त जी ने भी इस आशय की बात कही है[1]। तत्त्वबोधिनी टीका में आचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वती जी ने यह बात कही है।[2]

इस 'अधिकरणवाचिनश्च' सूत्र की व्याख्याप्रसंग में काशिकावृत्ति की न्यास तथा पदमञ्जरी टीका में एक प्रश्न उठाया गया है कि 'अधिकरणे च' ऐसा संक्षिप्त सूत्र न कहकर 'अधिकरणवाचिनश्च' इस प्रकार सूत्र में 'वाचि' शब्द का ग्रहण क्यों किया गया है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि 'अधिकरणे च' ऐसा सूत्र कहने पर कदाचित् अधिकरणे विहित 'क्त' प्रत्यय अधिकरण के साथ अन्य अर्थ का उपलक्षण के रूप से ज्ञात हो सकता है। अन्यार्थक स्थल में भी 'ध्रौव्यगति प्रत्यवसानार्थक' धातु से उत्पन्न 'क्त प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति की आपत्ति हो सकती है। सूत्र में 'वाचि' का पदविन्यास करने से जहाँ 'क्त' प्रत्यय अधिकरण का वाचक है, लक्षक नहीं, केवल वहीं षष्ठी होगी, अन्यत्र नहीं—यह प्रतीत होता है। यथा भाववाच्ये 'क्त' प्रत्यय होने पर 'इह अनेन आसितम्' इस वाक्य में 'अनेन' पद कर्तृकारक में तृतीया ही होगी षष्ठी नहीं। उक्त वाक्य में 'क्त' प्रत्यय अधिकरणवाचक नहीं है[3]।

अत्रासेरकर्मकत्वात् कर्त्तैव सम्भवति न कर्म। यत्र तु कर्म कर्त्ताऽपि सम्भवति तत्रोभयत्रापि, यथा—इदमेषां भुक्त मोदनस्येति। भुजेः सकर्मकत्वात् कर्माऽपि अस्त्येव ओदनः—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २२९, प्रा० भा० प्रकाशन।

१. पदमञ्जरी (काशिका, भाग २), पृ० २२९, पूर्वोक्त संस्करण।

२. तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. 'अधिकरणेचेति' वक्तव्ये 'वाचि' ग्रहणम् अधिकरणक्तोपलक्षणं मा विज्ञायीत्येवमर्थम्। उपलक्षणार्थत्वे हि तस्यार्थान्तरवृत्तेरपि ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्य उत्पन्नस्य क्तस्य प्रयोगे षष्ठी स्यात्। 'वाचि'ग्रहणे तु यदा भावे क्त प्रत्ययो भवति तदा षष्ठी न भवति। तदा कर्त्तरि तृतीयैव भवति—इहानेन आसितमिति। नह्यत्र अधिकरणवाची क्तः—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २२९, प्रा० भा० प्रकाशन, पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २), पृ० २२९ पूर्वोक्त संस्करण।

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध में कृष्ण भगवान् के विरह में गोपिकाएँ उनको देखने की इच्छा से मुकुन्द भगवान का आसन, गमनमार्ग तथा भोजन पात्र की चर्चा कर रही थीं। वहाँ का श्लोक इस सूत्र का एक सुन्दर उदाहरण है, यथा—

'मुकुन्दस्यासितमिदमिदं यातं रमापतेः।
भुक्त मेतदनन्तस्येत्युचुर्गोप्यो दिदृक्षवः॥

६२७ न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। (२–३–६९)

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात्। लादेशाः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। उः—हरिं दिदृक्षुः—अलङ्करिष्णु र्वा। उकः—दैत्यान् घातुको हरिः। 'कमे-निषेधः' (वा० १५१९)। लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्—जगत् सृष्ट्वा सुखं कर्त्तुम्। निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः, दैत्यान् हतवान् विष्णुः। खलर्थाः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा। तृन् इति प्रत्याहारः 'शतृशानचौ'-इति तृशब्दादारभ्य आतृनो नकारात्। शानन्—सोमं पवमानः। चानश्-आत्मानं मण्डयमानः। शतृ—वेदमधीयन्। तृन्—कर्त्ता लोकान्। 'द्विषः शतु र्वा' (वा० १५२२)। मुरस्य मुरं वा द्विषन्। सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः शेषे षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः।

अनुवाद तथा विवृति—लादेश, 'उ' प्रत्ययान्त शब्द, 'उकञ्' प्रत्ययान्त शब्द, अव्यय, निष्ठा (क्त और क्तवतु) प्रत्ययान्त शब्द, खलर्थ प्रत्ययान्त शब्द (अर्थात् 'खल्' प्रत्ययान्त शब्द, 'शानन्' और 'चानश्' प्रत्ययान्त शब्द तथा 'तृन्' प्रत्ययान्त शब्द—इनके योग से (अनभिहित) कर्त्ता में कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो।

यह 'लोकाव्ययनिष्ठा—' इत्यादिसूत्र पूर्वोक्त 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' (२-१-६५) सूत्र का अपवाद है। अर्थात् यह सूत्र उक्त सूत्र से प्राप्त षष्ठी विभक्ति का निषेध करता है।

'न लोकाव्ययनिष्ठा—' इत्यादिसूत्रस्थ 'लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' पद का पदच्छेद इस प्रकार है—ल, उ, उक, अव्यय, खलर्थ तथा तृन्।

प्रत्ययान्त शब्दों के योग से षष्ठी विभक्ति न हो। 'लोकाव्यय—' इत्यादि समासबद्ध पद है। उसका विग्रह वाक्य प्रौढ़मनोरमा में इस प्रकार से आरम्भ किया गया है—उश्च उकश्च 'उकौ', लश्च उकौ च 'लोकौ' इसके बाद लोकौ च अव्ययं च निष्ठा च खलर्थश्च तृन् चेति 'लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनः', तेषाम्–इस रूप से समूचे पद का विग्रह वाक्य कहना है।

सूत्रस्थ 'ल' शब्द से साधारणरूप से 'लट्' आदि का ग्रहण किया गया है। 'ल' का साक्षात् प्रयोग न होने से 'ल' के स्थान में जो आदेश हैं या 'ल'कार के साथ जो सम्बन्धित हैं, उनको लिया जाता है[1]।

उदाहरण—लादेशाः-कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः–सृष्टि को करता हुआ (भगवान्) हरि। यहाँ एक साथ दो उदाहरण वाक्य कहे गये हैं, यथा—(१) कुर्वन् सृष्टिं हरिः; (२) कुर्वाणः सृष्टिं हरिः। इन उदाहरणों में 'कुर्वन्' तथा 'कुर्वाण' पद 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३-२-१२४) सूत्र से 'कृ' धातु से यथाक्रम 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्यय हुए हैं।

उः इति।—'उ' प्रत्ययान्त शब्द प्रयोग का उदाहरण—'हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णु र्वा। यहाँ भी दो उदाहरण वाक्य हैं। (१) हरिं दिदृक्षुः; (२) हरिम् अलङ्करिष्णुः। 'उ' शब्द से केवल 'उ' प्रत्यय तथा उकारान्त प्रत्यय को समझना 'उ' प्रत्ययान्त शब्द के योग से षष्ठी निषेध का पहला वाक्य उदाहरण है—'हरिं दिदृक्षुः—हरि को देखने को इच्छुक। इस उदाहरण में 'दिदृक्षुः' पद 'दृश्' धातु से इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय के बाद

१. ल इति लडादीनां सामान्यग्रहणम्, तेषां साक्षात्प्रयोगो न सम्भवतीति तदादेशा गृह्यन्ते—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६८८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। ल इति लडादीनां सामान्येन ग्रहणम्। तेषां साक्षात्प्रयोगाभावात् तदादेशग्रहणमिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६८८, पूर्वोक्त संस्करण। लादेशा इति। लकारसम्बन्धिन इत्यर्थः······केवल 'ल'स्य क्वापि प्रयोगाभावासम्भवादेवं व्याख्यातम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७६७, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

'सनाशंसभिक्ष उः (३-२-१६८) सूत्र से 'उ' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है।

द्वितीय उदाहरण वाक्य 'हरिम् अलङ्करिष्णुः'—हरि को अलङ्कृत करने को इच्छुक इस वाक्य के अन्तर्गत 'अलङ्करिष्णुः' पद 'अलंकृञ् निराकृञ् प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्' (३-२-१३६) सूत्र से 'अलम्' अव्ययपूर्वक 'कृञ्' (कृ) धातु से 'इष्णुच्' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है। यह 'इष्णुच्' प्रत्यय उकारान्त प्रत्यय है। 'इष्णुच्' प्रत्ययान्त 'अलङ्करिष्णुः' शब्दके योग से अनुक्त कर्म 'हरि' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का अपवाद होने पर कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

उक इति। अब 'उकञ्' (उक) इस कृत्प्रत्ययान्त शब्द के योग में षष्ठी निषेध का उदाहरण दिया जा रहा है।

'दैत्यान् घातुको हरिः'—दैत्यों को मारनेवाला (भगवान्) हरि—इस उदाहरण में 'लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्' (३-२-१५४) सूत्रानुसार 'हन्' धातु के साथ 'उकञ्' प्रत्यय जोड़कर कृदन्त 'घातुक' शब्द बना है। इसके योग से 'हनन' क्रिया के अनभिहित (अनुक्त) कर्म 'दैत्य' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का निषेध होने पर कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

'कमेरनिषेधः' (वा० १५१६)—'उक' प्रत्ययान्त 'कम्' धातु के योग से षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है। 'उदाहरण—'लक्ष्म्याः कामुकः हरिः'—लक्ष्मी के लिये इच्छुक (भगवान्) हरि।

इस उदाहरण में 'कम्' धातु के साथ पूर्वोल्लिखित 'लषपत' इत्यादि सूत्रानुसार—'उकञ्' कृत्यय जोड़ने से कामुक पद सिद्ध हुआ है। इस पद के योग से 'कम्' धात्वर्थ कामना क्रिया के अनुक्त कर्म 'लक्ष्मी' में जो षष्ठी विभक्ति 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्रानुसार प्राप्त है, उसका निषेध नहीं होता है—अर्थात् षष्ठी विभक्ति रह जाती है।

ग्ययम्'—अब कृत्प्रत्ययान्त अव्यय शब्द के योग में षष्ठी विभक्ति के का उदाहरण दिया जा रहा है—यथा, 'जगत् सृष्ट्वा' (जगत् की रके)। इस वाक्य में 'सृष्ट्वा' यह पद सृष्ट्यर्थक 'सृज्' धातु से कर्तृकयोः पूर्वकाले 'क्त्वा' (३-४-२१) इस सूत्रानुसार 'क्त्वा प्रत्यय र बनाया गया है। और 'क्त्वातोसुन्कसुनः' (१-१-४०) इस सूत्रा- 'क्त्वा' प्रत्ययान्त 'सृष्ट्वा' पद अव्ययसंज्ञक हुआ है। इस पद के 'सृज्' धात्वर्थ सर्जन (सृष्टि) का अनुक्त कर्म 'जगत्' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होने से कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

प्रसंग में दूसरा उदाहरण—'सुखं कर्त्तुम्'—(सुख करने के लिये)। दाहरण वाक्य में 'कर्त्तुम्' पद 'कृ' धातु से 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां र्थायाम्' (३-३-१०) सूत्रानुसार 'तुमुन् प्रत्यय जोड़कर बनाया गया और यह 'कर्त्तुम्' पद मकारान्त 'कृत्' प्रत्यय से बनने से 'कृन्मेजन्तः' १-३९) सूत्रानुसार अव्ययसंज्ञक हुआ है। इस 'कर्त्तुम्' पद के योग से धात्वर्थ 'करण' क्रिया का अनुक्त कर्म सुख में जो षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, निषेध हो गया है और कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हो गयी है।

अव्यय के प्रसंग में किसी-किसी आचार्य का (रक्षित नामक का) मत यह है कि इस सूत्र में उल्लिखित 'अव्यय' से 'कृत्' न्त अव्यय को ही लेना है। परन्तु बालमनोरमाकार वासुदेव दीक्षित मत है कि यहाँ अव्यय से किसी भी प्रकार के अव्यय को समझना, कृदव्यय को नहीं।[1] अतएव 'देवदत्तं हिरुक्'—देवदत्तकर्मक वर्जन— र्थ में 'हिरुक्' इस कृदन्तभिन्न अव्ययपद के योग से षष्ठी का होगा।

---

[1] इह कृदव्ययमेव गृह्यत इति केचित्। वस्तुतस्तु अविशेषादकृदन्त मपीति तत्त्वम्। देवदत्तं हिरुक्। तत्कर्मकं वर्जनमित्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६८९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

निष्ठा इति । 'निष्ठा' (क्त, क्तवतु) प्रत्ययान्त शब्द के योग से कर्त्ता
षष्ठी के निषेध का उदाहरण दिया जा रहा है—

'क्तक्तवतू निष्ठा' (१-१-२५) इस सूत्र से 'क्त' और 'क्तवतु'
दोनों 'कृत्' प्रत्ययों को 'निष्ठा' संज्ञा दी गयी है ।

'विष्णुना हता दैत्याः'—विष्णु (भगवान्) के द्वारा दैत्य लोग
गये । इस वाक्य में 'हताः' पद 'हन्' धातु से कर्मवाच्य में 'निष्ठा' (
प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है । इसके योग से 'हन्' धातु से कर्मवा
'निष्ठा' (क्त) प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है । इसके योग से 'हन्'
'हनन' क्रिया के अनुक्त कर्त्ता 'विष्णु' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का निषेध
गया है । तब अनभिहित कर्त्तृकारक में 'कर्त्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र
तृतीया विभक्ति हुई है ।

'निष्ठा' प्रत्ययान्त शब्द के योग से षष्ठीनिषेध का दूसरा उदाहरण
'दैत्यान् हतवान् विष्णुः'—विष्णु (भगवान्) ने दैत्यों को मारा
वाक्य में 'हतवान्' पद 'हन्' धातु से कर्त्तृवाच्य में 'निष्ठा' (
प्रत्यय जोड़कर बनाया गया है । इस पद के योग से 'हन्' धात्वर्थ
क्रिया के अनभिहित (अनुक्त) कर्म 'दैत्य' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का
हो गया है और कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है ।

खलर्थाः इति । अब 'खलर्थ' कृत् प्रत्ययान्त शब्द के योग से
विभक्तिनिषेध का उदाहरण दिया जा रहा है—

'ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा' (भगवान्) हरि के द्वारा प्रपञ्च
को बनाना सरल है । इस वाक्य में 'इषत्करः' पद 'ईषत्' शब्द
रहते 'कृ' धातु से 'अकृच्छ्र' (सरलता) अर्थ में 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्रा
र्थेषु खल्' (३-३-१२६) इस सूत्र से 'खल्' प्रत्यय जोड़कर बनाया
है । इसके योग से 'कृ' धात्वर्थ 'करण' क्रिया के अनभिहित कर्त्ता
कर्त्तृ करणयोस्तृतीया' सूत्र से तृतीया विभक्ति हुई है ।

'तृन्' इति प्रत्याहारः इति। 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' सूत्र में जो शब्द उल्लिखित हुआ है, वह 'तृन्' प्रत्यय नहीं है, परन्तु वह एक 'हार' है। अब स्वभावतः मन में यह प्रश्न उठता है कि इस 'तृन्' हार' में किन्-किन् पदार्थोंका संक्षेप किया गया है, इस जिज्ञासा के उत्तर हते हैं—'तृन्' इति प्रत्याहारः शतृशानचाविति 'तृ'शब्दारभ्य आतृनो रात—अर्थात् 'न लोकाव्यय—इत्यादि सूत्रस्थ 'तृन्' एक प्रत्याहार'[1] है।

अब प्रश्न उठता है कि यह प्रत्याहार कहाँ से लेकर कहाँ तक है ? इसके में कहते हैं—'शतृशानचाविति 'तृ' शब्दादारभ्य आतृनो नकारात्'। 'लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे' (३-२-१२४) इस के द्वारा विहित 'शतृ' प्रत्यय के अन्तर्गत 'तृ' से लेकर 'तृन्' (३-२-१३५) के अन्तर्गत 'न्' तक 'तृन्' यह प्रत्याहार है। इस प्रत्याहार के भीतर 'शानन्' 'चानश्' प्रत्यय भी संगृहीत होते हैं। 'पूङ्यजोः शानन्' (३-२-१२८) से 'पूङ्' धातु तथा 'यज्' धातु से 'शानन्' प्रत्यय विहित हुआ है। इसी र 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३-२-१२९) सूत्र से धातु के 'चानश्' प्रत्यय होता है। इस 'प्रत्याहार के भीतर 'लटः शतृशानचाव-समानाधिकरणे' इस सूत्रविहित 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्यय को नहीं है। 'शतृ' का एकदेश 'तृ' शब्द को भी नहीं लेना, कारण 'शतृ' का 'तृ' शब्द का कहीं पृथक् प्रयोग नहीं होता है। 'शानच्' प्रत्यय भी श' होने के नाते प्राप्त होता है। 'शतृ' प्रत्यय भी 'लादेश' के रूप से ही हो जाता है[2]।

शानन्—सोमं पवमानः। 'शानन्' प्रत्ययान्त शब्द के योग से कृद्योग

---

1. प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्र इति प्रत्याहारः—तत्त्वबोधिनी, पृ० १२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

2. अत्र शानन्नादितृन्नन्तानां ग्रहणम्, न तु 'लटः शतृ—' इति 'तृ' शब्दस्यापि शत्रा-देशैकदेशस्य, तस्य क्वापि पृथक् प्रयोगानर्हत्वात्। नापि शानचः, लादेशत्वादेव सिद्धेः, इति स्थितिः—बालमनोरमा, पृ० ६६०, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

षष्ठी निषेध का उदाहरण 'सोमं पवमानः'—सोम (रस) को [illegible] हुआ। इस उदाहरणस्थ 'पवमानः' पद 'पू' धातु से कर्त्तृवाच्य में '[illegible] शानन्' (३-२-१२८) सूत्र से 'शानन्' प्रत्यय होने के कारण कर्म [illegible] अनुक्त हुआ है। अतः 'पू' धात्वर्थ 'पवन' क्रिया के अनुक्त कर्म में प्राप्त [illegible] का निषेध हो जाने से अनुक्त कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

'चानश्'—आत्मानं मण्डयमानः। 'चानश्' प्रत्ययान्त शब्द के यो[illegible] कृद्योग षष्ठी निषेध का उदाहरण 'आत्मानं मण्डयमानः'—अपने को [illegible] हुआ। इस उदाहरणस्थ 'मण्डयमानः' पद मण्डनार्थक 'मडि' धातु से [illegible] वाच्य में 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३-२-१२९) सूत्र से '[illegible] प्रत्यय होने पर बनता है। इस 'मण्डयमानः' पद के योग से 'मडि' [illegible] 'मण्डन' क्रिया के अनुक्तकर्म 'आत्मा' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का निषेध [illegible] पर कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हुई है।

शतृ—वेदमधीयन्।

'वेदम् अधीयन्—वेद को पढ़ता' हुआ—इस वाक्य के द्वारा '[illegible] शत्रकृच्छ्निनि' (३-२-१३०) इस सूत्रविहित 'शतृ' प्रत्ययान्त '[illegible] शब्द के योग से अनुक्त कर्म वेद में 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से प्राप्त [illegible] विभक्ति के निषेध का उदाहरण दिया जा रहा है। 'वेद' में षष्ठी वि[illegible] निषिद्ध होने से अनुक्त कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो गयी है।

'ध्यान रहे यह 'शतृ' प्रत्यय और पूर्वोक्त 'शानच्' का सहचारी [illegible] लादेश है। इसलिये 'वेदमधीयन्' में परस्मैपद का भ्रम न करना चा[illegible] लादेशों के विषय में ही परस्मैपद और आत्मनेपद की व्यवस्था है, इस [illegible] प्रत्यय के विषय में नहीं। इसी प्रकार 'चानश्' और 'शानन्' के विष[illegible] भी आत्मनेपद की शङ्का न करनी चाहिये[1]।

---

१. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (विभक्त्यर्थप्रकरण) पृ० १७५, श्रीधरानन्द शास्त्री मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।

तृन्—कर्त्ता लोकान् ।

'कर्त्ता लोकान्'—लोक को करने वाला—इस वाक्य के द्वारा 'कृ' धातु 'तृन्' (३-२-१३५) इस सूत्रविहित 'तृन् प्रत्यय निष्पएण 'कर्त्तृ' शब्द योग में अनुक्त कर्म 'लोक' में 'कर्त्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से प्राप्त षष्ठी विभक्ति के निषेध का उदाहरण दिया जा रहा है। 'लोक' में प्राप्त षष्ठी का निषेध होने से अनुक्त कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हो गयी है।

'द्विषः शतु र्वा' (वा० १५२२) मुरस्य मुरं वा द्विषन् ।

'द्विषः शतु र्वा'—यह एक वार्त्तिक सूत्र है। इस वार्त्तिक का अर्थ यह है 'द्विष्' धातु से जब अमित्र या शत्रु अर्थ में 'द्विषोऽमित्रे' (३-२-३१) सूत्रानुसार 'शतृ' प्रत्यय होता है, तब उस 'शतृ' प्रत्ययान्त शब्द के याग से कर्मकारक 'मुर' में प्राप्त षष्ठी विभक्ति का विकल्प से निषेध हो। उदाहरण, 'मुरस्य मुरं वा द्विषन्'—मुर नामक राक्षस का शत्रु। इस वाक्य में कर्मकारक 'मुर' में षष्ठी और द्वितीया दोनों बिभक्तियाँ हुईं हैं।

'द्विषन्' में 'द्विष्' धातु से जो 'शतृ' विहित हुआ है वह भी 'लट्' के स्थान में 'आदेश' नहीं है, परन्तु एक 'प्रत्यय' है। अतः 'द्विषन्' पद में भी परस्मै पद का भ्रम नहीं करना।

'सर्वोऽयं कारकषष्ठ्या प्रतिषेधः। शेषे षष्ठी तु स्यादेव।'

यह जो षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है वह कारकषष्ठी का ही निषेध है। सम्बन्ध विवक्षा में 'शेषे षष्ठी तो सर्वत्र ही अवश्य हो सकता है।

उदाहरण—

'ब्राह्मणस्य कुर्वन्'—ब्राह्मण को करता हुआ या बनाता हुआ (भगवान् हरि)।

इसके लिये ही दूसरा उदाहरण—नरकस्य जिष्णु—नरकासुर को जीतनेवाला—इन उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में 'कृ' धातु से लादेश 'शतृ'—कृत् प्रत्ययान्त शब्द के प्रयोग से 'कृ' धात्वर्थ—'करण' क्रिया के अनुक्त कर्म 'ब्राह्मण' में प्राप्त कारकषष्ठी का निषेध होने पर भी धात्वर्थ

क्रिया के कर्म ब्राह्मण के साथ क्रिया का जो सम्बन्ध है उसीको समझाने के लिये फिर षष्ठी विभक्ति हो गयी है। इसी प्रकार 'नरकस्य जिष्णु' इस द्वितीय उदाहरण में भी समझ लेना है। सम्बन्ध षष्ठी और कारकषष्ठी के स्थल में परस्पर शाब्दबोध में अन्तर पड़ता है।

'न लोकाव्ययनिष्ठा—' इत्यादिसूत्र से कारक षष्ठी का ही निषेध किया गया है, सम्बन्ध षष्ठी का नहीं, इसका कारण यह है कि 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस परिभाषा के अनुसार समीपवर्ती के बारे में ही या तो विधि या तो निषेध होता है। अतः 'न लोकाव्यय—' इत्यादि षष्ठी निषेध करनेवाले सूत्र से उस सूत्र के समीप में स्थित सूत्र के द्वारा विहित कारक षष्ठी का ही निषेध होगा, दूरस्थ 'षष्ठी शेषे' सूत्र विहित षष्ठी का नहीं होगा।

सूत्रों का परस्पर दूरत्व या निकटत्व पाणिनि कृत मूल अष्टाध्यायी के सूत्रपाठ क्रम के आधार पर ही समझना है।

६२८ अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः (२–३–७०)।

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं गामी।

अनुवाद तथा विवृति—'भविष्यत् अर्थ में विहित 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य अर्थ में विहित 'इन्' प्रत्ययों के योग से षष्ठी न हो।

भविष्यत् काल में विहित 'अक' प्रत्ययान्त शब्द तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य अर्थबोधक 'इन्' प्रत्ययान्त शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति न हो। उदाहरण, 'सतः पालकोऽवतरति'—भविष्यत् में सज्जन को पालनेवाला अवतार ग्रहण करता है।

'व्रजं गामी'—भविष्यत् काल में गोष्ठ में जानेवाला। शब्देन्दुशेखर में 'व्रजं गमी' यह उदाहरण दिया गया है। 'भविष्यति गम्यादयः' (३.३.३)

सूत्र के अनुसार 'गम्' धातु से भविष्यत् कालिककर्त्ता अर्थ में औणादिक 'इनि'[1] प्रत्यय जोड़ने से 'गमी' शब्द बनता है।

'व्रजं गामी' इस उदाहरण वाक्य में जो 'गामी' शब्द है, वह 'बाहुल-काद् वृद्धिः'[2] इस वचन के अनुसार सिद्ध हुआ है। अर्थात् 'उणादयो बहुलम्' इस उणादि सूत्र में जो 'बहुलम्' पद है उससे ही 'गमी' के स्थल में 'गामी' बन सकता है।

'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२-३-६९) सूत्र से इस सूत्र में 'न' की अनुवृत्ति की जाती है।

सूत्रस्थ 'अकेनोः' पद 'अकश्च इन् च तयोः' इस प्रकार विग्रह से बनता है। उसी प्रकार सूत्रस्थ 'भविष्यदाधमर्ण्ययोः' पद भी 'भविष्यच्च आधमर्ण्यं च तयोः' इस प्रकार विग्रह से बनता है।

सूत्र की व्याख्या में 'सूत्रस्थ 'अकेनोः' पदार्थ के साथ 'भविष्यदाधमर्ण्ययोः' पदार्थ का यथाक्रम अन्वय करना इष्ट नहीं है। कारण यथासंख्य यथाक्रम अन्वय सम्भव नहीं है[3]। 'अक' प्रत्यय का 'भविष्यत्' काल में विधान किया गया है, और 'इनि' प्रत्यय का 'भविष्यत्' तथा 'आधमर्ण्य' अर्थों में विधान किया गया है। महाभाष्य में भी इस सूत्र की व्याख्या में 'अकस्य भविष्यति' 'इन आधमर्ण्ये च' इस प्रकार योग विभाग से 'अकस्य भविष्यतीति वक्तव्यम्' 'तत इन आधमर्ण्ये भविष्यति चेति वक्तव्यम्'—अर्थात् 'अक' प्रत्यय भविष्यत् काल में और 'इन्' प्रत्यय भविष्यत् तथा आधमर्ण्य अर्थ में विहित हुआ है, ऐसा उपदेश करना चाहिये—इस प्रकार कहा गया है। इसी प्रकार काशिकावृत्ति में भी इस सूत्र की व्याख्या में कहा गया है 'अकस्य भविष्यति काले विहितस्य, इनस्तु भविष्यति

1. लघुशब्देन्दु० पृ० ७६९, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।
2. 'गमेरिनिः' इत्यौणादिक इनिः सच भविष्यति।
3. अत्र यथासङ्ख्यं नेष्यते, अकस्याधमर्ण्येऽसम्भवात्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७३८, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

चाधमर्ण्ये च विहितस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्ति नं भवति ।' अर्थात् भविष्यत् काल में विहित 'अक' प्रत्यय के, तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य अर्थ में विहित 'इन्' प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती । न्यास टीका में इस काशिकावृत्ति की व्याख्या प्रसङ्ग में कहा गया है 'अकस्य भविष्यति काले इति । नाधमर्ण्ये, तस्य तत्रासम्भवात् । इनस्तु भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति तस्योभयोरपि सम्भवात् ।' अर्थात् 'अक' प्रत्यय का भविष्यत् काल में, आधमर्ण्य में नहीं, कारण उसका ('अक' प्रत्यय का) वहाँ (आधमर्ण्य अर्थ में) अन्वय सम्भव नहीं है 'इन्' प्रत्यय का 'भविष्यत् काल' तथा 'आधमर्ण्य' दोनों अर्थों में विधान किया गया है, कारण 'इन्' प्रत्यय दोनों अर्थों में सम्भव है ।

इस सूत्र के उदाहरण के लिये 'सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी— ये तीन वाक्य कहे गये हैं ।

प्रथम उदाहरण वाक्य 'सतः पालकोऽवतरति' है । इसका अर्थ भविष्य में सज्जनों के पालनेवाले (भगवान् हरि) आविर्भूत हो रहे हैं[1] । इस वाक्य में 'सतः' पद 'शतृ'प्रत्ययान्त 'सत्' शब्द के पुंलिङ्ग द्वितीया बहुवचनान्त है ।

द्वितीय उदाहरण—'व्रजं गामी (गमी)'—भविष्य में गोष्ठ (गोचारण भूमि में) जानेवाला ।

तृतीय उदाहरण—'शतं दायी'—सौ (रुपये का) देनदार—ऋण रूप से गृहीत सौ रुपये लौटा देता है—इस वाक्य के अर्थ विचार प्रसंग में बालमनोरमा टीका में कहा गया है कि 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' (३-३-१७०) सूत्र से 'दायी' पद में आधमर्ण्य (कर्जदारी) अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय हुआ है । इस 'णिनि' प्रत्यय का भविष्यत् अर्थ में विधान होने के कारण भविष्यदर्थक करके मानकर यह 'णिनि' प्रत्यय गतार्थक है अर्थात् अलग से आधमर्ण्यार्थक करके 'णिनि' प्रत्यय का उल्लेख करता है

१. सज्जनान् पालयिष्यन् हरिः प्रादुर्भवतीत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६१, गिरिधर शर्मा संस्करण ।

है—ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये[१]। इस उदाहरण वाक्य में 'दायिन्' शब्द के प्रयोग में दान क्रिया के अनुक्त कर्म शत में इस सूत्रानुसार कारक षष्ठी न होकर कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति हो गयी है।

सूत्र में उल्लिखित 'इनि' प्रत्यय से 'कृत्' प्रत्यय 'णिनि', तथा उणादि प्रत्यय 'इनि'— इन दोनों प्रत्ययों को समझना है।

६३१ कृत्यानां कर्त्तरि वा (३–३–७१)

षष्ठी स्यात्। मया मम वा सेव्यो हरिः।

अनुवाद तथा विवृति—'कृत्य' संज्ञक प्रत्ययान्त शब्दों के योग में (अनुक्त) कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो।

'कृत्याः प्राङ् ण्वुलः (३-१-९५) इस सूत्र के अधिकार में विहित कतिपय 'कृत्' प्रत्ययों (तव्य, तव्यत्, अनीयर, क्यप्, यत्, ण्यत् आदि) को 'कृत्य' संज्ञा दी गयी है। उनके योग से (अनुक्त) कर्त्ता में विकल्प से हो। 'कर्तृ कर्मणोः कृति' (२-३-६५) सूत्र से नित्य कारक षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति दशा में यह विकल्प कहा जा रहा है[२]।

उदाहरण—'मया मम वा सेव्यो हरिः'—मुझको (भगवान्) हरि की सेवा करनी चाहिये। इस वाक्य में सेवार्थक 'सेव्' (षेवृ सेवायाम्) धातु से कर्मवाच्य में 'ऋहलोर्ण्यत्' (३-१-१२४) सूत्र से ण्यत् प्रत्यय जोड़ने पर 'सेव्य' शब्द बनता है। उस शब्द के प्रयोग में 'सेव्' धात्वर्थ 'सेवन' क्रिया के (अनुक्त) कर्त्ता 'अस्मत्' से नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्ति दशा में इस सूत्र से विकल्प कहा गया है। जब षष्ठी नहीं होती, तब कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हो।

---

१. शतं दायीति। ऋणत्वेन गृहीतं शतं प्रत्यर्पयतीत्यर्थः। 'आवश्यकाधमर्ण्ययो र्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिः। तस्य भविष्यति विधानाभावाद् भविष्यदर्थकतयागतार्थत्वं न शङ्क्यम्—बालमनोरमा, पृ० ६९१, पूर्वोक्त संस्करण।

२. 'कर्तृकर्मणोः—' इति नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम्—बालमनोरमा, पृ० ६९२, म० म० गिरिधर शर्मा—संस्करण

'कर्त्तरि किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम्'—इस सूत्र में 'कर्त्तरि' यह पद क्यों कहा गया है ?

इसके उत्तर में सूत्रस्थ 'कर्त्तरि' पद का पदकृत्य बतलाने के लिये कह रहे हैं 'गेयो माणवकः साम्नाम्'—माणवक (लड़का) साम का गान कर्त्ता है। इस प्रत्युदाहरण वाक्य में जो 'गेयः' पद है, वह 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' (३-४-६८) सूत्र से गानार्थक 'गै' धातु से कर्तृवाच्य में 'यत्' प्रत्यय जोड़कर 'निपातन' में सिद्ध हुआ है। इसका विकल्प में 'गानकर्त्ता' अर्थ होता है। जब 'गानकर्त्ता' अर्थ होता है तब यह प्रत्युदाहरण दिया जाता है। 'गेयः' पद के साथ जो 'यत्' प्रत्यय है, उसके द्वारा जब कर्त्ता अभिहित होता है, तब कर्म अनुक्त रह जाता है। इस स्थिति में 'सामन्' रूप अनुक्त कर्म में 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२-३-६६) इस सामान्यसूत्र से कर्म में नित्य षष्ठी विभक्ति हुई है। अतः कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति का निषेध करके नित्य षष्ठी के विधान के लिये सूत्र में 'कर्त्तरि' कहा गया है[1]।

'अत्र योगो विभज्यते—कृत्यानाम्। 'उभयप्राप्तौ' इति 'न' इति चानुवर्त्तते। तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन।'

इस सूत्र में (भाष्यकार के द्वारा) योगविभाग किया गया है। अर्थात् 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इस सूत्र को तोड़कर 'कृत्यानाम्' और 'कर्त्तरि वा'—ये दो सूत्र बनाये गये हैं।

प्रथम जो 'कृत्यानाम्' सूत्र हुआ है, उस में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२-३-८) सूत्र से 'उभयप्राप्तौ' पद की अनुवृत्ति होती है, और 'न लोकाव्ययनिष्ठा—' (२-३-६९) सूत्र से 'न' की भी अनुवृत्ति होती है। तब 'कृत्यानाम्' सूत्र का अर्थ होता है—'कृत्य' प्रत्यय के प्रयोग से कर्त्ता तथा कर्म—दोनों में प्रसक्त षष्ठी विभक्ति नहीं होती।

महाभाष्यकार के द्वारा 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इस सूत्र का योग विभाग

१. कर्मनिवृत्त्यर्थं कर्तृग्रहणम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७६९, गु० प्र० शास्त्री।

करके कृत्यानाम्' और 'कर्त्तरि वा'—ये दो सूत्र बनाने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार से योगविभाग न करने पर 'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' इस वाक्य में 'कृत्य' संज्ञक 'तव्य प्रत्ययान्त 'नेतव्याः' पद के योग से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२ ३-८) इस सूत्र को बाधित करके कर्त्ता 'कृष्ण' में षष्ठीविभक्ति विकल्प से प्राप्त हो जाती है, और 'व्रज' से 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२-३-६५) सूत्र से नित्य षष्ठीविभक्ति की प्राप्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में 'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' इस वाक्य के स्थल में 'नेतव्या व्रजस्य गावः कृष्णस्य' इस प्रकार विकल्प से कर्त्ता 'कृष्ण' में षष्ठी और कर्म 'व्रज' में नित्य षष्ठी विभक्ति की आपत्ति हो जाती है[1]। यह आपत्ति इष्ट नहीं है।

अब योगविभाग करने पर यह आपत्ति कैसे दूर होती है, यह देखना है। 'कृत्यानाम्' इस प्रकार योग विभाग करने पर 'कृत्यानाम्' सूत्र में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' तथा 'न लोकाव्ययनिष्ठा—' सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति मानने पर 'कृत्य' प्रत्यय के योग से 'कर्त्ता' तथा 'कर्म दोनों में प्रसक्त षष्ठी विभक्ति नहीं होगी। अतः 'नेतव्या व्रजस्य गावः कृष्णस्य' इस प्रकार अनिष्ट प्रयोग नहीं होगा।

'ततः कर्त्तरि वा। उक्तोऽर्थः।'—

'कृत्यानां कर्त्तरि वा' सूत्र का योग विभाग करने पर अवशिष्ट द्वितीय भाग 'कर्त्तरि वा'—यह होता है। इसका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है। अर्थात् इसकी अनुवृत्ति करने पर 'कृत्य' प्रत्यय के योग से 'कर्त्ता' में विकल्प से षष्ठी हो।

६३० तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। (२-३-७२)

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात्, पक्षे षष्ठी। तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेण वा। अतुलोपमाभ्यां किम्? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

---

१. ननु 'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' इत्यत्र कृत्यसंज्ञकतव्यप्रत्यययोगात् 'उभयप्राप्तौ—' इति बाधित्वा कृष्णात् षष्ठीविकल्पः स्यात्, व्रजात्तु 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति नित्यं षष्ठी स्यादित्यत आह—अत्र योगो विभज्यत इति—बालमनोरमा, पृ० ६९२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

अनुवाद तथा विवृत्ति—'तुला' और उपमा शब्द से भिन्न तुल्यार्थक शब्दों के योग से विकल्प में तृतीया हो।

तुल्यार्थक शब्दों के योग से विकल्प में तृतीया विभक्ति हो (अपर) पक्ष में षष्ठी विभक्ति (हो)।

उदाहरण—'तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णेण कृष्णस्य वा'—ये तीन उदाहरण वाक्य हैं—(१) 'कृष्णेण कृष्णस्य वा तुल्यः'—कृष्ण के बराबर, (२) 'कृष्णेण कृष्णस्य वा सदृशः'—कृष्ण के सदृश, (३) 'कृष्णेण कृष्णस्य वा समः'—कृष्ण के समान।

अतुलोपमाभ्यां किम्? 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति'—सूत्र में 'तुला' और 'उपमा' शब्द से भिन्न क्यों कहा गया है? उत्तर—'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति'—ये दो उदाहरण वाक्य हैं, यथा—(१) कृष्णस्य तुला नास्ति, (२) 'कृष्णस्य उपमा नास्ति'—(१) कृष्ण की तुलना नहीं है (२) कृष्ण की उपमा नहीं है।

इन उदाहरणों में 'तुला' और 'उपमा' शब्दों के योग से तृतीया विभक्ति नहीं हुई है, अतः शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

'षष्ठी शेषे' (२-३-५०) सूत्रानुसार तुल्यार्थक शब्दों के योग से षष्ठी विभक्ति नित्य प्राप्त है। इस सूत्र से तृतीया विभक्ति का विकल्प किया गया है[1]।

सूत्र में 'तुल्यार्थैः' शब्द का 'तुल्यत्वार्थैः' यह अर्थ है। इसलिये 'अतुलोपमाभ्याम्' यह कहना सार्थक है[2]। अर्थात् सूत्रस्थ 'तुल्यार्थ' शब्द का 'तुल्यत्व' या समानता अर्थ है। इसलिये 'अतुलोपमाभ्याम्' कहना सार्थक है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'तुल्य' शब्द का 'तुल्यत्व' या समानतारूप अर्थ

---

१. शेषषष्ठ्यां नित्यं प्राप्तायां तृतीया विकल्पोऽयम्—बालमनोरमा, पृ० ६१२।

२. तुल्यार्थैरिति। तुल्यत्वार्थैरित्यर्थः। अतएव अतुलोपमाभ्यामितिचरितार्थम्—शब्देन्दु० पृ० ७६४, प्र० भा० शास्त्री संस्करण।

पर 'तुला' और 'उपमा' शब्दों को वाद देना सार्थक होता है, कारण और 'उपमा' शब्दों का भी समानतारूप अर्थ होने से तुल्यार्थक शब्द 'तुला' और 'उपमा' शब्दों का भी ग्रहण हो जाने पर उन शब्दों के से भी षष्ठी और तृतीया विभक्तिओं के होने की आपत्ति हो जाती है। तु 'श्रीकृष्णस्योपमा नास्ति-नास्ति लक्ष्मीपतेस्तुला' इत्यादि प्रामाणिक में उपमान वाचक शब्द से केवल षष्ठी विभक्ति ही देखने में आती है, तृतीया नहीं।

सूत्र में 'तुल्यैः' इस प्रकार तृतीया बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग करने से 'तुल्य' शब्द स्वरूप का ग्रहण न करके 'तुल्य' के पर्याय शब्द का ग्रहण जाता है। फिर भी सूत्रस्थ 'तुल्यार्थैः' पद में 'अर्थ' शब्द के ग्रहण से जो पदान्तर निरपेक्ष होकर तुल्यार्थक हैं केवल उन्हीं का ग्रहण होगा—यह त किया जाता है। अतः 'गौरिव गवयः' इत्यादि प्रयोग में उपमान 'गो' शब्द से षष्ठी और तृतीया विभक्ति नहीं होगी। कारण 'गौरिव यः' इत्यादि वाक्य से पदान्तर 'गौः' शब्द सापेक्ष होकर ही 'इन' शब्द सादृश्य का बोध कराता है, स्वतन्त्ररूप से नहीं।[1] शब्देन्दुशेखरकार नागेश-जी का कहना है कि सूत्र में 'अतुलोपमाभ्याम्' पदमें पर्युदासार्थक 'नञ्' के प्रयोग से अव्ययभिन्न तुल्यार्थक शब्द के योग से ही षष्ठी और तृतीया , 'इव' आदि अव्ययशब्द के योग से नहीं। (लघुशब्देन्दु०, पृ० ७६९, प्र० शास्त्री संस्करण) अतएव 'गौरिव गवयः', 'यथा गौ स्तथा गवयः' आदि वाक्य में गौशब्द में षष्ठी और तृतीया नहीं होती।

---

[1] तुल्यार्थैरिति बहुवचनादेव पर्यायग्रहणे सिद्धे अर्थग्रहणं पदान्तरनिरपेक्ष श्चेत तुल्यार्थ स्तेषां ग्रहणार्थम्। तेन गौरिव गवय इत्यादौ नेत्याहुः—बालमनोरमा, पृ० ६९२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। तत्त्वबोधिनी, पृ० ६९३, पूर्वोक्त संस्करण। बहुवचननिर्देशादेव स्वरूपग्रहणाभावे सिद्धेऽर्थग्रहणं पदान्तरनिरपेक्षाये तुल्यानाहुस्तत्परिग्रहार्थम्। तेन द्योतका इवादयो निवर्त्तिता भवन्ति—गौरिव गवयः, यथा गौस्तथा गवय इति—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० २३४, प्रा० भा० प्रकाशन पदमञ्जरी (काशिका भाग २) पृ० २३४, पूर्वोक्त संस्करण।

६३१ चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः । (२-३-७३)

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी । आशिषि—आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात् । आशिषि किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम् । मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः ।

अनुवाद तथा विवृति—आशीर्वाद प्रतीत हो तो आयुष्य (दीर्घ जीवन), मद्र (कल्याण), भद्र (भलाई), कुशल (निरामय, आरोग्य), सुख, अर्थ (प्रयोजन) तथा 'हित (शुभ)—इन शब्दार्थों के योग से चतुर्थी विभक्ति विकल्प में हो, (अपर) पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो ।

इस सूत्र में 'च' कार रहने से विकल्प में षष्ठी विभक्ति का समुच्चय हुआ है ।[1]

आशीर्वाद अर्थ में उदाहरण—'आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्'—कृष्ण (भगवान्) का दीर्घ आयु, चिरजीवित्व हो । यह वाक्य भी एक साथ दो उदाहरणवाक्यों का सम्मिलित रूप है ।

'एवं मद्रं भद्रं कुशलं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात्'—इसी प्रकार (कृष्ण भगवान् का) 'मद्र'—कल्याण आदि हो । यह उदाहरण वाक्य भी कई वाक्यों का सम्मिलित रूप है ।

'आशिषि किम् ? देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति'—

सूत्र में 'आशिषि' ऐसा क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति'—देवदत्त का दीर्घ आयु है । इस वाक्य का तात्पर्य केवल तत्त्वकथन में है । यहाँ आशीर्वाद नहीं किया जा रहा है । इस बात को समझाने के लिये 'अस्ति' (है)—इस प्रकार लट्लकार के क्रिया पद का वाक्य में प्रयोग किया गया है, 'लिङ्' लकार नहीं ।

१. चकारेण तत्समुच्चयावगमादिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६६३, मोतीलाल बनारसी दास ।

'व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम्'—वैयाकरण सम्प्रदाय के परम्परागत (व्या)ख्यान से सूत्रस्थ 'आयुष्य' आदि सभी पदों के अर्थ वाले पदों का ग्रहण (हो)ता है। अतः सूत्र में जो 'सुखार्थं' शब्द है, वह 'सुखम् अर्थः यस्य' इस (प्रका)र विग्रह वाक्य करके बहुव्रीहि समास नहीं है, परन्तु 'सुखञ्च अर्थश्चेति' (इस) प्रकार विग्रह से द्वन्द्व' समास ही है। भाव यह है कि सूत्रस्थ 'अर्थ' शब्द (ष)ष्ठी और चतुर्थी विभक्ति होने का अलग से एक निमित्त है[1]।

सप्तमी विभक्ति।

(८)४ आधारोऽधिकरणम्। (१-४-४५)।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारक मधिकरण संज्ञं स्यात्।

अनुवाद तथा विवृति—आधार अधिकरण (कहलाता) है।

कर्तृकर्मद्वारा—इत्यादि। कर्त्ता तथा कर्म के द्वारा उस कर्त्ता और कर्म (में र)हनेवाली क्रिया का आधारभूत कारक अधिकरण संज्ञक हो।

आधार शब्द की व्युत्पत्ति बताकर इस सूत्र की काशिकावृत्ति में उसका (अर्थ) कहा गया है कि जिसमें क्रिया रहती है वह आधार है[2]। किसी धातु के (अर्थ) को व्याकरण की परिभाषा के अनुसार 'क्रिया' कहा जाता है (क्रिया (वाचकः धा)त्वर्थः) धातु के दो अर्थ होते हैं—(१) फल और (२) व्यापार ('फल (व्य)ापारयोर्धातुः', वैयाकरणभूषणसार, धात्वर्थनिर्णय, श्लोक २)। सकर्मक (धा)तु के प्रयोगस्थल में उन दोनों अर्थों में से कर्त्ता व्यापार का आश्रय होता (है औ)र कर्म फल का आश्रय होता है।

जो क्रिया का आधार होता है वह साक्षात् रूप से क्रिया का आधार (न)हीं हो सकता। इसलिये क्रिया के आश्रयीभूत कर्त्ता या कर्म का आधार (होने) से कर्त्ता या कर्म के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से क्रिया के आधार को (अधि)करण संज्ञा दी गयी है।

---

१. सूत्रेऽर्थशब्दोऽपि पृथङ्निमित्तम्, तथा च द्वन्द्व एवायं न त्वर्थशब्देन बहुव्रीहिरिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६३, मोतीलाल बनारसी दास।

२. आध्रियन्तेऽस्मिन् क्रिया इत्याधारः—काशिकावृत्ति (१-४-४५)। आध्रियतेऽस्मिन्निति आधारः—तत्त्वबोधिनी, ६६४, मोतीलाल बनारसी दास।

इस 'आधारोऽधिकरणम्' सूत्र में 'कारके' (१–४–२३) इस सूत्र का अधिकार रहने से क्रिया के जनकीभूत आधार को अधिकरण संज्ञा दी गयी है, अतः कारक से क्रिया की उपस्थिति हो जाने से क्रिया के आधार को अधिकरण संज्ञा प्राप्त हुई है। इसमें भी—'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' (१–४–४९) और—'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (१–४–५४) इन दोनों परवर्त्ती सूत्रों से विहित 'कर्म' तथा 'कर्त्तृ' संज्ञा से बाधित होने से साक्षात् क्रियाधार को यह अधिकरण संज्ञा नहीं दी जा सकती। अतः कर्त्तृकर्मद्वारा परम्परा सम्बन्ध से क्रियाश्रय को अधिकरण संज्ञा दी गयी है[१]।

इस अधिकरण संज्ञा के बारे में आचार्य भर्त्तृहरि ने भी वाक्यपदीय ग्रन्थ में कहा है—'कर्त्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम्।

उपकुर्वत्क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।' वाक्यपदीय (३–७–१...) अर्थात् कर्त्ता और कर्म से व्यवहित क्रिया को परम्परा सम्बन्ध से धारण करते हुए कारक को व्याकरण शास्त्र में अधिकरण के रूप से स्मरण किया जाता है।

६३३ सप्तम्यधिकरणे च। (२–३–३६)

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा। दूरान्तिकार्थेभ्यः इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः। 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' (वा० १४८५)। अधीती व्याकरणे। अधीतमनेन इति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' (५–२–८८) इति कर्त्तरीनिः। 'साध्वसाधुप्रयोगे च'

---

१. 'कारके' इत्यधिकारात् क्रियाजनके एतत्प्रवृत्त्योपस्थितत्वादाधारः क्रियाया आधारः। तत्रेप्सीततमस्वतन्त्रपदाभ्यां साक्षात् क्रियाधारयोः कर्मकर्तृसंज्ञाभ्यां बाधात् परम्परया तदाश्रयस्य ग्रहणम्। परम्परा च कर्तृकर्मद्वारिकैव, व्याख्यानात्। लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७१, गु० प्र० शास्त्री संस्करण। स चाधारः कस्येत्याकाङ्क्षायां कारकाधिकारात् क्रियाया इति लभ्यते। इयं च संज्ञा साक्षात् क्रियाधारयोः सम्भवति पराभ्यां कर्त्तृकर्मसंज्ञाभ्यां बाधितत्वात्। अतो व्याचष्टे—कर्त्तृकर्मद्वारेति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६४, मोतीलाल बनारसी दास संस्करण।

वा० १४८९)। साधुः कृष्णो मातरि, असाधुर्मातुले। 'निमित्तात् कर्म-योगे' च' (वा० १४८६)। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोग समवायात्मकः।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्ता। सीमा अण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमृगः। योग-विशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति।

अनुवाद तथा विवृति—अधिकरण (कारक रूप) अर्थ में भी सप्तमी (विभक्ति) हो।

अधिकरणे सप्तमीस्यात्—अधिकरण (कारक) अर्थ में सप्तमी विभक्ति सूत्र में 'च' कार से दूरार्थ तथा अन्तिकार्थ शब्द से सप्तमी विभक्ति है, (यह सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि इस 'सप्तम्यधिकरणे सूत्र के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (२–३–३५) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की 'अनुवृत्ति' या 'अनुकर्ष' सप्तम्यधिकरणे च' सूत्रस्थ 'च'कार से की जाती है।[१] अतः दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्द से भी सप्तमी विभक्ति होती है। दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्द से जो सप्तमी होती वह प्रातिपदिकार्थ में होती है।[२]

औपश्लेषिको वैषयिको1भिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा—
(१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक तथा (३) अभिव्यापक भेद से आधार तीन प्रकार का होता है।

'उपश्लेष' शब्द का संयोग आदि सम्बन्ध अर्थ है। उसके द्वारा प्रयुक्त आधार प्रथम, अर्थात् 'औपश्लेषिक' आधार है।

---

१. 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति पूर्वसूत्राद् दूरान्तिकार्थेभ्य इत्यस्य चकारेणानु-कर्षणादिति भावः—बालमनोरमा, पृ० ६१४, पूर्वोक्त संस्करण।

२. चकारादिति। 'प्रातिपदिकार्थे' इति शेषः—लघुशब्देन्दु, पृ० ७७२, गु० प्र० शास्त्री। 'वनस्य दूरे अन्तिके वेति। दूरमन्तिकमित्यर्थः। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिर-यम्—बालमनोरमा, पृ० ६१४-६१५।

'उप समीपे श्लेषः सम्बन्धस्तत् कृतमौपश्लेषिकम्'—'उप' अर्थात् समीप में 'श्लेष' अर्थात् सम्बन्ध, तत्कृत औपश्लेषिक—शब्देन्दुशेखर में 'औपश्लेषिक' शब्द का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है (शब्देन्दु०, पृ० ७७२, गु० प्र० शास्त्री)। बालमनोरमाकारने 'उपश्लेषः संयोगादिसम्बन्धः। तत्प्रयुक्त आधारः प्रथम इत्यर्थः'—'उपश्लेष' अर्थात् संयोगादिसम्बन्ध, उसके द्वारा प्रयुक्त आधार प्रथम अर्थात् औपश्लेषिक, यह अर्थ है—इस प्रकार 'औपश्लेषिक' शब्द का अर्थ बतलाया है (बालमनोरमा, पृ० ६६४, मोतीलाल बनारसीदास संस्करण)। 'संहितायाम्' (६–१–७२) सूत्र के भाष्य में इस प्रकार की बात कही गयी है। उस स्थल के और अन्यान्य स्थलके भाष्य से विरुद्ध होने से 'कटे आस्ते'—चटाई पर है—यह औपश्लेषिक अधिकरण का ठीक-ठीक उदाहरण नहीं हो सकता।[1]

परन्तु शब्देन्दुशेखरकारने 'यद्वा' कल्प में 'एकदेशविच्छेदेन श्लेषेऽपि-श्लेषस्य समीपमुपश्लेषं तत्कृत मिति व्युत्पत्त्यौपश्लेषिकत्व मित्यभिप्रायेण तदुदाहरणम्'—एकदेश में श्लेष या सम्बन्ध होनेपर भी 'श्लेष के समीप' उपश्लेष, उसके द्वारा कृत, इस व्युत्पत्तिके अनुसार औपश्लेषिकत्व है, इस अभिप्राय से वह उदाहरण (कटे आस्ते) है—ऐसा कहकर 'कटे आस्ते' को औपश्लेषिक अधिकरण के उदाहरण के रूप से मान लिया है। (लघु-शब्देन्दु० पृ० ७७२–६७३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण)

'विषयता' सम्बन्धकृत आधार द्वितीय अर्थात् 'वैषयिक' अधिकरण है[2] और सकलावयवव्याप्तिकृत आधार तृतीय अर्थात् 'अभिव्यापक' अधिकरण है।

कर्त्ता के माध्यम से औपश्लेषिक अधिकरण का उदाहरण—'कटे आस्ते'—चटाई पर है। इस उदाहरण में 'आस्' धात्वर्थ क्रिया का साक्षात् आ-

१. 'कटे आस्ते' इति तु नौपश्लेषिकोदाहरणं युक्तम् उक्तभाष्यविरोधात्—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७६, गु० प्र० शास्त्री।

२. विषयतासम्बन्धकृत आधारो द्वितीयः इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६४, मोतीलाल बनारसी दास संस्करण।

देवदत्त आदि कर्त्ता है। वह कर्त्ता चटाई पर रहता है—इसलिये चटाई द्वारा क्रिया का आधार होने से उसकी अधिकरण संज्ञा हुई है।

'स्थाल्यां पचति'—स्थाली (पतीली) में पकाता है—यह कर्मद्वारा औपश्लेषिक अधिकरण का उदाहरण है। इस वाक्य में 'पच्' धात्वर्थ विक्लृत्यनुकूलव्यापार का फल 'विक्लृत्ति' का आश्रय ओदन आदि कर्म का आधार स्थाली है। इसलिये कर्म के द्वारा स्थाली क्रिया का आधार होने से औपश्लेषिक अधिकरण हुआ है।

'मोक्षे इच्छाऽस्ति'—मोक्ष की इच्छा है—यह वैषयिक अधिकरण का उदाहरण है। मोक्ष इच्छा का विषय होने से इच्छा की 'विषयता' मोक्ष में है। उस 'विषयता' को सम्बन्ध के रूप से कल्पना करने पर 'विषयता' सम्बन्ध से इच्छा मोक्ष में रहती है—ऐसा कहा जा सकता है।

'सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति'—सबमें आत्मा है—यह अभिव्यापक अधिकरण का उदाहरण है। जिस आधार के सर्वावयव को व्याप्त करके 'आधेय' वस्तु रहती है, उस आधार को अभिव्यापक अधिकरण कहा जाता है। सब पदार्थों के सकल अवयव व्याप्त करके आत्मा वर्त्तमान है, इसलिये 'सर्वस्मिन्' यह अभिव्यापक अधिकरण में सप्तमी विभक्ति का उदाहरण है। 'तिलेषु तैलम्'—तिल में तैल है—इत्यादि वाक्य भी अभिव्यापक अधिकरण के उदाहरण हैं। तिलों के सर्वावयव व्याप्त करके तैल वर्त्तमान है। नव्यन्याय की परिष्कृत भाषा में कहा जाय तो 'अभिव्यापककत्वञ्च अवच्छेदकावच्छेदेन वृत्तिमत्त्वम्[1]' ऐसा कहा जा सकता है। 'सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति'—सब में आत्मा है—इस अभिव्यापक आधार के उदाहरण में 'सर्वत्वावच्छेदेन' आत्मा वर्त्तमान रहने से 'सर्व' 'आत्मा' का अभिव्यापक आधार है। यह जो 'अवच्छेदकावच्छेदेन वृत्तिमत्त्वम् अभिव्यापकत्वम्' कहा गया है, वह 'प्रकृत्यर्थ-तावच्छेदक—व्यापकत्व' रूप से पर्यवसित होता है[2]। अर्थात् 'सर्वस्मिन्

---

1. व्युत्पत्तिवाद की लक्ष्मीनाथ झा कृत प्रकाश टीका पृ० १।
2. तदपि प्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्यापकत्व पर्यवस्यति—व्युत्पत्तिवाद की प्रकाश टीका, पृ० १–२।

आत्माऽस्ति' इस पूर्वोक्त अभिव्यापक आधार के उदाहरण में 'सर्वस्मिन्' में जो सप्तमी विभक्तिका एकवचन है, उसकी 'प्रकृति' 'सर्व'—यह 'प्रातिपदिक' है। उस 'सर्व' रूपप्रकृत्यर्थतावच्छेदक 'सर्वत्व' है। उस 'सर्वत्वावच्छेद' सब पदार्थ में आत्मा वर्त्तमान है, इसलिये 'सर्व' पदार्थ आत्मा का अभिव्यापक आधार बन जाता है, और 'सर्व' शब्द में अधिकरण में सप्तमी होती है।

यह जो अभिव्यापक आधार है, उसी को मुख्य अधिकरण संज्ञा जाती है। बाकी सब आधार गौणाधिकरण कहलाते हैं[१]। 'स्वरितेनाधिकारः' (१-३-११) तथा 'साधकतमं करणम्' (१-४-४२) सूत्रों के भाष्य कारक संज्ञा में तरतम योग नहीं होता है—यह कहकर सिद्धान्त बताया गया है।[२]

अधिकरण मुख्य हो या गौण हो, सभी अधिकरण अधिकरण में विभक्ति सप्तमी के अर्थ होते हैं।[३] तत्र साधारणरूपसे यह कहा जा सकता है कि अधिकरणत्वशक्तिमान् अधिकरणविभक्ति का अर्थ है।[४]

---

१. सर्वावयवव्याप्तिकृतमधिकरणत्वमेव मुख्यम्, वैषयिकमौपश्लेषिकं च गौणमिति भाष्यसम्मतत्वात्—बालमनोरमा, पृ० ६६५, म० म० गिरिधर शर्मा, मोती बनारसी दास। 'एतत् सर्वं गौणमधिकरणम्'—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७३, गु० शास्त्री।

२. अधिकरणमाचार्यः किं न्याय्यं मन्यंते? यत्र कृत्स्न आधारात्मा व्याप्तो तेनेहैव स्यात्—तिलेषु तैलं, दध्नि सर्पिरिति। गङ्गायां गावः कूपे गर्गकुलमिति स्यात्, स्वरितेनाधिकं कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति'—महाभाष्य (भाग पृ० १४७, नि० सा० प्रेस संस्करण। 'अधिकरणमाचार्यः.........कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवतीत्यत्रापिसिद्धंभवति'—महाभाष्य (भाग ३), पृ० २५६, नि० सा० प्रेस संस्करण।

३. गौणोऽप्याधारादिः सप्तम्यादिशक्य एवेति बोध्यम्—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री।

४. अधिकरणत्वशक्तिमांश्चाधिकरणविभक्त्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७३, गु० शास्त्री संस्करण।

वनस्य दूरे अन्तिके वा 'दूरान्तिकार्थेभ्यः—इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः' फलिताः—वन के दूर या समीप। यहाँ दो उदाहरण वाक्य एक उल्लिखित हुये हैं। 'वनस्य दूरे'—वन के दूर—यह पहला वाक्य है, और 'वनस्य अन्तिके'—वन के समीप—यह दूसरा उदाहरण वाक्य है। इन दोनों वाक्यों में 'दूरे' और 'अन्तिके' पदद्वय में जो सप्तमी विभक्ति है वह प्रातिपदिकार्थमात्र समझाने के लिये है, अधिकरणरूप अर्थ समझाने के लिये नहीं—यह पहले बतलाया गया है[1]।

'दूरान्तिकार्थेभ्यः—' (सू० ६०५) इति विभक्तित्रयेण 'सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः'—

दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों से पूर्वोल्लिखित 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (२–३–३५) सूत्रानुसार प्राप्त द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियों के साथ इस सूत्रानुसार सप्तमी विभक्ति प्राप्त होने से चार विभक्तियाँ फलित हुई हैं।

'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' (वा० १४८५)

'इन्' प्रत्यय के (अर्थात् इन प्रत्ययान्त) 'क्त' 'प्रत्ययान्त (शब्द बोध्य क्रिया के कर्मकारक में सप्तमी विभक्ति का 'उपसंख्यान' अर्थात् प्रतिपादन करना चाहिये[2]।

'न्यास' टीका में प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—'अधि' उपसर्ग-पूर्वक 'इ' धात्वर्थ का व्याकरण के साथ सम्बन्ध है, इसलिये व्याकरण कर्म होता है, अतः व्याकरण में द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये, जैसे कि '...पूर्वी कल्पम्' इस वाक्य में होता है। अतः सप्तमी विभक्ति का 'उपसंख्यान' अर्थात् प्रतिपादन करना चाहिये। वहाँ प्रतिपादन यह है कि जो अध्ययन-

१. वनस्य दूरे अन्तिके वेति। दूरमन्तिकमित्यर्थः। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्—बालमनोरमा, पृ० ६९४-६९५, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. उपसंख्यानम् प्रतिपादनं कर्त्तव्यमित्यर्थः;—न्यास (काशिका भाग २), पृ० १९३ प्रा० भा० प्रकाशन।

कारी कर्त्ता है, व्याकरण उसके विषय के रूप से (अर्थात् अध्ययन के विषय के रूप से) विवक्षित होता है। अतः अधिकरण में (विषयाधिकरण में) यह सप्तमी सिद्ध होती है।[1]

वार्त्तिकसूत्रस्थ 'इन् विषयस्य' की व्याख्या में प्रौढ़मनोरमा ग्रन्थ में कहा गया है—'इन् इन्नन्तः शब्दो विषयो वृत्तिभूमिर्यस्य क्तस्येत्यर्थः'[2]। इसकी व्याख्या करते हुए शब्दरत्नकार हरिदीक्षितजी ने कहा है—'यत्क्तान्तनिरूपितपरार्थाभिधायकत्वाश्रय इन्नन्तः शब्द इत्यर्थः'[3]। अर्थात्—जिस 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द के द्वारा निरूपित अन्यार्थाभिधायकत्व का आश्रय 'इन्' प्रत्ययान्त शब्द होता है, उस शब्द के द्वारा बोध्य क्रिया के कर्मवाचक शब्द में सप्तमी विभक्ति का 'उपसंख्यान' या प्रतिपादन करना चाहिये। 'अधीती व्याकरणे' इस वाक्य में जो 'अधीती' यह इन्नन्त शब्द है, वह शब्द जिसने व्याकरण को पढ़ा है उस व्यक्ति का वाचक होता है। वह व्यक्ति बहुव्रीहि समास से बोधित होने से अन्य पदार्थ ही है। अतएव यहाँ, 'अधीत' इस 'क्त' प्रत्ययान्त शब्द घटित इन प्रत्ययान्त 'अधीती' शब्द जिसने अध्ययन किया है उस व्यक्तिरूप अन्यपदार्थ का वाचक होने से उस शब्द के घटक 'अधि' पूर्वक 'इ' धात्वर्थ अध्ययन क्रिया के कर्म वाचक व्याकरण शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है।

शब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्टजी ने 'इन्विषयस्य' की व्याख्या प्रसंग में कहा है, इनो विषयस्य इन्प्रकृतेः क्तान्तस्य कर्मणीत्यर्थ'[1]। इस व्याख्या

---

१. अस्ति च धात्वर्थस्य व्याकरणेन सम्बन्ध इति कर्मैव व्याकरण भवतीत्यतो द्वितीया स्यात, यथा कृतपूर्वी कटमिति। तस्मात् सप्तम्या उपसंख्यानं प्रतिपादनं कर्तव्यमित्यर्थः। तत्रेदं प्रतिपादनम्—योऽसावधीती कर्त्ता तस्य व्याकरणं विषयत्वेन विवक्ष्यते। तस्मादधिकरण इत्येवं सिद्धा सप्तमी—न्यास (काशिका भाग २), पृ० १९३।

२. प्रौढ़मनोरमा, पृ० ६५३—६५४, चौखम्बा संस्करण।

३. शब्दरत्न (प्रौढ़मनोरमा), पृ० ६५४, चौ० संस्करण।

नुसार 'अधीती व्याकरणे' इस वाक्य में 'इन्' प्रत्यय के प्रकृतिभूत 'अधीत स 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दबोध्य अध्ययन क्रिया के कर्म व्याकरण पदार्थ के वाचक व्याकरण शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है।

'अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' इति कर्त्तरीनि:'—

'अधीती व्याकरणे' इस वाक्य में जो 'अधीती' शब्द है उसकी व्युत्पत्ति बताने के लिये कह रहे हैं 'अधीतमनेन' इसके द्वारा अध्ययन किया गया है— इस प्रकार विग्रह वाक्य करने पर 'अधीत' शब्द के साथ 'इष्टादिभ्यश्च' (५-२-८८) इस सूत्रानुसार कर्तृवाच्य में 'इनि' प्रत्यय हुआ है।

शब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्टजी महाभाष्य के प्रदीप टीकाकार कैयटका उल्लेख कर के कहते हैं कि वैयाकरण सम्प्रदाय की परम्परागत व्याख्या के आधार पर यह सिद्धान्त किया गया है कि इस वार्त्तिक में उल्लिखित 'कर्म' शब्द से कालादिव्यतिरिक्त कर्म को ही लेना है। अतः 'मासम् अधीती व्याकरणे' इस वाक्य में कालात्मक कर्म के वाचक मास शब्द में सप्तमी विभक्ति नहीं होगी[२]।

'अधीती व्याकरणे' इस उदाहरण वाक्य की व्याख्या में बाल मनोरमाकार वासुदेव दीक्षितजी ने कहा है कि 'भावक्तान्ताद् अधीतशब्दात् कर्त्तरीनि प्रत्यये कृते अधीतीत्यस्याधीतवानित्यर्थः पर्यवस्यति। किमधीतवानिति कर्मविशेष जिज्ञासायां व्याकरणम् अध्ययने कर्मत्वेनान्वेति। तच्च व्याकरणकर्मत्वं केनाप्यभिहितमिति कृतपूर्वी कटमितिवद् द्वितीयायां प्राप्तायामनेन सप्तमीति भावः[३]'—अर्थात् भाववाच्य में विहित 'क्त' प्रत्ययान्त 'अधीत' शब्द से कर्तृ-

---

१. लघुशब्देन्दु, पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

२. अत्र कर्मशब्देन कालादि व्यतिरिक्त मेव गृह्यते व्याख्यानात्, तेन 'मासमधीती व्याकरणे' इत्यत्र नेति कैयटः—लघुशब्देन्दु, पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री।

३. बालमनोरमा, पृ० ६६६, मोतीलाल बनारसीदास।

वाच्य में 'इनि' प्रत्यय जोड़ने पर जो 'अधीती' शब्द बनता है, उसका 'अध्ययन किया था' यह अर्थ पर्य्यवसित होता है। बाद में 'क्या पढ़ा था' इस प्रकार कर्म विशेष की जिज्ञासा होने पर अध्ययन क्रिया में 'व्याकरण' कर्म के रूप से अन्वित होता है। व्याकरण में वह जो कर्मत्व हुआ है, वह कर्मत्व किसी के द्वारा अभिहित नहीं हुआ है (कारण 'क्त' प्रत्यय भाववाच्य में हुआ है और 'इनि' प्रत्यय कर्त्तृवाच्य में हुआ है।) इसलिये 'कृतपूर्वी कटम्' इस वाक्य में जैसे 'कटम्' में द्वितीया विभक्ति है, उसी तरह यहाँ भी (व्याकरण में) द्वितीया विभक्ति की प्राप्ति होने से इस वार्त्तिक सूत्र से सप्तमी हुई है—यह अभिप्राय है।

साधु (हितकारी) और असाधु (अहितकारी) इन दो शब्दों का प्रयोग होने पर जिसका हित या अहित किया जाता है, उसके वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति हो। उदाहरण—'साधुः कृष्णो मातरि'—कृष्ण (भगवान्) माता के हितकारी हैं। 'असाधुर्मातुले'—अर्थात् (कृष्ण भगवान्) मातुल के अहितकारी हैं।

इन दोनों उदाहरणों में सम्बन्धषष्ठी की प्राप्ति थी। उसकी बाधा करके इस वार्त्तिक से सप्तमी हुई है[1]।

'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः (२–३–४३) सूत्र से ही 'साधु' शब्द के योग से सप्तमी हो सकती थी। फिर भी इस वार्त्तिक सूत्र में 'साधु' शब्द के उल्लेख से जहाँ 'अर्च्चा' अर्थात् प्रशंसा न भी हो, ऐसे यथार्थवस्तु स्थिति के कथन के स्थान में भी सप्तमी विभक्ति होगी—इस बात को समझाने के लिये इस वार्त्तिक सूत्र में 'साधु' शब्द का ग्रहण किया गया है। यथा 'साधुर्भृत्यो राजनि'—नौकर राजा का हितकारी है। यहाँ केवल यथार्थ

---

१. उभयत्र शेषषष्ठ्यपवादः—बालमनोरमा, पृ० ६६६, पूर्वोक्त संस्करण। शेषषष्ठ्यपवादोऽयम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री।

वस्तुस्थिति को कहने में तात्पर्य है, भृत्य की प्रशंसा करने में तात्पर्य नहीं है[१]।

'निमित्तात् कर्मयोगे' (वा० १४६०)। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
कशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥'

अनुवाद तथा विवृतिः—कर्म के साथ योग या सम्बन्ध होने से 'निमित्त' अर्थात् हेतु के वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिये।[२]

इस वार्तिक सूत्र में जो निमित्तशब्द है, वह (वास्तव में) क्रिया का फल ही है। अतः 'फल' सप्तमी विभक्ति का अर्थ है[३]। 'फल' हेतु या निमित्त कैसे हो सकता है इसके लिये युक्ति बतलाते हुए बालमनोरमाकार ने कहा है 'इष्टसाधनाज्ञान प्रवृत्ति का जनक होने से फल[४] का भी हेतुत्व समझना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रिया का जो फल है वह इष्ट है। 'यह मेरे इष्ट का साधन है'—(इदं मदिष्ट साधनम्)—इस आकार का इष्ट प्राप्ति के लिये अनुकूल क्रिया करने की प्रवृत्ति का जनक (प्रवर्त्तक) होता है। इस लिये इष्ट जो फल है उसको भी क्रिया की प्रवृत्ति का साक्षात् जनक न होते

---

१. 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायाम्'—इत्येव सिद्धे साधुग्रहणमनर्चार्थम्। यथा साधुर्भृत्यो राजनि। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्—बालमनोरमा, पृ० ६६६, पूर्वोक्त संस्करण। 'साधुनिपुणाभ्या' मित्येव सिद्धे अनर्चार्थमत्र साधुग्रहणम् तेन तत्त्वकथनेऽपि भवति—शब्देन्दु०, पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री। यत्रार्चा न विवक्षिता किन्तु तत्त्व-कथनमात्रं तत्रापि सप्तम्यर्थं वार्त्तिकेऽस्मिन् साधुग्रहणम्, साधुर्भृत्यो राज्ञात्यादि यथा—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६६.

२. कर्मयोगे हेतुवाचकाच्छब्दात् सप्तमी वाच्येत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६६, मोतीलाल बनारसीदास संस्करण।

३. फलमेवेत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ६६६, पूर्वोक्त संस्करण।
निमित्तञ्चात्र क्रियाफलम्। एवञ्च फलं सप्तम्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

४. बालमनोरमा, पृ० ६६६, पूर्वोक्त संस्करण।

हुए भी प्रयोजक होने के कारण प्रवर्त्तक कहा जाता है। इस दृष्टिकोण से कहा गया है 'निमित्तमिह फलम्'। इसलिये फलात्मक हेतु न होने के कारण 'जाड्याद् बद्धः' इस वाक्य में बन्धन का हेतुभूत 'जाड्य' या अज्ञान के वाचक 'जाड्य' शब्द में सप्तमी नहीं होती[1]।

इस प्रकार वार्त्तिक सूत्रस्थ 'कर्मयोगे' पद में जो 'कर्म' शब्द उल्लिखित है वह प्रत्यासत्तिन्याय से स्वान्वयिक्रिया के 'कर्म' का बोधक है[2]। स्वान्वयि-क्रिया का कर्म करके प्रकृत वाक्य में उल्लिखित क्रिया पद बोध्य क्रिया के कर्म को समझना है। 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति'—चमड़े के लिये चीता बाघ को मारता है—इस प्रकृत उदाहरण वाक्य में उल्लिखित 'हन्ति' क्रिया पद बोध्य 'हनन' क्रिया का कर्म 'द्वीपी' (चीताबाघ) है। उस कर्म के साथ 'चर्म या चमड़े का योग या सम्बन्ध है। इसलिये हननक्रिया के 'निमित्त' या प्रयोजक हेतुभूत 'चमड़े' के वाचक 'चर्मन्' शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है।

बालमनोरमाकार के मतानुसार इस उदाहरण में 'द्वीपी' रूप कर्म के साथ 'चर्म' का समवाय सम्बन्ध है। परन्तु न्यास टीका में संयोग सम्बन्ध माना गया है[3]।

'निमित्तात् कर्मयोगे' इसका द्वितीय उदाहरण 'दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्'—दोनों दाँतों के लिये हाथी को मारता है। इस उदाहरण में 'हन्' धात्वर्थ हनन क्रिया का कर्म कुञ्जर (हाथी) के साथ दोनों दाँतों का योग या सम्बन्ध है। इसलिये हनन क्रिया निमित्त वाचक 'दन्त' शब्द में सप्तमी

---

१. यदि तु कारणमित्युच्येत तर्हि जाड्येन बद्ध इत्यादावतिप्रसङ्गः स्यात्—बाल-बोधिनी, पृ० ६९७, मोतीलाल बनारसीदास।

२. प्रत्यासत्त्या स्वान्वयिक्रियाकर्मणा योगे इत्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७३, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. अत्र द्वीपिना कर्मणा चर्मणः समवाय एव, अवयवावयविनोरयुत-सिद्धत्वात्—बालमनोरमा, पृ० ६९६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। 'द्वीपिहननस्य निमित्तं चर्म, द्वीपिना कर्मणा सह संयोगः'—न्यास (काशिका भाग २) पृ० ९५४

विभक्ति हुई है। इस उदाहरण में भी 'कुञ्जर' रूप कर्म के साथ दोनों दांतों का समवाय सम्बन्ध है[१]। इसलिये हनन के निमित्तवाचक 'दन्त' शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है।

इस वार्त्तिक का तृतीय उदाहरण 'केशेषु चमरीं हन्ति'—केशों के लिये चमरी नामक मृगविशेष[२] को मारता है। इस उदाहरण में भी हनन क्रिया के कर्म 'चमरी' के साथ केशों का समवाय सम्बन्ध है।

'सीम्नि पुष्कलको हतः'—यह वाक्य पूर्वोक्त वार्त्तिक सूत्रका चतुर्थ उदाहरण है। इसके दो प्रकार अर्थ बतलाये गये हैं। 'सीमन्' शब्द का 'अण्डकोश' एक अर्थ होता है। 'सीमा अण्डकोशः'। पुष्कलक शब्द का 'गन्धमृग' अर्थ है 'पुष्कलको गन्धमृगः'। 'गन्धमृगः' इस पक्षमें 'सीम्नि पुष्कलको हतः' वाक्य का अण्डकोश के लिये गन्धमृग मारा गया है—यह अर्थ होता है। इस उदाहरण में 'हनन' क्रिया के कर्म पुष्कलक के साथ 'सीमन्' शब्दार्थ अण्डकोश का समवाय सम्बन्ध है[३]।

काशिका वृत्ति की पदमञ्जरी टीका के रचयिता आचार्य हरदत्तजी के मतानुसार 'सीम्नि पुष्कलको हतः' इस वाक्य का सीमा ज्ञापन करने के लिये 'पुष्कलक' अर्थात् 'कील' को गाड़ा गया है। इस उदाहरण वाक्य में 'हन्' धात्वर्थ 'गाड़ना' क्रिया के कर्म पुष्कलक के साथ 'सीमा' का संयोग सम्बन्ध है[४]।

शब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्टजीके मतानुसार 'द्वीपी और चर्म', तथा

---

१. कुञ्जरेण कर्मणा दन्तयोः समवाय एव—बालमनोरमा, पृ० ६६६।

२. चमरी मृगविशेषः—बालमनोरमा, पृ० ६६६, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

३. अत्रापि पुष्कलकेन कर्मणा सीम्नः समवाय एव—बालमनोरमा, पृ० ६६७। 'तत्र हन्तिकर्मणा द्वीप्यादिना चर्मादि निमित्तस्य समवायः सम्बन्धः—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २), पृ० १६४, प्रा० भा० प्रकाशन।

४. तेन च निहन्यमानेन शङ्कुना सीम्नः संयोगः सम्बन्धः—पदमञ्जरी, पृ० १६४, पूर्वोक्त संस्करण।

'अण्डकोश' और मृग का समवाय सम्बन्ध, बाकी दोनों का संयोगसम्बन्ध है।[1]

'योगविशेषे किम्'—'वेतनेन धान्यं लुनाति।'

निमित्तात् कर्मयोगे' वार्त्तिकसूत्रस्थ 'योग' शब्द का 'योगः संयोगसमवायात्मकः'—अर्थात् 'योग' या सम्बन्ध यहाँ संयोग या समवायात्मक है, ऐसा अर्थ बतलाया गया है। इस प्रकार सम्बन्धविशेष क्यों कहा गया है? इसके उत्तर में कहते हैं—'वेतनेन धान्यं लुनाति'—मजदूरी से धान काटता है (मजदूरी लेकर धान काटता है)। इस वाक्य में 'लुनाति' काटता है—इस 'काटना' क्रिया का निमित्तभूत फल वेतन है। 'वेतन' के साथ 'धान्य' रूप क्रिया का 'संयोग' या 'समवाय' सम्बन्ध नहीं है, परन्तु 'तादर्थ्य' सम्बन्ध है। इस वाक्य में 'वेतनेन' पद में 'हेतौ' तृतीया विभक्ति हुई है। इन उदाहरणों में 'चर्मणि' इत्यादि पदों में सप्तमी विभक्ति का 'फल' अर्थ है[2]।

ऊपर में कहे गये 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति'—इत्यादि उदाहरण वाक्य में 'चर्म' आदि निमित्त के साथ 'द्वीपी' आदि कर्मों का नैयायिक सम्प्रदाय के मतानुसार 'उपष्टम्भाख्य संयोग' सम्बन्ध है, समवाय नहीं (दन्तकेशत्वगादिष्वेव प्राणिनामुपष्टम्भाख्यसंयोगस्योपगमात्—शब्दशक्तिप्रकाशिका[3])।

६२० यस्य च भावेन भावलक्षणम् (२–३–३७)।

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः। अर्हाणां कर्त्तृत्वेऽनर्हाणामकर्त्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च। सत्सु तरत्सु असन्त आसते। असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।

अनुवाद तथा विवृत्ति—जिसकी क्रिया से (अपर) क्रिया लक्षित होती है (उससे सप्तमी विभक्ति हो)।

---

१. द्वीपिचर्मणोरण्डकोशमृगयोश्च समवायः इतरयोः संयोगः—शब्देन्दु, पृ० ७७१, गु० प्र० शास्त्री।

२. अत्र वेतनस्य लूयमानस्य धान्यस्य च तादर्थ्यमेव सम्बन्धः नतुसंयोगः नापि समवायः इति भावः—बालमनोरमा पृ० ६९७।

३. कारकप्रकरण, ९४ कारिका।

जिसमें रहनेवाली क्रिया के द्वारा अपर क्रिया का ज्ञापन होता है, उसके वाचक शब्द में सप्तमी विभक्ति हो। उदाहरण—'गोषु दुह्यमानासु गतः'—गायों के दुहे जाते समय गया' (श्रीधरानन्द शास्त्री)।

सूत्रस्थ 'भाव' शब्द का धात्वर्थ रूप क्रिया अर्थ है[1]। धात्वर्थ 'फल' और व्यापार' धात्वर्थरूप क्रिया कहलाते हैं। सकर्मक धातु के प्रयोग स्थल में 'फल' कर्म में रहता है और 'व्यापार' कर्त्ता में[2]। सूत्र में जो 'यस्य' पद है उसकी षष्ठी विभक्ति का 'निष्ठत्व' या 'वृत्तित्व' अर्थ है। तब 'यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्' सिद्धान्त कौमुदी की इस पंक्ति का अर्थ होता है जिसमें रहनेवाली क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित अर्थात् ज्ञापित होती है उसमें अर्थात् उसके आश्रय के वाचक शब्द में[3] सप्तमी विभक्ति हो। 'गोषु दुह्यमानासु गतः' इस वाक्य से दोहन-कर्म गाय में रहनेवाली क्रिया से गमनकारी व्यक्ति की क्रिया का ज्ञापन होता है। इसलिये एक क्रिया से अन्य क्रिया का ज्ञापन होने के कारण दोनों क्रियाओं में लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होने से उक्त क्रियाओं के द्वारा दोनों क्रियाश्रयों में भी लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध होने से 'शेषे षष्ठी' की प्राप्ति होती है। इस सूत्र से उसकी बाधा करके सप्तमी का विधान किया गया है[4]।

लक्ष्यलक्षणभाव शब्दबोध्य होने पर यह 'यस्य च भावेन—' इत्यादि

---

१. भावशब्दौ क्रियापर्यायौ—बालमनोरमा, पृ० ६६७, म० म० गिरिधर शर्मा। भावः क्रिया—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७४, गु० प्र० शास्त्री।

२. क्रिया च कर्त्राश्रया कर्माश्रया च—बालमनोरमा, पृ० ६६७, म० म० गिरिधर शर्मा। क्रियाश्रयः कर्त्ता कर्म च—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७४, गु० प्र० शास्त्री।

३. ततः ज्ञापकक्रियाश्रयवाचकात—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७४, गु० प्र० शास्त्री। तदाश्रययोः कर्तृकर्मणोर्बोधकादियं सप्तमी—प्रौढ़मनोरमा, पृ० ९५६, चौखम्बा संस्करण।

४. अत्र लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धे सप्तमी। शेषषष्ठ्यपवादः—बालमनोरमा, पृ० ६६७, तत्र प्रसिद्धक्रियाश्रययोः कर्तृकर्मणोर्वाचकाद् ब्राह्मणादिशब्दाल्लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धे षष्ठ्यां प्राप्तायामियं सप्तमी—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६७, म० म० गिरिधर शर्मा।

सूत्र की प्रवृत्ति में निमित्त होता है, उसका (लक्ष्यलक्षण भाव का)[1] भूयो-दर्शनादि रूप मानान्तर के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं है।

इस भावे सप्तमी के सूत्र के अर्थ विचार प्रसङ्ग में यह स्मरण रखना है कि निर्ज्ञातकाल क्रिया ही अनिर्ज्ञातकाल क्रिया का लक्षण या ज्ञापक होता है[2]। और यह 'लक्षण' शब्द क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तक है। 'लक्ष्यते अनेन'—इसके द्वारा लक्षित होता है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'लक्षण' शब्द का अर्थ समझना है[3]। यह 'लक्षण' अनुमापक के रूप से अभिमत 'लिङ्ग' का पर्याय नहीं है। अतः जिसके द्वारा पुनः पुनः लक्षित होता है, वही 'लक्षण' होगा, ऐसी बात नहीं है[4]। निश्चितरूप से जिसका काल ज्ञात है ऐसे 'अग्निषु हूयमानेषु गतः'—अग्नियों में हवन करते समय गया—इस प्रकार वाक्य से अवगत हवनादि क्रिया, जिसका काल पहले से निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है ऐसी गमन क्रिया के काल के निश्चित ज्ञान का एक बार भी निमित्त हो तो वही हवन क्रिया गमन क्रिया का 'लक्षण' होता है[5]।

---

१. लक्ष्यलक्षणभावः शब्दबोध्य एवैतच्छास्त्रप्रवृत्तौ निमित्तं नतु तस्य भूयोदर्शनादि मानान्तरेण ग्रहणापेक्षेति बोध्यम्—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७४, गु० प्र० शास्त्री।

२. निर्ज्ञातकाला क्रिया अनिर्ज्ञातकालायाः क्रियायाः कालपरिच्छेदकत्वाल्लक्षणं प्रसिद्धा च क्रिया क्रियान्तरं लक्षयति—काशिकावृत्ति (२-३-३७)। प्रौढ़मनोरमा पृ० ९५६, चौखम्बा संस्करण। प्रसिद्धिरेव क्रियाया क्रियां प्रति लक्षणत्वे उपयुज्यते न पुनर्दर्शनम्—पदमञ्जरी (२-३-३७) निर्ज्ञातकाला हि क्रिया अनिर्ज्ञातकालायाः क्रियायाः कालपरिच्छेदकत्वाल्लक्षणम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६१७, म० म० गिरिधर शर्मा।

३. प्रसिद्धा चेत्यादि। चकारोऽवधारणार्थं प्रसिद्धैवेत्यर्थः। न हि स्वयमप्रसिद्धं परस्य लक्षणमुपपद्यते—न्यास (२-३-३७)। लक्षणशब्दः क्रियानिमित्तकः—लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्—महाभाष्य खण्ड २), पृ० ५१०, नि० सा० प्रेस संस्करण।

४. नायं शब्दोऽनुमापकत्वेनाभिमतलिङ्ग पर्यायः। किन्तु वृक्षं प्रति विद्योतत इत्यादिवानिर्ज्ञातज्ञापनवृत्तिरिति भावः—उद्योत, पृ० ५१०, पूर्वोक्त संस्करण।

५. यच्च निर्ज्ञातकालं हवनादिकमनिर्ज्ञातकालस्य सकृदपि कालपरिच्छेदनिमित्तं भवति

इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि अन्य प्रमाण से जिसका स्वरूप ज्ञात हो चुका है उसके कालविशेष को ज्ञापित करने के लिये शब्द प्रयोग होने पर ही इस 'यस्य च भावेन—' इत्यादि सूत्र की प्रवृत्ति होती है[१]।

भट्टोजी दीक्षित प्रोक्त गोषु दुह्यमानासु गतः'—गायों के दुहे जाते समय गया—यह वाक्य कर्म में रहने वाली क्रिया के द्वारा अपर क्रिया का ज्ञापन स्थलीय उदाहरण है[२]। कर्त्ता में रहनेवाली क्रिया के द्वारा अपर क्रिया का ज्ञापन स्थलीय उदाहरण वाक्य 'ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः'—ब्राह्मणों के पढ़ते समय गया—ऐसा कहा जा सकता है[३]।

इस सूत्र से विहित सप्तमी विभक्ति को 'भावे सप्तमी' या 'सति सप्तमी' भी कहा जाता है। इस सूत्र के द्वारा विहित सप्तमी विभक्ति 'निर्ज्ञातकाल' क्रिया के आश्रयभूत कर्त्ता तथा कर्म के वाचक शब्द से होती है[४]। अतः उस कर्त्ता तथा कर्म के विशेषण शब्द से भी सप्तमी होती है। लक्षक क्रिया के

तत्तस्य लक्षणमित्यर्थ;—छदीप, पृ० ५१०, पूर्वोक्त संस्करण। अत्र यदवश्यं पुनः पुनर्लक्ष्यज्ञापकं तदेव न लक्षणम्। किन्तु सकृज्ज्ञापकमपि–बालमनोरमा, पृ०६६८।

१. इदञ्च यत्र मानान्तरेणज्ञातस्वरूपस्यार्थस्य कालविशेषादिज्ञापनार्थं शब्दप्रयोग स्तत्रैव प्रवर्त्तते भाष्यस्वरसात्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७५, गु० प्र० शास्त्री। अनेन 'मानान्तरेण' यस्य स्वरूपं ज्ञातं तस्य कालविशेषज्ञापनार्थं शब्दप्रयोगे एतस्य प्रवृत्तिं सूचयति—उद्योत, पृ० ५१०, पूर्वोक्त संस्करण।

२. कर्मण्याह गोष्विति—प्रौढ़मनोरमा, पृ० ९५९ चौखम्बा संस्करण।

३. 'तत्र ब्राह्मणेषु अधोयानेषु गतः' इति कर्तयुदाहरणम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७४, ब्राह्मणेष्वधोयानेषु गत इति कर्त्तयुदाहरणम्—प्रौढ़ मनोरमा पृ० ९५९, चौखम्बा संस्करण। कर्तृगतक्रियायास्तु ब्राह्मणेष्वधीयानेषु गत इत्युदाहार्यम्—बालमनोरमा, पृ० ६६८, म० म० गिरिधर शर्मा।

४. तदाश्रययोः कर्तृकर्मणो बोधकादियं सप्तमी—प्रौढ़मनोरमा, पृ० ९५३, चौखम्बा संस्करण, यस्य च क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततो भाववतः सप्तमी विभक्तिर्भवति—काशिकावृत्ति, २-३-३० ।

श्राश्रय का वाचकत्व 'गो' तथा 'दुह्यमान' दोनों शब्दों का ही है, इसलिए दोनों शब्दों में ही सप्तमी होती है। (शब्द रत्न की भैरवी टीका, पृ० ९५ चौ० संस्करण।)

इस सूत्र में उल्लिखित निर्ज्ञातकाल क्रिया का साक्षात् रूप से लक्षक है। ब्राह्मण आदि का (ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः इत्यादि प्रयोग में) लक्षकत्व क्रिया के माध्यम से होता है। 'गोषु दुह्यमानासु गतः'— इत्यादि प्रयोग स्थल में भी दोहन क्रिया का साक्षात् लक्षकत्व है। गायों का लक्षकत्व दोहन क्रिया के श्राश्रय होने से परम्परया होता है[1]। परन्तु प्रौढ़मनोरमा शब्दरत्न टीका की रत्नप्रकाशिका नामक व्याख्या में (भैरवी नाम से प्रसिद्ध टीका में) महामहोपाध्याय श्री भैरव मिश्र जी ने कहा है कि धातूपस्थाप्य क्रिया असत्वभूत होने से साक्षात् ज्ञापक होती है, यह कहना असम्भव है किन्तु आश्रय द्वारा ही ज्ञापक होती है। अतः क्रिया का साक्षात् ज्ञापकत्व और क्रियाश्रय का क्रिया के द्वारा ज्ञापकत्व है—यह मत खण्डित है (एनेन क्रिययोः साक्षात् तदाश्रययो स्तद्द्वारेति कस्यचिदुक्तिर्निरस्ता— भैरवी, पृ० ९५६, चौखम्बा संस्करण)। परन्तु यह मत चिन्तनीय है।

भावे सप्तमी विभक्ति का 'ज्ञापकत्व' अर्थ माना गया है और उस का अपर क्रिया में ही अन्वय होता है[2]।

लघुशब्देन्दुशेखर की वरवर्णिनी नामक टीका में पण्डितप्रवर गुरुप्रसाद शास्त्रीजी ने अपने गुरुवर पण्डित श्री हरनारायण त्रिपाठी महोदय के मत के रूप से 'भावे सप्तमी' का सामानाधिकरण्यरूप अर्थ कहा है और सम्बन्ध मुद्रा में अनुगम करके कालत्रय घटित सामानाधिकरण्य

---

१. लक्षकत्वमिह क्रियाया; साक्षात्, आश्रयस्य तु ब्राह्मणादे। क्रियाद्वारेणेति बोध्यम्— तत्त्वबोधिनी, पृ० ६१७, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। अत्र दोहनक्रियायाः साक्षाल्लक्षकता। गवां तु तदाश्रयतया—बालमनोरमा, पृ० ६१७।

२. ज्ञापकत्वं सप्तम्यर्थः, तस्य 'भावलक्षण' मित्युक्तेः क्रियायामेवान्वयः—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७४, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

वह अर्थ है, ऐसा 'तत्त्वञ्च यथायथं स्वाधिकरणकालवृत्तित्व-स्वाधिकरणकालोत्तरकालवृत्तित्वस्वाधिकरणकालपूर्वकालवृत्तित्वैतदन्यतम सम्बन्धेन स्वविशिष्टत्वम्' इस पंक्ति में कहा है[1]। इस अनुगम से 'गोषु दुह्यमानासु गतः—गायों के दुहे जाते समय गया' 'गोषु धोक्ष्यमाणासु गमिष्यति'—गायों के भविष्य में दुहे जाते समय जायगा, 'गोषु दुग्धासु गतः'—गायों के अतीतकाल में दुहे जाते समय गया था'—तीनकालों के प्रयोग का एक साथ ग्रहण किया गया है। अनुगम के अन्तर्गत 'स्व' पद से उपरोक्त उदाहरण वाक्य बोधित 'दुह्' धात्वर्थ दोहन क्रिया को लेना है। अतएव दोहन क्रिया जिसकाल में होती है, उसी काल में 'गम्' धात्वर्थ गमन क्रिया के होने से 'स्वाधिकरणकालवृत्तित्व' आदि गमन क्रिया में रहता है। इसलिये तादृश 'स्वाधिकरणकालवृत्तित्व' आदि सम्बन्धों में अन्यतम किसी एक सम्बन्ध से स्वपदग्राह्य दोहन क्रिया विशिष्ट गमन क्रिया होती है। अतः गमन क्रिया में प्रोक्त अन्यतम सम्बन्ध से स्वविशिष्टत्व-रूप स्वसामानाधिकरण्यात्मक स्वविशिष्टत्व भावे सप्तमी का अर्थ है।

भावे सप्तमी की इस प्रकार अर्थ कल्पना के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह कल्पना पण्डित हरनारायण त्रिपाठीजी की अपनी कल्पना नहीं है। 'सति सप्तमी का सामानाधिकरण्यरूप अर्थ तत्त्वचिन्तामणिकार महानैयायिक गङ्गेशोपाध्यायजीका मत है। शब्द शक्ति प्रकाशिकाकार श्रीजगदीश तर्कालङ्कारजी ने शब्दशक्तिप्रकाशिका ग्रन्थ में यह मत तत्त्वचिन्तामणिकार का चिन्तित मत है, ऐसा उल्लेख किया है (अतएव सामान्यवत्त्वे सति बाह्यकरणकप्रत्यक्षत्वादित्यादौ सति सप्तम्याः सामानाधिकरण्यमर्थश्चिन्तामणौ चिन्तितः—शब्दशक्ति प्रकाशिका)।

---

[1] श्रीगुरवस्तु सामानाधिकरण्यं सप्तम्यर्थः। तत्त्वञ्च यथायथं स्वाधिकरणकालवृत्तित्व स्वाधिकरणकालोत्तरकालवृत्तित्वस्वाधिकालपूर्वकालवृत्तित्वैतदन्यतमसम्बन्धेन स्वविशिष्टत्वमेवेत्याहुः—वरवर्णिनी (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७७४, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

'यस्य च भावेन'—इत्यादि सूत्र में प्रथम 'भावेन पद क्यों कहा है ? इसके उत्तर में काशिकावृत्ति में प्रत्युदाहरण के रूप में कहा गया 'यो जटाभिः स भुङ्क्ते—जो जटाओं से उपलक्षित है, वह खा रहा इस प्रत्युदाहरण वाक्यस्थ 'जटा शब्द का अर्थ 'भाव' अर्थात् धातु रूप क्रिया न होने से जटा के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से भोजन क्रिया लक्षित होने पर भी 'जटा' शब्द में सप्तमी विभक्ति नहीं हुई है[1]।

फिर से उसी सूत्र में द्वितीय 'भाव शब्द क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में भी काशिका वृत्ति में कहा गया है—'यो भुङ्क्ते स देवदत्तः'—जो खा रहा है वह देवदत्त है। इस वाक्य में भोजन क्रिया के द्वारा लक्षित देवदत्त एक मनुष्य है, 'भाव अर्थात् धात्वर्थ नहीं। इसलिये 'यो' पद में सप्तमी विभक्ति नहीं हुई है[2]।

'अर्हाणां कर्त्तृत्वेऽनर्हाणामकर्त्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च —

योग्यों के कर्त्तृत्व में और अयोग्यों के अकर्त्तृत्व में तथा उसके विपरीत स्थिति में योग्य तथा अयोग्यों के बोधक शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है।

इस वार्तिक में जो 'अर्ह शब्द है उसका अर्थ 'जिस क्रिया में जो उचित या योग्य[3]। वार्तिकस्थ 'अनर्ह शब्द का भी उसी प्रकार जिस क्रिया में अनुचित या अयोग्य, यह अर्थ है।

जब योग्यों का कर्त्तृत्व तथा अयोग्यों का अकर्त्तृत्व की विवक्षा की जाती है तब 'सत्सु तरत्सु असन्त आसते—सज्जनों के तर जाते रहते असज्जन रह जाते हैं।

वार्तिकस्थ 'अर्ह' शब्द का क्रियाकर्त्तृत्वार्हरूप अर्थ है। काशिकावृत्ति में 'सप्तम्यधिकरणे च (२—३—३५) सूत्र व्याख्या प्रसङ्ग में

१. भावेनेतिकिम् ? योजटाभिः स भुङ्क्ते—काशिकावृत्ति (२—३—३७)।
२. पुनर्भावग्रहणं किम् ? यो भुङ्क्ते स देवदत्तः—काशिकावृत्ति (२—२—३७)
३. यस्यां क्रियायां ये उचितास्ते अर्हाः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६६७, म० म० गिरि शर्मा संस्करण।

क को 'कारकार्हाणां च कारकत्वे सप्तमी वक्तव्या' इस रूप से पाठ किया है। उसकी व्याख्या में पदमञ्जरी तथा न्यास टीका में कहा गया है इस वार्त्तिकस्थ कारकशब्द 'भावप्रधान है। अर्थात् 'कारक शब्द से कारक भाव अर्थात् 'कारकत्व को समझना है'[1]।—महाभाष्य की प्रदीप टीका चार्य कैयटने भी ऐसा ही कहा है। न्यास टीका में यह कहा गया है कि के लिये जिनका साधनत्व (अर्थात् कारकत्व) न्याय्य है वे 'कारकार्ह' है। उनके 'कारकार्हत्व को समझाने के लिये सप्तमी विभक्ति होती है[2]।

यह वार्त्तिक सूत्र लक्ष्यलक्षण भाव की अविवक्षा के लिये कहा गया है[3]। लक्षणभाव की विवक्षा करने से 'यस्य च भावेन भावलक्षणम् -३-३७) सूत्र से ही सप्तमी विभक्ति होगी।[4]

काशिकावृत्ति की न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्रबुद्धिजी ने कहा है कि सब स्थलों में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२-३-३७) सूत्र से ही सिद्ध है। 'ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते' इत्यादि वाक्यों में ऋद्धादि- न्धि भुजिक्रियात्मक 'भाव' से दरिद्रादिसम्बन्धि आसनादि 'भाव' लक्षित है। तत्त्वबोधिनी टीका में भी इस वार्त्तिकसूत्र की व्याख्याप्रसङ्ग में

---

१. कारकशब्दो भावसाधनः, कारकत्वार्हाणामित्यर्थः—पदमञ्जरी (काशिका, भाग २) पृ० १९४, प्रा० भा० प्रकाशन।

कारकशब्दो भावप्रधानः। तेन कारकत्वमर्हन्तीत्यर्थः—महाभाष्य प्रदीप (महाभाष्य खण्ड २), पृ० ५०९, नि० सा० प्रेस।

२. भावप्रधानोऽत्र कारकशब्दः। क्रियां प्रति येषां कारकत्वं साधनत्वं न्याय्यं ते कारकार्हाः, तेषां कारकार्हत्वे सप्तमी वक्तव्या—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १९४, प्रा० भा० प्रकाशन २-३-३५ सूत्रे।

लक्ष्यलक्षणभावाविवक्षायामपि यथा स्यादिति वचनम्—पदमञ्जरी, (काशिका) पृ० ७७५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. लक्ष्यलक्षणभावाविवक्षायामपि यथा स्यादिति वचनम्—महाभाष्य प्रदीप (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५०९.

४. तद्विवक्षायामुत्तरसूत्रेण सिद्धत्वात्—महाभाष्य प्रदीप, पृ० ५०९.

आचार्य कैयटादि का पूर्वोक्त मत उल्लेख करके अन्त में कहा गया है कि वास्तव में अपर आचार्यों के मतानुसार (सम्भवतः न्यास टीकाकार आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि उनके ध्यान में थे) यह वार्त्तिक सूत्र व्यर्थ ही है[१]।

'अर्हाणां कर्त्तृत्वे—इत्यादिवार्त्तिकसूत्र के उदाहरण के लिये 'सत्सु तरत्सु असन्त आसते—इत्यादि चार वाक्य कहे गये हैं। यथा—(१) सत्सु तरत्सु असन्त आसते— सज्जनों के तर जाते असज्जन रह जाते हैं, (२) असत्सु तिष्ठत्सु सन्त स्तरन्ति'—असज्जनों के रहते सज्जन तर जाते हैं,—ये दोनों वाक्य 'अर्हाणां कर्त्तृत्वेऽनर्हाणामकर्त्तृत्वे' इस वार्त्तिक सूत्र के उदाहरण हैं। इसके बाद 'तद्वैपरीत्ये च' इस वार्त्तिक के लिये बाकी दो उदाहरण हैं, यथा (३) 'सत्सु तिष्ठत्सु असन्त स्तरन्ति—सज्जनों के रहते असज्जम तर जाते हैं, (४) 'असत्सु तरत्सु सन्त स्तिष्ठन्ति—असज्जनों के तरते सज्जन रह जाते हैं।

लक्ष्यलक्षणभाव की अविवक्षा में 'अर्हाणां कर्त्तृत्वे—इत्यादि वार्त्तिक के अनुसार 'सत्सु तरत्सु असन्त आसते इत्यादि वाक्य से 'तरण क्रिया कर्त्तृसम्बन्धि असत्कर्त्तृक आसन' इस प्रकार बोध होता है। 'स्वक्रियाधिकरण कालवृत्तित्व सम्बन्ध यहां ज्ञान का विषय होता है[२]। 'स्व' पद से प्रथम वाक्य में सज्जनों को लेना है। सज्जनों की जो 'तरण क्रिया है उस क्रिया का अधिकरणीभूत जो काल, उस काल में असज्जनकर्त्तृक 'आसन' क्रिया है। इसलिये 'स्वक्रियाधिकरणकालवृत्तित्व' सम्बन्ध से सज्जनकर्त्तृक 'तरण' क्रिया के द्वारा विशिष्ट असज्जनकर्त्तृक 'आसन' क्रिया हो जाती है।

---

१. यद्यपीदं 'यस्य च भावेन'—इत्येव सिद्धम्, तथापि लक्ष्यलक्षणभावाविवक्षायां सप्तम्यर्थमिदमिति कैयटादयः'। वस्तुतस्तु व्यर्थमेवेदमित्यन्ये—तत्त्वबोधिनी पृ०६६९ म० म० गिरिधर शर्मा।

२. तरण क्रियाकर्त्तृसम्बन्धि असत्कर्त्तृकमासनमिति बोधः। स्वक्रियाधिकरणकालवृत्तित्वं सम्बन्धः—लघुशब्देन्दु, पृ० ७७५, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

षष्ठी चानादरे (२-३-३८)

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य सन्यस्तवानित्यर्थः ।

अनुवाद तथा विवृति—यदि अनादर अधिक हो तो भाव के लक्षण में षष्ठी विभक्ति भी (अर्थात् सप्तमी भी) हो ।

जिस भाव के लक्षण में अनादर रूप अर्थ का आधिक्य हो उसमें (अर्थात् उसको समझने के लिये) षष्ठी तथा सप्तमी दोनों विभक्तियाँ हों ।

उदाहरण—'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्'—(पुत्र के) रोते रहने पर भी (सन्यास) ग्रहण किया । 'रुदन्तं पुत्रादिकम्' इत्यादि—रोते हुए पुत्रादि का अनादर करके, सन्यास ग्रहण किया—यह वाक्य का अर्थ है ।

इस सूत्र में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२-३-३७) इस पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति हुई है[१] । सूत्रस्थ 'अनादरे' पद में जो सप्तमी विभक्ति है, वह विषय सप्तमी है[२] । तब सूत्र का अर्थ यह होता है—अनादर गम्यमान होने पर जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है, उसके वाचक शब्द में सप्तमी तथा षष्ठी विभक्तियाँ हों[३] । उदाहरण वाक्यस्थ 'प्राव्राजीत्' पद के प्रकृतिभूत प्रपूर्वक 'व्रज्' धातु का अनादरविशिष्ट 'प्रव्रजन' अर्थ है । और 'रुदतः' पद में स्थित षष्ठी विभक्ति का 'लक्ष्यलक्षण भाव' अर्थ है[४] । इस प्रकार धात्वर्थ समझने में षष्ठी विभक्ति तात्पर्य ग्राहक है । अनादर 'प्रत्यासत्तिन्याय' से पुत्रादि विषयक ही है ।

---

१. 'यस्य च भावेने'त्याद्यनुवर्त्तते—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७५, गु० प्र० शास्त्री । 'यस्य चे'ति पूर्वसूत्रमनुवर्त्तते—बालमनोरमा, पृ० ६९८, म० म० गिरिधर शर्मा ।

२. अनादर इति विषयसप्तमी—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७५ ।

३. अनादरे गम्यमाने यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी षष्ठी चेत्यर्थः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७५ ।

४. लक्ष्यलक्षणभावः षष्ठ्यर्थः । अनादरविशिष्टं प्रव्रजनं धात्वर्थः । तत्र षष्ठी तात्पर्यग्राहिका, अनादरश्च प्रत्यासत्त्या पुत्रादिविषयक एवेति भावः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७५-७७६, गु० प्र० शास्त्री । अनादरश्च लक्षकक्रियाश्रयपुत्रादिविषयः—बालमनोरमा, पृ० ६९८, म० म० गिरिधर शर्मा ।

षष्ठी विभक्ति का अर्थ जो लक्ष्यलक्षण भाव कहा गया है, वह सप्तमी विभक्ति का भी अर्थ है। षष्ठी विभक्ति सप्तमी का भी उपलक्षण है। आगे चल कर भी ऐसे स्थलों में इसी प्रकार अर्थ समझना है[1]। तब 'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्' वाक्य का वर्त्तमानरोदन क्रिया से विशिष्ट पुत्रादिज्ञाप्य अनादर विशिष्ट प्रव्रजन अर्थ होता है[2]।

सूत्रस्थ 'अनादर' शब्द का तिरस्कार या परिभव अर्थ है। (न्यास, पृ० १९९ (काशिका भाग २), प्रा० भा० प्रकाशन। अनादर विशिष्ट प्रव्रजन धात्वर्थ बताया गया है। धात्वर्थ प्रव्रजन में अनादर का वैशिष्ट्य स्वसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से है। तिरस्कार का कर्त्ता और प्रव्रजनकारी एक ही व्यक्ति होने से स्वपदग्राह्य तिरस्कार के द्वारा सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से प्रव्रजनरूप धात्वर्थ विशिष्ट हो सकता है। तिरस्कार पदार्थ यदि ज्ञान विशेष करके माना जाय तो 'स्वाश्रयावच्छेदक शरीर वृत्तित्व' सम्बन्ध रूप परम्परा सम्बन्ध से तिरस्कार विशिष्ट प्रव्रजनरूप धात्वर्थ हो सकता है। न्यायवैशेषिक या अद्वैतवेदान्त सिद्धान्तानुसार ज्ञान का आश्रय आत्मा या मन का अवच्छेदक शरीर है। उस शरीर में प्रव्रजन क्रिया रहने से 'स्वाश्रयावच्छेदकशरीरवृत्तित्व' सम्बन्ध से स्वपदग्राह्य तिरस्कारात्मक ज्ञान से प्रव्रजन क्रिया विशिष्ट होती है। यदि प्रव्रजन भी ज्ञान विशेष ही है तो साक्षात् स्वसामानाधिकरण्य सम्बन्ध से तिरस्कार के द्वारा प्रव्रजन विशिष्ट हो सकता है।

भाव लक्षण की अपेक्षा अनादररूप अर्थ अधिक प्रतीयमान होने पर

---

१. षष्ठीपदमुपलक्षणम् सप्तम्या अपि। एवमग्रेऽपि। चिद्रस्थिमाला (लघुशब्देन्दु०) पृ० ७७५, गु० प्र० शास्त्री।

२. वर्त्तमानरोदनक्रियाविशिष्टपुत्रादिज्ञाप्यम् अनादरविशिष्टं प्रव्रजनमित्यर्थः—बालमनोरमा पृ० ६६८।

और सप्तमी दोनों विभक्तियां होती हैं। केवल भाव लक्षण होने पर मी विभक्ति ही होती है, षष्ठी नहीं[1]।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च। (२–३–३९)

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं म्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं इत्यर्थः।

अनुवाद तथा विवृत्ति—इन सात शब्दों के योग से षष्ठी और सप्तमी नों विभक्तियाँ हों। ('षष्ठी शेषे' (२–३–५०) (सूत्र से) केवल षष्ठी भक्ति की प्राप्ति दशा में वैकल्पिक सप्तमी विभक्ति के लिये यह सूत्र हा गया) है।

उदाहरण—'गवां गोगु वा स्वामी'—गायों का स्वामी। 'गवां गोषु प्रसूतः'—गायों को ही अनुभव करने के लिये पैदा हुआ है। अर्थात् गायें उसका एकमात्र पैतृक धन है, इस प्रकार जानने के लिये वह पैदा हुआ है।

इसी प्रकार 'ईश्वर', 'अधिपति' आदि शब्दों के योग से भी षष्ठी और मी विभक्तियाँ हो सकती हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस सूत्र की का वृत्ति में सूत्रोक्त उन सभी शब्दों के योग से षष्ठी और सप्तमी क्तियुक्त वाक्य कहे गये हैं। यथा—गवां स्वामी, गोषु स्वामी— गायों का स्वामी) गवामीश्वरः, गोषु ईश्वरः—गायों का मालिक। गवा- धिपतिः, गोषु अधिपतिः—गायों का अधिपति। गवां दायादः, गोगु याद—गोरूप पितृधन को ग्रहण करने वाला। गवां साक्षी, गोषु साक्षी— यों का जामिन। गवां प्रसूतः, गोषु प्रसूतः—गायों को (पितृ धन के से) अनुभव करने के लिये पैदा हुआ।

सूत्र में 'स्वाम्यर्थ'—इत्यादि रूप से न कह कर पर्याय शब्द होने पर

[1]. केवलभावलक्षणे सप्तम्येव, अनादराधिक्ये तु षष्ठीसप्तम्याविति निष्कर्षः—तत्त्व- बोधिनी, पृ० ६६८, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

भी स्वामी, ईश्वर तथा अधिपति शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण करने से यह सूचित किया गया है कि दूसरे किसी 'स्वामी' पर्याय शब्दों के प्रयोग से षष्ठी और सप्तमी न होकर केवल 'शेषे षष्ठी' ही होगी, यथा—'ग्रामस्य राजा'—गाँव का राजा[1]।

६३७ आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् । (२–३–४०)

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तोव्यापारितः। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे । ईषद्युक्त इत्यर्थः ।

अनुवाद तथा विवृति—'तदेकव्यापारता'[2] रूप तात्पर्य अर्थ में 'आयुक्त' तथा कुशल' इन दोनों शब्दों के योग मे तृतीया विभक्ति हो। सूत्रस्थ 'आयुक्त' शब्द का व्यापारित अर्थात् प्रवर्त्तित अर्थ है। उदाहरण यथा–आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा—(भगवान्) हरि के पूजन में तत्पर अथवा निपुण। इस उदाहरण में चार वाक्य हैं, यथा—(१) आयुक्तो हरिपूजने, (२) आयुक्त हरिपूजनस्य, (३) कुशलो हरिपूजने, (४) कुशलो हरिपूजनस्य । प्रथम दोनों वाक्यों का हरि के पूजन में तत्पर, यह अर्थ है। बाकी दोनों वाक्यों का हरि के पूजन में निपुण, यह अर्थ है। सूत्रस्थ 'आसेवा' शब्द का 'तातपर्य' अर्थ है। 'तात्पर्य' शब्द का औत्सुक्य अर्थ भी है[3]।

---

१. 'पर्यायान्तरसंग्रहापत्त्या स्वाम्यर्थमितिनोक्तम्'लघुशब्देन्दु०, ७७६, गु० प्र० शास्त्री। 'स्वाम्यर्थं—' इति वक्तव्ये स्वाम्यादित्रयग्रहणं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्—तत्त्वबोधिनी, पृ० ६९८, म० म० गिरिधर शर्मा। 'स्वामीश्वराधिपतीनामेकार्थत्वेऽपि, भेदेनोपादानं पर्यायान्तरनिवृत्त्यर्थम्। इह मा भूत—ग्रामस्यराजेति'—न्यास (काशिका, भाग २) पृ० १९६-१९७ प्रा० भा० प्रकाशन।

२. तात्पर्यञ्च तदेकव्यापारता—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७६, गु० प्र० शास्त्री।

३. तात्पर्यं इति। औत्सुक्ये इत्यर्थः। 'तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः—बालमनोरमा, पृ० ६९९।

इस सूत्र की काशिका वृत्ति में 'आयुक्तः कटकरणस्य । आयुक्तः कटकरणे । कुशलः कटकरणस्य । कुशलः कटकरणे'—कट या चटाई के बनाने प्रवर्तित, कट या चटाई के बनाने में निपुण—ऐसे उदाहरण दिये गये हैं।

न्यास टीका में इसकी व्याख्या प्रसङ्ग में कहा गया है कि 'आयुक्तता' अथवा 'निपुणता' कटकरण विषयक ही है। इसलिये अधिकरण में केवल सप्तमी विभक्ति की प्राप्ति होने से वैकल्पिक षष्ठी विधान के लिये यह सूत्र कहा गया है[1]।

लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्टजी ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है 'आयुक्तयोगेऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमीप्राप्तौ सम्बन्धविवक्षायामत्र कुशलयोगे षष्ठीप्राप्तौ वचनम्'[2]—अर्थात् आयुक्त शब्द के योग से अधिकरणत्व की विवक्षा में सप्तमी विभक्ति की प्राप्ति होनेपर और सम्बन्ध की विवक्षा में इस वाक्य में तथा कुशल शब्द के योग से षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति होने पर यह सूत्र कहा गया है।

इस सूत्र की व्याख्या में बालमनोरमा टीका में वासुदेव दीक्षितजीने भी कहा है 'अत्र वैषयिकाधिकरणत्व विवक्षायां सप्तम्यामेव प्राप्तायाम्, सम्बन्धमात्र विवक्षायां षष्ठ्यामेव प्राप्तायां वचनम्'[3]—अर्थात् इस उदाहरण वाक्य में वैषयिक अधिकरणत्व की विवक्षा करने पर—'हरिपूजने' इस प्रकार केवल सप्तमी विभक्ति की प्राप्ति होने से और सम्बन्धमात्र की विवक्षा करने पर 'हरिपूजनस्य' इस प्रकार केवल षष्ठी विभक्ति की प्राप्ति होने पर षष्ठी तथा सप्तमी दोनों विभक्तिओं की प्राप्ति के लिये यह सूत्र कहा गया है।

'आसेवायां किम् ?'—आयुक्तो गौः शकटे। ईषद्युक्त इत्यर्थः'—सूत्र में 'आसेवायाम्' ऐसा क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में 'आयुक्तो गौः

---

१. आयुक्तता निपुणता च कटादिकरणविषयैवेति सप्तम्यामेव प्राप्तायां पक्षे षष्ठीविधानार्थं वचनम्—न्यास (काशिका भाग २) पृ० १९७, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७६, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

३. बालमनोरमा, पृ० ६१९, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

शकटे'—बैल गाड़ी में थोड़ा सा जुड़ा हुआ है। इस प्रत्युदाहरण में 'आयुक्त' पद ईषद्युक्त अर्थ में व्यवहृत हुआ है, 'आसेवा' अर्थात् 'तात्पर्य' या 'तत्परता' अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है।

६३८ यतश्च निर्धारणम्। (२–३–४१)

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

अनुवाद तथा विवृति—जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा अर्थात् नाम—(इन चार में से किसी एक) के द्वारा समुदाय से एक देश का पृथक्करण जिस (समुदाय) से हो तद्वाचक शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्तियाँ हों।

उदाहरण—'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः'—मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। 'गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा—गायों में काली गाय बहुत दूध देनेवाली (दुधारू) है। 'गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः-चलनेवालों में दौड़नेवाला शीघ्र होता है 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः'—छात्रों में मैत्र निपुण है।

सूत्र का तात्पर्य यह है कि जिस समुदाय से एक देश का जाति, गुण, क्रिया अथवा संज्ञा से पृथक्करण अर्थात् निर्धारण विभक्तिवाच्य स्वेतर में में अवर्तमान धर्म विशेष का सम्बन्ध बोधन समझा जाता है, समुदायवाचक शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है। इस प्रसंग में 'स्वशब्द के द्वारा एक देश कहा गया है'[1]। सूत्र की व्याख्या में यतः' और 'ततः' पद में पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय हुआ है[2]। सूत्रस्थ 'यतः' शब्द में

---

१. यस्मात् समुदायाद् एकदेशस्य जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः पृथक्करणं स्वेतरधर्मव्यावृत्त धर्मविशेषवत्त्वबोधनं निर्धारणशब्दवाच्यं गम्यते तस्मात् षष्ठीसप्तम्यावित्यर्थः। अत्र स्वशब्देन एकदेश उच्यते—बालमनोरमा, पृ० ६६६, म० म० गिरिधर शर्मा।

२. यत इति तत इति च पञ्चम्यर्थे तसिः—बालमनोरमा, पृ० ६६६।

श्री पञ्चम्यर्थ में 'तसि- प्रत्यय है। सूत्र में 'ततः- शब्द न कहने पर भी 'यत्-
और 'तत्- का नित्य सम्बन्ध होने के कारण (यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः)
'ततः- शब्द ऊह्य हैं।

'नृणां द्विजः श्रेष्ठः यह वाक्य जाति के द्वारा पृथक्करणरूप निर्धारण
का उदाहरण है। इस वाक्य में 'नृ शब्द मनुष्यसमुदायरूप अर्थ में प्रयुक्त
हुआ है। उद्भूतावयव भेद की विवक्षा से बहुवचन का प्रयोग हुआ है।
'द्विजः' पद में जात्यभिप्राय में एकवचन है[1]। अर्थात् 'द्विजः पद में स्थित
'सु विभक्ति का जो एकत्वरूप अर्थ है, वह 'द्विजत्व' जाति में अन्वित होगा—
इस अभिप्राय से 'द्विजः' पद में एकवचन का प्रयोग किया गया है। नहीं तो
द्विजव्यक्ति असंख्य होने से उनमें एकत्व का अन्वय करना सम्भव नहीं होता।

'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः इस उदाहरण वाक्य में स्थित 'नृणाम्' तथा
'नृषु' पद में जो षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हैं, उनका 'अवयवावयिभाव
सम्बन्ध तथा 'उदाहृतनिर्धारणविषयत्व अर्थ है[2]। लघुशब्देन्दुशेखर में नागेश
भट्टजी ने निर्धारणविभक्त्यर्थ निरूपणप्रसङ्ग में निर्धारण का स्वरूप
बतलाया है कि जिसका पृथक्करण किया जाता है स्वपद ग्राह्य उस एकदेश
से घटित समुदायावधिक जो स्वेतर समुदायघटक अपर मनुष्यों में अवर्त्तमान
धर्मकरणक पृथक्करण है, वही निर्धारण है। कहने का तात्पर्य यह है कि
'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः' इस वाक्य में 'नृणाम्' अथवा 'नृषु' पद में जो

---

१. तत्र जात्या पृथक्करणमुदाहरति—नृणां नृषु वेति। नृशब्दो मनुष्यसमुदाये वर्त्तते। उद्भूतावयवभेदविवक्षायां बहुवचनम्। द्विज इति जात्यभिप्रायकमेकवचनम्—बालमनोरमा, पृ० ६९९, म० म० गिरिधर शर्मा। उद्भूतावयवभेदविवक्षया नृणामिति बहुवचनम्—लघुशब्देन्दु, पृ० ७७८, गु० प्र० शास्त्री।

२. षष्ठीसप्तम्योः अवयवावयविभावः सम्बन्धोऽर्थं उदाहृतनिर्धारणविषयत्वरूपश्च—बालमनोरमा, पृ० ६९९, म० म० गिरिधर शर्मा। स्वघटितसमुदायावधिकस्वेतरसमुदायव्यावृत्तधर्मकरणकपृथक्करणरूपनिर्धारणविषयत्वरूपोऽवयवावयविभावरूपश्च सम्बन्धो विभक्त्यर्थः—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७७-७७८; गु० प्र० शास्त्री।

निर्धारणार्थक षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति है, उस विभक्ति का एक पर्य निर्धारणविषयत्व या विषयता सम्बन्ध से निर्धारण है। यह निर्धारण पृथक्करणात्मक है। पृथक्करण कहने पर किससे किसका पृथक्करण है, यह प्रश्न उठता है। अतएव इस पृथक्करण के निरूपण प्रसंग में कहा गया है कि मनुष्यों का एकदेश जो द्विज हैं, उन द्विजों के द्वारा घटित जो मनुष्य समुदाय है, उस समुदाय से द्विजों को पृथक् किया जाता है। इस पृथक्करण का अवधि मनुष्य समुदाय है, जो कि द्विजों के द्वारा घटित है। और पृथक्करण का 'करण या 'साधन एक ऐसा धर्म है जो कि मनुष्यसमुदाय के घटक द्विजेतर अपर मनुष्यों में अवर्त्तमान है। वह धर्म 'श्रेष्ठत्व रूप है। श्रेष्ठत्व रूप धर्म के द्वारा ही द्विजेतर अपरापर मनुष्यों से द्विजों को पृथक् किया जाता है। तब 'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः—इस वाक्य का मनुष्य समुदाय का एकदेशभूत द्विज अपने से भिन्न मनुष्यों में अवर्त्तमान श्रेष्ठत्व रूप धर्मविशिष्ट—यह अर्थ होता है[1]। लघुशब्देन्दुशेखरकार नागेशभट्ट जी के मतानुसार 'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः—इस वाक्य से 'नृसमुदायावधिक द्विजेतरनरव्यावृत्तधर्मकरणकपृथक्करणरूपनिर्धारणविषयो नृसमुदायावयवो द्विजः श्रेष्ठः—इस प्रकार का शाब्दबोध होता है[2]। अर्थात् द्विजेतरनर में अवर्त्तमान जो (श्रेष्ठत्वरूप) धर्म, तत्करणक नृसमुदायावधिक जो पृथक्करण रूप निर्धारण, उसका विषय द्विज श्रेष्ठ है, यही 'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः—इस वाक्य से समझा जाता है।

'निर्धारण विभक्ति के इस अर्थ के एकदेश को ही संसर्गमुद्रा से मनुष्य कर के लघुशब्देन्दुशेखर की वरवर्णिनी टीका में 'गौड़ाः प्राहुः' इस प्रकार कहा गया है, यथा 'समुदायविशिष्टत्वं निर्धारणविभक्त्यर्थः। वै० स्वघटक

---

१. जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः विशिष्टस्येत्यध्याहारः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७६, गु० अ० शास्त्री।

२. मनुष्यसमुदायैकदेशभूतो द्विजः स्वेतरव्यावृत्तश्रैष्ठ्यरूपधर्मक इत्यर्थः—बालमनोरमा पृ० ६११, पूर्वोक्त संस्करण।

वृत्तित्व—स्वघटकनिर्धार्यमाणेतरयावदवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन । तस्य च श्रेष्ठ-त्वेऽन्वयः । पदार्थः पदार्थेनान्वेनीति व्युत्पत्तिस्तु नित्यसाकांक्षेतरविषया । नृारब्धसमुदायघटकवृत्तिनृारब्धसमुदायघटकद्विजेतरयावदवृत्तिश्रेष्ठत्ववदभिन्नो द्विजः श्रेष्ठ इति बोधः—(वरवर्णिनी (लघुशब्देन्दु०), पृ० ७७८, गु० प्र० शास्त्री संस्करण)।

अर्थात् समुदाय से विशिष्ट होने का भाव निर्धारण विभक्ति का अर्थ है। 'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः इस वाक्य के अन्तर्गत 'श्रेष्ठ पदार्थ के एक-देश 'श्रेष्ठत्व में समुदायविशिष्टत्व का अन्वय किया गया है। समुदाय से विशिष्ट कहने से किस सम्बन्ध से विशिष्ट है, यह जिज्ञासा होती है। इस जिज्ञासा के उत्तर में कहा गया है 'स्वघटकवृत्तित्व—स्वघटकनिर्धार्यमाणेतर-यावदवृत्तित्व' एतदुभयसम्बन्ध से 'श्रेष्ठत्व' रूप धर्म समुदाय से विशिष्ट हुआ है। जिससे विशिष्ट कहा जाता है, सम्बन्धघटक 'स्व' पद से उसीका ग्रहण किया जाता है । अतएव स्वघटकवृत्तित्व का अर्थ होता है नृसमुदायघटकद्विज-वृत्तित्व । श्रेष्ठत्व में तादृशवृत्तित्व है । तथा नृसमुदायघटकनिर्धार्यमाण द्विज से भिन्न अपर क्षत्रियादि समुदय मनुष्यों में अवृत्तित्व अर्थात् अवर्त्तमानत्व भी श्रेष्ठत्व में है । कारण श्रेष्ठत्व धर्म द्विजेतर मनुष्यों में कहा नहीं गया है। अतः इन दोनों सम्बन्धों से नृसमुदाय के द्वारा द्विज में रहनेवाला श्रेष्ठत्व विशिष्ट होता है । यह विशिष्टत्व निर्धारण विभक्ति का अर्थ है। उभय सम्बन्ध से समुदायविशिष्टत्व कहने का कारण स्वयम् उहनीय है । ग्रन्थ-विस्तार भय से नहीं कहा जा रहा है।

भट्टोजी दीक्षित की इस सूत्र की वृत्ति में 'जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः' इस तृतीयान्त पद के बाद 'विशिष्टस्य' इस षष्ठ्यन्तपद का अध्याहार करना है[१]। अतएव जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा के द्वारा समुदाय से पृथक्करण को निर्धारण कहा जाता है ।

जाति के द्वारा पृथक्करण के उदाहरण के बाद गुण के द्वारा पृथक्करण का

१. लघुशब्देन्दु, पृ० ७७८, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

उदाहरण दिया गया है—'गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा'—गायों में काली गाय अधिक दूध देनेवाली है। इस वाक्य का भी 'गोसमुदाय के एकदेशभूत कृष्ण गाय अपने से भिन्न (गायों) में अवर्त्तमान बहुक्षीरत्वरूप धर्म विशिष्ट है, इस प्रकार अर्थ है'[1]।

गुण के द्वारा पृथक्करण के बाद क्रिया के द्वारा पृथक्करण का उदाहरण दिया गया है 'गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः'—चलने वालों में दौड़नेवाला शीघ्र होता है। इस वाक्य का भी पूर्वोक्त प्रकार से 'चलनेवालों के समुदाय का एकदेशभूत दौड़नेवाला अपने से भिन्न (गमनकारी) में अवर्त्तमान शीघ्रतारूप धर्मवान् है' इस प्रकार अर्थ है[2]।

क्रिया के द्वारा पृथक्करण के बाद संज्ञा या नाम के द्वारा पृथक्करण का उदाहरण दिया जाता है—'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः'—छात्रों में मैत्र पटु'—अर्थात् निपुण है। इस वाक्य का भी 'छात्र' समुदाय का एकदेशभूत मैत्रनामक (छात्र) अपने से भिन्न (छात्रों) में अवर्त्तमानपटुत्वरूपधर्मवान् है—ऐसा अर्थ है[3]।

निर्धारण के बारे में ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि जिस समुदाय से पृथक्करणरूप निर्धारण किया जाता है तद्वाचक शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया जाता है। 'कारके- (१–४–२३) इस सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'तिरोहितावयवभेदविवक्षया निर्धारणविषये एकवचनमसाध्विति- ऐसा कहा है। अर्थात् अवयव भेद तिरोहित हुआ है, इस प्रकार की विवक्षा से निर्धारण के विषय में एकवचन असाधु हैं। अतएव 'नृणाम्'

---

१. गोसमुदायैकदेशभूता कृष्णा गौः स्वेतरव्यावृत्तबहुक्षीरत्वरूपधर्मिकेत्यर्थः—मनोरमा, पृ० ७००, म० म० गिरिधरशर्मा।

२. गच्छत्समुदायैकदेशभूतो धावन् स्वेतरव्यावृत्तशैघ्र्यधर्मक इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ७००, पूर्वोक्त संस्करण।

३. छात्रसमुदायैकदेशभूतमैत्रनामा स्वेतरव्यावृत्तपटुत्वधर्मक इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ७००, पूर्वोक्त संस्करण।

प्रकार नृसमुदाय को समझाने के लिये बहुवचनान्त 'नृ' शब्द का प्रयोग या गया है। 'मिदचोऽन्त्यात्परः- (१–१–४७) इस सूत्र में जो 'अचाम्-स्थल में 'अचः' यह एकवचनान्त प्रयोग पाणिनि मुनि ने किया है वह त्र निर्देश'[1] है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाणिनि मुनि ने उस सूत्र 'अचः' इस 'अच्' शब्द षष्ठी विभक्ति एकवचन का प्रयोग करके यद्यपि ाम्' इस अर्थ को समझाया है, तथापि निर्धारण समझाने के लिये इस और एतादृश 'अचोऽन्त्यादि' (१–१–६४) इस सूत्र में षष्ठी विभक्ति एकवचन का प्रयोग लाघव के लिये पाणिनि के सूत्र में ही सीमित है। त्र संस्कृत भाषा में ऐसा प्रयोग नहीं होगा।

'द्वन्द्वः सामासिकस्य च' गीता के इस प्रयोग में 'सामासिकस्य' यह पि षष्ठीविभक्ति एकवचनान्त पद है, तथापि समूह अर्थ में 'समास' शब्द 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' (४–२–४७) सूत्र से 'ठक्' प्रत्ययान्त 'सामासिक-' द से समास के समूह का बोध होता है। अतएव बहु समास का बोधक से 'सामासिकस्य' यह षष्ठी विभक्ति एकवचनान्त पद होने पर भी र्धारण अर्थ समझने में कोई बाधा नहीं है[2]।

ः पञ्चमी विभक्ते। (२–३–४२)

विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात्। राः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः।

अनुवाद तथा विवृति—विभक्त अर्थात् विभाग रहने पर निर्धारणाश्रय र्थात् निर्धारण के अवधिवाचक शब्द में) पञ्चमी विभक्ति हो।

सूत्रस्थ 'विभक्त' शब्द का विभाग अर्थ है। जिस स्थल में निर्धारणाश्रय निर्धारण के अवधि से निर्धार्यमाण का (पूर्णरूप से) भेद ही है,

---

१. मिदचोऽन्त्यादित्यादि सौत्रो निर्देश इति तदाशय;—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७८, गु० प्र० शास्त्री।

२. 'द्वन्द्वः सामासिकस्य चे'त्यत्र समाससमूहः इत्यर्थः। समूहेऽर्थे 'अचित्ते'तिठक्—लघुशब्देन्दु०' पृ० ७७८ गु० प्र० शास्त्री।

(किसी प्रकार से अभेद नहीं) वहाँ निर्धारणाश्रय वाचक शब्द में पञ्चमी, हो ।

उदाहरण—'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः'—मथुरा के निवासी पाटलिपुत्र अर्थात् पटना के निवासिओं से अधिक धनवान् हैं।

इस सूत्र में 'यतश्च निर्धारणम्' (२-३-४१) सूत्र की अनुवृत्ति है। सूत्रस्थ 'विभक्ति' शब्द 'वि' पूर्वक 'भज्' धातु के साथ 'नपुंसके भावे क्तः' (३-३-५९) सूत्रानुसार 'क्त' प्रत्यय जोड़ने से बना है। इस शब्द का 'विभाग' अर्थ है। परन्तु इस सूत्र में 'विभाग' से 'भेद' को समझना है[1]। निर्धारण स्थल में सर्वत्र ही किसी न किसी रूप से निर्धारणाश्रय या निर्धारणावधि से निर्धार्यमाण का भेद रहता ही है। जैसे 'नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः' इस वाक्य से प्रतिपादित निर्धारणावधि मनुष्यों का तथा निर्धार्यमाण द्विजों का साधारण मनुष्यत्व सामान्य को लेकर अभेद है और द्विजत्व विशेषधर्म को लेकर भेद भी है। इस लिये सर्वत्र निर्धारण के स्थल में निर्धारणावधि तथा निर्धार्यमाण में भेद के रहते हुए भी इस सूत्र में भेदबोधक 'विभक्त' शब्द का प्रयोग करने से यह समझा जाता है कि जहाँ निर्धारणावधि तथा निर्धार्यमाण में सर्वथा भेद ही है, शब्दोपात्त किसी भी रूप से अभेद नहीं हैं, ऐसे स्थलों में ही इस सूत्रानुसार पञ्चमी विभक्ति होगी[2]। इस सूत्र की व्याख्या में जो 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' उदाहरण वाक्य दिया गया है, उसमें उल्लिखित मथुरा निवासी और पाटलि

---

१. विभागोऽत्र भेदः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७८, गु० प्र० शास्त्री।

२. निर्धारणावधिभूतानां मनुष्यादीनां निर्धार्यमाणानां द्विजानां च सामान्यात्मना अभेदो विशेषात्मना भेदश्च स्थितः। एवञ्च निर्धारणे सर्वत्र कथञ्चिद् भेदस्य सत्त्वे विभक्त इत्यनेन भेद एवेत्यर्थो विवक्षितः। ततश्च यत्र निर्धारणावधे निर्धार्यमाणस्य च भेद एव न तु केनाप्युपात्तरूपेण अभेदः तत्रैवास्य प्रवृत्तिः—बालमनोरमा, पृ० ७००, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। तत्र निर्धारणे सर्वत्र यथाकथंचिद् भेदस्य सत्त्वेन विभक्तग्रहणसामर्थ्याद् यत्र भेद एव नतु केनाप्युपात्तरूपेणाऽभेदस्तत्रैवास्य प्रवृत्तिः—लघु शब्देन्दु०, पृ० ७७८-७७९, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

के निवासियों में सर्वथा भेद ही है, वाक्यान्तर्गत किसी अन्य शब्द के द्वारा त किसी सामान्य रूप से अभेद नहीं है।

सिद्धान्तकौमुदी की प्रौढ़मनोरमा टीका में भी यही बात कही गयी है[१]। काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में आचार्य हरदत्तजी ने भी कहा है र्यमाण तथा निर्धारणाश्रय का विभाग रहने पर निर्धारण होता है। ही निर्धारणाश्रय में 'विभक्त' अर्थात् विभाग रहता है इसलिये (फिर विभक्त कहने के सामर्थ्य से अवधारण समझा जाता है कि जिस निर्धा- श्रय में विभाग ही है, किसी रूप से एकत्व नहीं (वहाँ इस सूत्र से ी होगी)। अतएव 'गवां कृष्णा बहुक्षीरा' इत्यादि स्थल में यद्यपि ह से कृष्णा गौ पृथक् किया जाता है फिर भी गौके रूप से अर्थात् रूप सामान्य धर्म से कृष्णा गौका भी गौके भीतर अन्तर्भाव होता है, लिये पञ्चमी नहीं होती। 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' इस उदा- में मथुरा निवासियों के पाटलिपुत्र के निवासियों में प्राणी के रूप से प्राणित्व रूप सामान्य धर्म लेकर अन्तर्भाव होने पर भी वाक्य में क्षित किसी शब्द के द्वारा उपात्त धर्म को लेकर अन्तर्भाव न होने से ग ही है। हरदत्तजी ने वहाँ पर यह भी कहा है कि यह सूत्र दानप्रकरण में (भाष्यकार के द्वारा) प्रत्याख्यात हुआ है[२]। वुद्धि

---

१. भेद एवेति। न तु शब्दान्तरोपात्तसामान्यरूपाक्रान्ततेति भावः—प्रौढ़मनोरमा; पृ० ६५८, चौ० संस्करण।

२. निर्धार्यमाणस्य निर्धारणाश्रयस्य च विभागे सति निर्धारणं भवति, ततश्च सर्वत्रैव निर्धारणाश्रये विभक्तमस्तीति सामर्थ्यादवधारणमाश्रीयते—यस्मिन्निर्धारणाश्रये विभाग एव, न केनचिदात्मभाव इति। तेन गवां कृष्णेत्यादौ यद्यपि गोमण्डलात् कृष्णागौः पृथक्क्रियते, तथापि गवात्मनान्तर्भावोऽस्तीति न भवति। उदाहरणे तु माथुराणां पाटलिपुत्रकेषु प्राणित्वेनान्तर्भावेऽपि शब्दोपात्ताकारापेक्षयानन्तर्भावाद् विभाग एव भवति। प्रत्याख्यातं चैतत्सूत्रमपादानप्रकरणे—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २), पृ० १६८, प्रा० भा० प्रकाशन।

परिकल्पित अपाय मानकर इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया गया है[1]

न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्र बुद्धिजी ने भी इसी प्रकार की बात कही है। उनका कहना है कि जिससे निर्धारण किया जाता है वह इस प्रसंग में निर्धारणाश्रय कहलाता है। सब निर्धारणाश्रय में विभाग रहता है। अतः विशेषरूप से 'विभक्त' शब्द के उपादान के बल से जहाँ पर केवल विभाग ही है वह निर्धारणाश्रय इस सूत्र में समझा जाता है। इसलिये 'गायों में काली गाय दुधारु है' (गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा) इस स्थल में पञ्चमी नहीं होती। कारण यह है कि निर्धार्यमाण एकदेश (कृष्णा गौ) जब गोत्वरूप सामान्य को लेकर गायों में अन्तर्भूत होता है, इस प्रकार प्रतीत होता है, तब विभाग नहीं है। जब कृष्ण (वर्ण) रूप गुण के कारण पृथक् हुआ है इस प्रकार प्रतीत होता है, तब विभाग होता है। इस स्थल में निर्धारणाश्रय में सर्वथा विभाग नहीं है। परन्तु माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः—इस स्थल में किसी भी प्रकार से मथुरा निवासिओं का पाटलिपुत्र निवासिओं में अन्तर्भाव नहीं है, बल्कि विभाग ही है। कारण यह है कि पाटलिपुत्र के निवासियों में मथुरा के निवासियों का माथुर के रूप में अर्थात् माथुरत्व रूप-सामान्य धर्म को लेकर अन्तर्भाव नहीं हो सकता और अथवा आढ्यतरत्वरूप सामान्य धर्म को लेकर भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अतएव (माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः) इस स्थल में केवल विभाग या भेद ही है, इसलिये यह स्थल इस (पञ्चमी विभक्ते) सूत्र का विषय है[2]

---

१. इदं च सूत्रं बुद्धिपरिकल्पितापायमाश्रित्यापादानप्रकरणे भाष्ये प्रत्याख्यातम्। तत्त्वबोधिनी पृ० ७००, म० म० गिरिधर शर्मा।

२. यतो निर्धार्यते स इह निर्धारणाश्रय इति सर्वस्मिन्नेव निर्धारणाश्रये विभागोऽस्ति। विशेषणोपादानसामर्थ्यात् (विशेषणोपादानसामर्थ्यात् ?) विभाग यत्र स निर्धारणाश्रयो विज्ञायते; तेन कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमेत्यत्र न भवति। तथाहि—गौ निर्धार्यमाण एकदेश यस्मात् गोत्वेनान्तर्भूतः प्रतीयते तस्मान्नास्ति विभाग इति। यदा तु कृष्णेन गुणेन पृथग्भूतः प्रतीयते तदाऽस्ति विभाग इति। नात्र निर्धारणाश्रयो विभाग एव। इह पुनर्माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इति न केनचि

महाभाष्य में भी कहा गया है कि इस सूत्र में 'विभक्त' शब्द ग्रहण के सामर्थ्य से जहाँ नित्य विभक्त ही है वहाँ पञ्चमी होगी। यदि जो विभक्त है अविभक्त भी है, वहाँ पञ्चमी होती तो सूत्र में 'विभक्त' ग्रहण व्यर्थ हो जाता[1]।

महाभाष्य के इस स्थल की व्याख्याप्रसंग में प्रदीप टीका में आचार्य कैयट ने भी कहा है कि सर्वत्र ही निर्धारण में विभाग रहने से पूर्वसूत्र में ही (अर्थात् 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र में) पञ्चमी का ग्रहण करते। अतएव 'विभक्त' ग्रहण के सामर्थ्य से अवधारण का आश्रय लिया जाता है[2]।

'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' इस उदाहरण में पाटलिपुत्र के निवासिओं से मथुरानिवासिओं का भेद ही है, इस बात को समझाने के लिये आचार्य नागेशभट्ट जी ने उद्योत टीका में कहा है कि 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः'—इत्यादि स्थल में मथुरानिवासिओं का पाटलिपुत्र के निवासिओं में प्राणी के रूप से, अर्थात् प्राणित्वरूप सामान्य धर्म को लेकर, अन्तर्भाव होने पर भी वाक्य में उल्लिखित किसी शब्द के द्वारा उपात्त सामान्य धर्म को लेकर अन्तर्भाव नहीं है—यह अभिप्राय है[3]।

प्रकारेण माथुराणां पाटलिपुत्रकेषु अन्तर्भावः; अपि च विभाग एव। तथाहि—न पाटलिपुत्रकेषु माथुरत्वेन नाप्याढ्यतरत्वेन माथुराणामन्तर्भावः। तस्मादत्र विभाग एवेत्ययमस्य योगस्य विषयः—न्यास (काशिका भाग २), पृ० १६८, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

१. विभक्तमेव यन्नित्यं, तत्र भवितव्यम्।···यदि यद् विभक्तं चाविभक्तं च तत्र स्यात्, विभक्तग्रहणमनर्थकं स्यात्—महाभाष्य (खण्ड २), पृ० ५११, नि० सा० प्रेस।

२. सर्वत्रैव निर्धारणे विभागसद्भावात् पूर्वत्रैव पञ्चमीग्रहणं कुर्यात्। तस्माद् विभक्तग्रहणसामर्थ्याद् अवधारणमाश्रीयते इत्यर्थः—महाभाष्यप्रदीप (महाभाष्य, खण्ड २), पृ० ५११, नि० सा० प्रेस।

३. माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य इत्यादौ माथुराणां पाटलिपुत्रकेषु प्राणित्वेनान्तर्भावेऽपि शब्दोपात्ताकारापेक्षयानन्तर्भावाद् विभाग एवेति भावः—उद्योत (महाभाष्य, खण्ड २) पृ० ५११, नि० सा० प्रेस।

इस 'पञ्चमी विभक्ते' सूत्र में 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र की अनुवृत्ति होने पर भी सूत्रविहित पञ्चमी विभक्ति से अवधिव्यावृत्तधर्मवत्त्वबोधन, अर्थात् जिससे पृथक् किया जाता है, उसमें अवर्त्तमान धर्म के सम्बन्ध बोध के अनुकूल व्यापार ही समझा जाता है; 'समुदाय से एक देश का' यह अंश नहीं है, कारण वह असम्भव है[1]।

इस सूत्र की व्याख्याप्रसंग में न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्र बुद्धिजी ने 'अन्ये त्वाहुः' कह कर एक मत का उल्लेख करके कहा है कि जिस स्थल में समुदाय का पृथक् करण होता है वह पूर्व सूत्र का (यतश्च निर्धारणम्) विषय है। जहाँ पर पृथग्भूत का ही गुणान्तर का आविष्कार किया जाता है, वह इस (पञ्चमी विभक्ते) सूत्र का विषय है। इसलिये कि वहाँ दोनों ही अवस्थाओं में विभाग ही है।

परन्तु बाद में उन्होंने कहा है कि यह सूत्र भी 'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८) सूत्र का प्रपञ्चार्थ ही है। कारण यह है कि 'विभाग' सम्बन्ध से प्रच्युति है। पाटलिपुत्र के निवासी सम्बन्ध से प्रच्युत होनेवाले मथुरानिवासियों के लिये प्रच्युति का अवधि होते हैं, अतः 'अपादाने पञ्चमी' (२-३-२८) सूत्र से ही पंचमी सिद्ध है[2]।

इस 'पंचमी विभक्ते' सूत्र का उदाहरण देने के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठ सकता है कि 'माथुर' और 'पाटलिपुत्रक' में तो भेद ही है। इस भेद के रहते यदि पंचमी विभक्ति होती हो तो 'पाटलिपुत्रक' में जैसे पंचमी

---

१. अत्रावधिव्यावृत्तधर्मवत्त्वबोधनमेव नतु समुदायादेकदेशस्येत्यंशो विवक्षितः असम्भवात्—बालमनोरमा, पृ० ७००, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. अन्ये त्वाहुः—यत्र राशीकृतस्य पृथक्करणं स पूर्वस्य योगस्य विषयः, यत्र पृथग्भूतस्यैव गुणान्तराविष्करण सोऽस्य; तत्र द्वयोरप्यवस्थयो विभाग एवेति कृत्वाः अयमपि योगः प्रपञ्चार्थ एव। विभाग ही सम्बन्धात् प्रच्युतिः। पाटलिपुत्रकाश्च सम्बन्धात् प्रच्यवमानानां माथुराणां सम्बन्धे प्रच्युते रवधिभावमुपयान्ति इत्येवं पञ्चमी सिद्धा—न्यास (काशिका; भाग २), प० १९८–१९९ प्रा० भा० प्रकाशन।

विभक्ति होती है, उसी प्रकार 'माथुर' में भी पंचमी विभक्ति क्यों नहीं होगी ? इसके उत्तर में कहा गया है कि इस सूत्र को पूर्ववर्ती 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र की अनुवृत्ति इस सूत्र में की गयी है। इसलिये जिससे निर्धारण होता है उस निर्धारणावधि वाचक शब्द से ही पंचमी होती है। अपर एक मत यह है कि इस सूत्र में भी अनभिहित अधिकार रहने से 'माथुर' में पंचमी नहीं हुई है[1]। तात्पर्य यह है कि 'माथुर' 'भवन्ति'—इस ऊह्य क्रिया पद में स्थित प्रथमपुरुष बहुवचन में जो 'आख्यात' प्रयुक्त हुआ है, उसी से अभिहित हो जाने से 'माथुर' शब्द में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होगी।

निर्धारण के प्रसंग में यह बात ध्यान में रखनी है कि जहाँ निर्धारणाश्रय, निर्धार्यमाण तथा निर्धारण का हेतु इन तीनों का वाक्य में उल्लेख किया जाता है वहीं निर्धारण होता है[2]।

६४० साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः। (२–३–४३)

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां नतु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्—निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्। 'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' (वा १४९३)। साधु निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा।

अनुवाद तथा विवृति—प्रशंसा गम्यमान होने पर साधु और निपुण शब्दों के योग से सप्तमी विभक्ति हो, किन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं।

इन दोनों के योग में सप्तमी विभक्ति हो, प्रशंसा समझे जाने पर; परन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं।

---

१. नन्वेवं माथुरा इत्यत्रापि पञ्चमी स्यात्। मैवम् पूर्वसूत्रमिहानुवर्त्तते तेन यतो निर्धार्यते तत एवेत्यर्थाद् निर्धारणावधेरेव पञ्चमीप्रवृत्तेः। अनभिहिताधिकारान्माथुरा इत्यत्र नातिप्रसंग इत्यन्ये—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७००, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. एवञ्च त्रितयोपादादान एव निर्धारणप्रतीतिः-लघुशब्देन्दु० पृ० ७७० गु० प्र शास्त्री।

उदाहरण—'मातरि साधु निपुणो वा'—माता के प्रति हितकारी, अथवा माता के प्रति (शुश्रूषा करने में) कुशल।

अर्चायां किम्—निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्—

सूत्र में 'अर्चायाम्' अर्थात् प्रशंसा समझे जाने पर, ऐसा क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में प्रत्युदाहरण दिया गया है 'निपुणो राज्ञो भृत्यः—राजा का नौकर कुशल है। इस प्रत्युदाहरण में वास्तव तत्त्व को कहने में वक्ता का तात्पर्य है, प्रशंसा करने में नहीं।

'अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्' (वा १४६६)। साधु निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा—सूत्र में जो 'अप्रतेः' अर्थात् 'प्रति' के योग में सप्तमी नहीं होगी, ऐसा निषेध किया गया है वह केवल 'प्रति' के बारे में ही नहीं, बल्कि 'प्रति' आदि अर्थात् 'प्रति', 'परि' तथा 'अनु' के बारे में भी कहना चाहिये। 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' (१-४-४७) सूत्र में उल्लिखित 'प्रति', 'परि' तथा 'अनु'—इन शब्दों को 'प्रति' आदि करके समझना'।

यथा 'साधु निपुणो वा मातरं प्रति, परि, अनु वा'—माता का हितकारी या माता की शुश्रूषा आदि में निपुण।

यह सूत्र शेषे षष्ठी का अपवाद है[२]। 'साधु' शब्द के योग में 'साध्व साधु

---

१. 'लक्षणेत्थम्—' इति सूत्रोपात्ताः प्रत्यादयः—लघुशब्देन्दु; पृ० ७७६, गु० प्र० शास्त्री, तथा तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण। कर्मप्रवचनीयसंज्ञासूत्रस्थाः प्रत्यादय इति भावः—उद्योत (महाभाष्य खण्ड २)। पृ० ५११, नि० सा० प्रेस संस्करण। प्रतिपर्यनवः प्रत्यादयः—प्रदीप (महाभाष्य खण्ड २), पृ० ५११, पूर्वोक्त संस्करण। के पुनः प्रत्यादयः ? येषां 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान'—इत्यादिना कर्मप्रवचनीयसंज्ञा विहिता ते प्रतिपर्यनवः प्रत्यादयः—न्यास (काशिका भाग २, पृ० १११, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

२. शेषषष्ठ्यपवादः—बालमनोरमा, पृ० ७००, पूर्वोक्त संस्करण। षष्ठ्यपवादोऽयम्—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७६, पूर्वोक्त संस्करण।

प्रयोगे च' इस वार्त्तिकसूत्र के आधार पर 'अर्चा' या प्रशंसा के बिना भी सप्तमी विभक्ति हो सकती है[1]।

'अर्चा' प्रशंसा समझे जाने पर 'प्रति' आदि के योग में सप्तमी विभक्ति नहीं होगी—इस बात को समझाने के लिये इस सूत्र में 'साधु' शब्द का ग्रहण किया गया है[2]।

यदि 'मातरि साधुः निपुणो वा' इस वाक्यस्थ 'मातरि' पद में अधिकरणे सप्तमी मानी जाय तो यह सूत्र नियमार्थ कहना पड़ेगा। नियम इस प्रकार होगा कि 'अर्चा या प्रशंसा अर्थ में ही 'साधु' और 'निपुण' शब्द के योग में सप्तमी विभक्ति हो।'

५४१ प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च। (२–३–४४)

आभ्यां योगे तृतीया स्यात् चात् सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा।

अनुवाद तथा विवृति—'प्रसित' तथा 'उत्सुक' शब्दों के योग में तृतीया भी हो।

इन दोनों ('प्रसित' तथा 'उत्सुक') शब्दों के योग में तृतीया हो, 'च' से सप्तमी भी।

उदाहरण—'प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा' हरि के लिये तत्पर हरि के लिये उत्सुक। यहाँ चार उदाहरण वाक्य एक साथ दिये गये हैं; 'हरिणा प्रसूतः, हरौ प्रसितः, हरिणा उत्सुकः हरौ उत्सुकः।'

इस सूत्र में 'उत्सुक' शब्द के साहचर्य से 'प्रसित' शब्द तत्पर' अर्थ में लिया जाता है, 'प्रसित' शब्द की रूढ़ि भी तत्पर अर्थ में ही है। अतः

---

१. साधुशब्दप्रयोगे त्वर्चां विनाऽपि सप्तमी भवत्येव 'साध्वसाधुप्रयोगे च' इति वार्त्तिकात्—प्रौढ़मनोरमा, पृ० ६५८, चौ० संस्करण।

२. इह साधुग्रहणं तु अर्चायां प्रत्यादियोगे सप्तमीनिवृत्त्यर्थम्—बालमनोरमा, पृ० ७०१, पूर्वोक्त संस्करण।

'प्रकर्षेण सितः शुक्लः' इस प्रकार यौगिक अर्थ में 'प्रसित' शब्द के प्रयोग में तृतीया तथा सप्तमी नहीं होगी[1]।

वैषयिक अधिकरण में केवल सप्तमी विभक्ति की ही प्राप्ति दशा में यह सूत्र कहा गया है[2]। इस सूत्र से सप्तमी के साथ तृतीया विभक्ति का भी विधान किया गया है[3]।

६४२ नक्षत्रे च लुपि। (२–३–४५)

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे जो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात् तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे। 'मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे इति वा। लुपि किम् ? पुष्ये शनिः।

अनुवाद तथा विवृति—जब प्रकृति का अर्थ नक्षत्र हो और 'लुप्' संज्ञा कहकर जिस प्रत्यय का लोप किया जाता है उस प्रत्यय का अर्थ वह प्रकृति बताती हो, तब प्रत्ययार्थ बतानेवाले उस प्रकृतिभूत शब्द में अधिकरण अर्थ में तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ हों।

उदाहरण—'मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्'—मूल नक्षत्र युक्त काल में देवी का आवाहन करना चाहिये और श्रवण नक्षत्र युक्त काल में विसर्जन देना चाहिये।

इस सूत्र में 'लुप्' शब्द से लक्षणा द्वारा 'लुप्' संज्ञा कहकर लुप्त किये जानेवाले प्रत्यय का अर्थ समझाया गया है[4]। 'नक्षत्रे च लुपि' इस में ...

---

१. उत्सुकसाहचर्यात् प्रसितोऽपि तत्पर एवेह गृह्यते रूढ्या च। तेन प्रकर्षेण सितः शुक्ल इत्यर्थे न भवति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. वैषयिकाधिकरणत्वे सप्तम्यामेव प्राप्तायामिदं वचनम्—बालमनोरमा, पृ० ७०१ पूर्वोक्त संस्करण।

३. 'सप्तम्यधिकरणे' इति सिद्धा सप्तमी। पक्षे तृतीयाविधानार्थं वचनम्—(न्यास काशिका भाग २), पृ० २, प्राच्यभारती प्रकाशन।

४. लुपशब्देन लुप्संज्ञया लुप्तप्रत्ययस्यार्थो लक्ष्यते इति बोध्यम्—लघुशब्देन्दु, ७७६, गु० प्र० शास्त्री।

व्यत्यय से पञ्चमी के अर्थ में सप्तमी का विधान किया गया है[1]। सूत्र के अर्थ बताते समय जो तृतीया और सप्तमी अधिकरण में होती है ऐसा कहा गया है वह 'अधिकरणे' अंश 'सप्तम्यधिकरणे च' (२–३–३६) सूत्र से मण्डूकप्लुति अधिकार से अनुवृत्ति करके प्राप्त हुआ है। नक्षत्रवाचक प्रकृतिभूत शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' (४–२–३) इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय जोड़कर 'लुबविशेषे' (४–२–४) सूत्र से उसका लोप किया जाता है। पाणिनि व्याकरण में 'लोप' करने के लिये कई शब्द कहे जाते हैं। कभी 'लोप' शब्द कहकर लोप किया जाता है, कभी 'लुक्' शब्द कहकर, कभी 'लुप्' शब्द कहकर लोप किया जाता है, कभी 'श्लु' शब्द कहकर 'लोप' किया जाता है। इस सूत्र में 'लुप्' शब्द कहकर लोप किये जाने की बात कही गयी है।

'मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्' इस श्लोकांश रूप उदाहरण में 'मूलेन' शब्द का 'मूल नक्षत्र युक्त काल में तथा 'श्रवणेन' शब्द का 'श्रवण' नक्षत्र युक्त काल में, ऐसा अर्थ है।

सूत्र में ('अधिकरणे')—अधिकरण अर्थ में—इस प्रकार अनुवृत्ति करके क्यों कहा गया है? इसके उत्तर बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी टीकाओं में कहा गया है कि 'मूलं प्रतीक्षते'—'मूल' नक्षत्र युक्त काल की प्रतीक्षा करता है अथवा 'मूलाय स्पृहयति' मूल नक्षत्र के लिये इच्छा करता है। इन वाक्यों में कर्मादिकारक में तृतीया तथा सप्तमी विभक्ति नहीं होगी[2]। इसी प्रकार सूत्र में 'नक्षत्रे' यह पद कहने से जो शब्द नक्षत्रवाचक नहीं है,

---

लुप्शब्देन लुप्संज्ञया लुप्तप्रत्ययार्थो विवक्षितः—बालमनोरमा, पृ० ७०१, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

१. नक्षत्रे च लुपीति सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे सप्तमीविधानम्—न्यास (काशिका भाग २), पृ० २००, प्रा० भ० प्रकाशन, वाराणसी।

२. बालमनोरमा, पृ० ७०१ म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
अधिकरणे किम्—मूलं प्रतीक्षते, मूलाय स्पृहयति—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०१, पूर्वोक्त संस्करण।

उसमें तृतीया तथा सप्तमी नहीं होंगी, यथा, 'पञ्चालेषु तिष्ठति'[1]—पञ्चाल नामक जनपद में रहता है। इस उदाहरण में 'पञ्चाल' शब्द में दोनों तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ नहीं होंगी। कारण यह है कि पञ्चालशब्द नक्षत्रवाचक नहीं हैं। यहाँ 'जनपदे लुप्' (३-२-८१) सूत्रानुसार 'अण्' प्रत्ययका 'लुप्' संज्ञा कहकर लोप किये जाने पर भी पञ्चाल शब्द नक्षत्र वाचक न होने से उसमें तृतीया और सप्तमी विभक्तियाँ नहीं हुई हैं।

'लुपि किम्—पुष्ये शनिः'—

सूत्र में 'लुपि' पद कहने का फल क्या है। प्रश्न का तात्पर्य यह है कि 'लुप्' संज्ञा कहकर प्रत्यय का लोप हो, इस रूप से क्यों कहा गया है ?

इसके उत्तर में 'पुष्ये शनिः'—पुष्य नक्षत्र में शनि—यह प्रत्युदाहरण वाक्य कहा गया है। इस वाक्य में 'पुष्य' शब्द नक्षत्रवाचक होने पर भी न तो इसके साथ कोई प्रत्यय लगाया गया है और न उस प्रत्यय का 'लुप्' संज्ञा से लोप ही किया गया है। अतः इस वाक्य में नक्षत्र विशेष वाचक 'पुष्य' शब्द से अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हुई है।

६४३ सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये (२–३–७)

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते। 'तदस्मिन्नधिकम्') सू० ५–२–४५) 'यस्मादधिकम्'—(सू० ६४५, २–३–९) इति च सूत्रनिर्देशात्। लोके लोकाद् वा अधिको हरिः।

अनुवाद तथा विवृति—दोनों कारकों के मध्य में स्थित 'काल' तथा 'अध्वा' के वाचक शब्द से सप्तमी और पञ्चमी विभक्तियाँ हों।

दोनों कारकशक्तियों के मध्य में जो काल और 'अध्वा' (स्थान) हों उनके वाचक शब्दों से सप्तमी तथा पञ्चमी विभक्तियाँ हों।

१. बालमनोरमा, पृ० ७०१, पूर्वोक्त संस्करण।

उदाहरण—'अद्य मुक्त्वा अयं द्व्यहाद् वा भोक्ता'—आज खाकर यह (व्यक्ति) दो दिन में या दो दिनों के बाद खायगा। दोनों कर्त्तृशक्तियों के मध्य में यह ('द्व्यह' दो दिन) काल है। 'इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्'—यहाँ रहकर यह (व्यक्ति) एक क्रोश दूरी पर या एक क्रोश के बाद लक्ष्य को विद्ध कर सकेगा। कर्त्तृशक्ति और कर्मशक्ति के मध्य यह (क्रोश) देश है।

'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (२–३–५) सूत्र से 'कालाध्वनोः' इसकी अनुवृत्ति हुई है और वह पञ्चम्यन्त के रूप से परिणाम प्राप्त हुआ है[1]।

सूत्रस्थ 'कारकमध्ये' पद 'कारकयोः मध्ये' इस प्रकार षष्ठी द्विवचनान्त 'कारक' शब्द के साथ 'मध्य' शब्द का षष्ठीतत्पुरुष समास करके बना है। षष्ठी द्विवचनान्त कारक शब्द के साथ समास करने का कारण यह है कि 'मध्य' अवधिद्वयसापेक्ष होता है[2]।

सूत्रस्थ कालवाचक अध्ववाचक शब्द से यथाक्रम सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति होगी—ऐसा मत समझना। इस सूत्र की व्याख्या में काशिकावृत्ति में स्पष्ट कहा गया है 'यथासंख्यानुदेशो न भवति, अस्वरितत्वात्'। इसका तात्पर्य व्याख्या करते हुये न्यासटीका में आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि जी ने कहा है 'अथात्र संख्यातानुदेशः कस्मान्न भवति यावता कालाध्वानौ हि द्वौ, सप्तमी पञ्चम्यावपि द्वे अतएव साम्यात् संख्यातानुदेशेन भवितव्यम्—कालात् सप्तमी, अध्वनः पञ्चमीत्यत आह—संख्यातानुदेश इत्यादि। 'स्वरितेनाधिकारः' इत्यत्र स्वरितेनेति योगविभागः कृतः, तत् पूर्वेणापि सम्बध्यते। यत्र स्वरितत्वं प्रतिज्ञायते तत्र यथा संख्यं यथा स्यात्। इह तु स्वरितत्वं नास्ति,

---

१. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यतः कालाध्वनोदित्यनुवर्त्तते, तच्च पञ्चम्या विपरिणम्यते—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०२, भ० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

२. मध्यस्यावधिद्वयापेक्षतया द्विवचनान्तेन समासः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ७७९, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

अतो न भवति संख्यातानुदेशः[1]। अर्थात् इस सूत्र में जिस क्रम से 'काल' और 'अध्वा' का तथा सप्तमी और पञ्चमी का उल्लेख हुआ है, उसी क्रम के अनुसार संख्या में साम्य होने से 'काल' से सप्तमी और 'अध्वा' से पञ्चमी होनी चाहिये। इस प्रकार की शंका करके उन्होंने काशिकावृत्ति के आधार पर समाधान बतलाया है कि 'स्वरितेनाधिकारः' (१-३-११) सूत्र का योगविभाग किया गया है।......जहाँ स्वरितत्व की प्रतिज्ञा की जाती है अर्थात् जिस सूत्र में स्वरितत्व माना जाता है, वहाँ यथासंख्य कार्य होता है। इस सूत्र में 'स्वरितत्व' नहीं है, इसलिये उल्लिखित क्रम के अनुसार यथासंख्य कार्य नहीं होगा।

दोनों कारकों के मध्य में कालवाचक शब्द से सप्तमी तथा पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग दिखाने के लिये 'अद्य भुक्त्वा अयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता'—यह उदाहरण वाक्य कहा गया है। इस वाक्य में 'भोक्ता' शब्द 'भुज्' धातु के भविष्यत् अर्थ में 'लुट्' लकार के प्रथम पुरुष एक वचन का रूप है। उदाहरण वाक्यस्थ 'भुक्त्वा' पद में जो 'क्त्वाच्' प्रत्यय है वह दोनों क्रियाओं का कर्त्ता एक होने पर ही पूर्वकालिक क्रियावाचक धातु में 'क्त्वाच्' प्रत्यय का विधान 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३-४-२१) सूत्र के द्वारा किये जाने से कर्त्ता को तो एक ही होना चाहिये। अथच 'मध्य' अवधिद्वय सापेक्ष होता है। इसलिये सूत्रस्थ 'कारक' शब्द 'शक्ति' का आश्रय द्रव्य का बोधक नहीं है, परन्तु 'शक्ति' का ही बोधक है, और वह शक्ति काल भेद से भिन्न ही है[2]।

---

१. न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १६१, प्रा० भा० प्रकाशन, वाराणसी।

२. नन्वत्र कर्त्ता एक एव, तत् कथं कारकयोर्मध्ये कालः। सत्यम्। नात्र शक्त्याश्रयं द्रव्यं कारकमिति व्यवह्रियते, किन्तु शक्तिरेव। साच कालभेदाद् भिद्यत एव। एका हि अद्य भुजेः साधनम् अपरा द्व्यहेऽतीते भुजेः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

कर्तृत्वादिशक्तिरेव कारकं सा च क्रियाभेदेन भिन्नेति भावः—लघुशब्देन्दु० पृ० ७७६—७८०, गु० प्र० शास्त्री संस्करण।

[न्य]ास और पदमञ्जरी टीका में इस सूत्र की काशिकावृत्ति की व्याख्या में भी [उक्त]स्थ 'कारक' शब्द 'शक्ति' का बोधक है, ऐसा कहा गया है।

सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजी दीक्षित ने भी इस सूत्र में 'कारक' शब्द का [श]क्ति' अर्थ मानकर कर्त्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः'—अर्थात् दो कर्त्तृत्वशक्तियों [के] मध्य में यह 'द्व्यह' । (दो दिन) रूप काल है। यहाँ अद्यतनभुजिक्रिया-[नि]रूपित कर्त्तृत्व एक है और द्व्यहोत्तरदिनगतभुजिक्रियानिरूपित कर्त्तृत्व [दू]सरा है।

'अयमद्य भुक्त्वा द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता' इस वाक्य का तात्पर्यार्थ यह [है] कि यह व्यक्ति आज खाकर दो दिन बीत जाने पर दो दिन के समीपवर्ती [तृत]ीय दिन में खायगा (अद्य भुक्त्वा द्व्यहे अतीते तत्समीपे तृतीयेऽह्नि [भो]क्तेत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ७०२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।)। [य]हां कालकृत सामीपिक अधिकरण में केवल सप्तमी की प्राप्ति दशा में इस [सू]त्र से पञ्चमी का भी विधान किया गया है (सामीपिकाधिकरणत्वे [सप्त]म्यामेव प्राप्तायां वचनम् (बालमनोरमा, पृ० ७०२) ।

इसी प्रकार 'इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्'—यहाँ रहकर [य]ह व्यक्ति एकक्रोश व्यवधान में स्थित लक्ष्य को विद्ध करेगा—इस उदाहरण

ननु चात्र देवदत्त एक एव कर्त्ता, कारकभेदे सति तन्निबन्धनो मध्यव्यपदेशो भवति, तत् कथमसति कारकभेदे कारकयोर्मध्ये कालोभवतीत्यत आह कर्त्तृशक्त्योरित्यादि। न हि द्रव्यं कारकम्, किं तर्हि? शक्तिः, सा चेह भिद्यते, तथा हि देवदत्ते द्वे शक्ती व्यवस्थिते; एका अद्य भुजेः साधनम्, अपरा द्व्यहेऽतीते इति कर्त्तृशक्तिभेदे सति युक्तो मध्यव्यपदेशः—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० ७६१, प्रा० भा० प्रकाशन।

शक्तिस्तु कारकम्, सेह भिद्यते—एका अद्य भुजेः साधनम्, अपरा द्व्यहभुजेः, तेनानयोर्मध्ये काल इत्यर्थः—पदमञ्जरी, (काशिका, भाग २) पृ० १६१, प्रा० भा० प्रकाशन।

से कर्त्तृत्वशक्ति और कर्मत्व शक्तियों[1] के मध्य में यह क्रोशरूप देश है। भट्टोजी दीक्षित ने 'कर्त्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देश:'—इस पंक्ति में कहा है।

'इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्'—इस वाक्य में देशकृत सामीपिक अधिकरणत्व सप्तमी तथा पंचमी विभक्तियों का अर्थ है[2]।

'इहस्थोऽयम्—' इत्यादि उदाहरण वाक्य का 'यहाँ रहकर यह (तीर निक्षेपकारी) व्यक्ति तीर से एक क्रोश के बाद उसके समीप देश में स्थित लक्ष्य को बिद्ध करेगा'—यह अर्थ होता है।

यदि सूत्रस्थ 'कारक' शब्द का कर्त्तृत्व आदि कारकशक्ति अर्थ न मानकर केवल कर्त्ता आदि ही अर्थ माना जाय तो केवल 'इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्' इस स्थल में ही सप्तमी तथा पंचमी हो सकती, 'अयमद्य भुक्त्वा द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता' इस स्थल में नहीं होतीं, कारण इस वाक्य में कारकद्वय की प्रतीति नहीं होती है। एक ही व्यक्ति दोनों समय के भोजन का कर्त्ता है। अत: दो कारक न होने से इस सूत्र के अनुसार इस स्थल में सप्तमी तथा पंचमी विभक्तियाँ हो नहीं सकती थीं। कारकशक्ति कहने से कर्त्ता एक होने पर भी कर्त्तृत्वशक्ति दो होने से इस पूर्वोक्त वाक्य में कालवाचक शब्द से सप्तमी तथा पंचमी विभक्तियाँ हो सकती हैं।

पाणिनि व्याकरण के महाभाष्य में भी इसी प्रकार की बात कही गयी है।

महाभाष्य में 'नान्तरेण साधनं क्रियाया प्रवृत्तिर्भवति। क्रियामध्यं चेद् कारकमध्यमपि भवति' ऐसा कहा गया है[3]।

अर्थात् 'साधन' या कर्त्तृत्वादि कारक शक्ति के बिना क्रिया की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'क्रियामध्य' कहने से 'कारकमध्य' भी प्रतीत होता है।

---

१. कर्त्तृत्वकर्मत्वरूपशक्त्योर्मध्य इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ७०२, पूर्वोक्त संस्करण।
२. इहापि देशतः सामीपिकमधिकरणत्वं सप्तमीपञ्चम्योरर्थः—बालमनोरमा, पृ० ७०२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।
३. महाभाष्य खण्ड २, पृ० [illegible] संस्करण।

का भाव यह है कि सूत्र में 'कारकमध्ये' कहना अनुचित नहीं हुआ है। कारण 'कारकमध्ये'—यह प्रतीत होता है।

महाभाष्य की प्रदीप टीका में भी भाष्यस्थ 'साधन' शब्द का 'शक्ति' अर्थ किया गया है[1]। वहाँ उद्योत टीका में नागेश भट्टजी ने भी कहा है कि भाष्य में साधन शब्द से तद्गत 'शक्ति' कही गयी है।

'अधिकशब्देन योगे सप्तमीपंचम्याविष्येते। 'तदस्मिन्नधिकम्—' (१८४६) इति 'यस्मादधिकम्—' (सू० ६४५) इति च सूत्रनिर्देशात्। लोके लोकाद् वा अधिको हरिः।

अनुवाद तथा विवृति—'अधिक' शब्द के योग में सप्तमी तथा पंचमी विभक्तियाँ इष्ट होती हैं, कारण पाणिनिमुनि ने 'तदस्मिन्नधिक मिति दशान्ताड्डः' (५–५–४५) और 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (२-३–९)—इन दोनों के द्वारा यह निर्देश किया है। उदाहरण—'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः'—संसार में या संसार की अपेक्षा हरि बड़े हैं।

इस प्रसंग में भट्टोजी दीक्षित ने 'लोके लोकाद् वा अधिको हरिः'—इस वाक्य में 'अधिक' शब्द के योग में 'अवधित्व' सम्बन्ध का बोध होने से शेषषष्ठी की प्राप्ति की आशंका करके कहते हैं कि 'अधिक' शब्द के योग में सप्तमी तथा पंचमी विभक्तियाँ इष्ट हैं[2], न कि शेषषष्ठी विभक्ति। कारण यह है कि पाणिनिमुनि ने 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः' (५–५–४५) इस सूत्र में 'अधिक' शब्द के योग में 'अस्मिन्' पद में सप्तमी विभक्ति का निर्देश किया है और 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी' (२–३–९) इस सूत्र में 'अधिक' शब्द के योग में 'यस्मात्' पद में पंचमी विभक्ति का भी निर्देश किया है। इससे सिद्ध होता है कि 'अधिक' शब्द के योग में सप्तमी

---

१. महाभाष्य खण्ड २, पृ० ४९२, नि० सा० प्रेस संस्करण।

२. ननु लोके लोकाद् वा अधिको हरिरित्यत्र अवधित्वसम्बन्धे शेषषष्ठ्येवोचितेत्याशङ्क्याह अधिकशब्देनेति—बालमनोरमा, पृ० ७०२, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

तथा पंचमी दोनों विभक्तियाँ पाणिनि मुनि को इष्ट हैं। अतएव इस वाक्य में स्थित 'लोके' और 'लोकात्' पदों में सप्तमी और पंचमी विभक्तियों का 'अवधित्व सम्बन्ध' अर्थ है। संसार की अपेक्षा भगवान् हरि श्रेष्ठ हैं—यह उक्त वाक्य का अर्थ है[1]।

६४४ अधिरीश्वरे। (१–४–९७)

स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।

अनुवाद तथा विवृत्ति—स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध में 'अधि' शब्द कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो।

'अधि' शब्द का कर्मप्रवचनीय कार्य कहने के लिये इस सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया जा रहा है[2]।

६४५ यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी। (२–३–९)

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधिभुवि रामः। अधि रामे भूः। 'सप्तमी शौण्डैः' (सू ७१७) इति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अषड्क्ष—' (सू २०७९) इत्यादिना खः।

अनुवाद तथा विवृति—जिससे अधिकता है, और जिसका ईश्वरत्व अथवा स्वामित्व कहा जाय, उनके वाचक शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो।

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते इत्यादि—इन स्थलों में अर्थात् जिससे अधिकता है, और जिसका ईश्वरत्व या स्वामित्व कहा जाय ऐसे प्रयोग के स्थलों में कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति हो।

उदाहरण—'उपपरार्धे हरे गुंणाः'—(भगवान्) हरि के गुण परार्ध (संख्या) से अधिक हैं।

---

१. अवधित्व सम्बन्धः सप्तमीपञ्चम्योरर्थः। लोकापेक्षया श्रेष्ठ इत्यर्थः—बालमनोरमा, पृ० ७०२, पूर्वोक्त संस्करण।

२. अधेः कर्मप्रवचनीयकार्य्यं वक्ष्यन् कर्मप्रवचनीयसंज्ञामाह—बालमनोरमा, ७०२ पूर्वोक्त संस्करण।

इस उदाहरण वाक्य में 'उपोऽधिके च' (१–४–८३) सूत्र से अधिक अर्थ में उपशब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है, और 'यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम्—' इत्यादि प्रकृत सूत्र से जिस परार्ध संख्या से अधिकता बताई गयी है उसके वाचक 'परार्ध' शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई है।

'ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी—इत्यादि।

ऐश्वर्य अर्थात् स्वस्वामिभाव सम्बन्ध समझे जाने पर स्ववाचक और स्वामिवाचक दोनों शब्दों में पर्यायक्रम से अर्थात् बारी-बारी से सप्तमी विभक्ति हो।

उदाहरण—'अधि भुवि रामः' अथवा 'अधि रामे भूः'—पृथिवी के स्वामी राम हैं अथवा राम पृथिवी के स्वामी हैं।

सूत्रस्थ 'यस्य चेश्वरवचनम्' इस अंश का अर्थद्वय विवक्षित है। 'यस्य' इस शब्द के द्वारा 'स्व' का निर्देश किया गया है। जिस 'स्व' का सम्बन्धी 'ईश्वर' कहा जाता है, तद्वाचक शब्द से सप्तमी हो—इस प्रकार व्याख्यान करने से 'स्व' वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है, इस सूत्रांश का यह एक अर्थ है। और दूसरा अर्थ यह है कि इस सूत्रांश में स्थित 'ईश्वर' शब्द भावप्रधान है। अर्थात् यहाँ 'ईश्वर' शब्द का 'ईश्वर का भाव' या 'ईश्वरत्व' अर्थ है। तब इस सूत्रांश का अर्थ होता है—जिसका ईश्वरत्व कहा जाता है तद्वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति हो—इस व्याख्यान के अनुसार स्वामि-वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है[1]।

---

१. यस्य चेश्वरवचनम् इत्यस्य तन्त्रादिना अर्थद्वयं विवक्षितम्। तथाहि—यस्येत्यनेन स्वं निर्दिश्यते, यस्य स्वस्य सम्बन्धी ईश्वर उच्यते ततः सप्तमीति व्याख्याने स्ववाचकात् सप्तमीत्येकोऽर्थः। ईश्वरशब्दो भावप्रधानः। यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते ततः सप्तमीति व्याख्याने स्ववाचकात् सप्तमीत्यपरः।—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण, बालमनोरमा, पृ० ७०३, पूर्वोक्त संस्करण।

काशिकावृत्ति की पदमञ्जरी टीका में आचार्य हरदत्तजीने भी यह बात कही है[१]।

न्यास टीका में आचार्य जिनेन्द्र बुद्धि जी ने सूत्रस्थ 'च' कार अनुक्तसमुच्चयार्थक मानकर जिसका ईश्वरव्यपदेश नहीं है, उसमें भी सप्तमी ज्ञात होती है—ऐसा कहा है[२]।

पदमञ्जरी टीका में आचार्य हरदत्तजी ने यह भी कहा है कि शेष विषय में कर्मप्रवचनीय विभक्ति आरम्भ करने से एक शब्द से (अर्थात् स्व किम्वा स्वामिवाचक शब्द से) उत्पन्न विभक्ति के द्वारा दोनों में स्थित सम्बन्ध का अभिधान होता है[३]। न्यास टीका में भी प्रथम कल्प में इस प्रकार की बात कही गयी है।

पूर्वोक्त 'अधिभुवि रामः'—पृथिवी के स्वामी रामजी हैं—इस वाक्य में स्ववाचक 'भू' शब्द से ईश्वरार्थक 'अधि' कर्मप्रवचनीय के योग से सप्तमी विभक्ति हुई है। इस स्थल में 'अधि' शब्द ईश्वर का पर्याय शब्द है। 'भुवि' पद में 'भू' शब्द में जो सप्तमी विभक्ति है, उसका 'सम्बन्ध' (स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध) अर्थ है[४]। 'रामः' पद में प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा है।

इसी प्रकार 'अधि रामे भूः'— राम की स्वभूत पृथिवी है—इस वाक्य में 'अधि' शब्द 'स्व' का पर्याय शब्द है। सप्तमी विभक्ति का 'सम्बन्ध' अर्थ

---

१. अथवा ईश्वरशब्दो भावप्रधानः ईश्वरः तस्योक्तिरीश्वरवचनम्, यस्य स्वामिनः ईश्वरत्वमुच्यते ततः सप्तमीत्यर्थः। अथवा यस्येति स्वं निर्दिश्यते, यस्य स्वस्य ईश्वर उच्यते ततः स्वात् सप्तमीत्यर्थः—पदमञ्जरी (काशिका, भाग २), पृ० १६२, प्रा० भा० प्रकाशन।

२. तर्हि अनुक्तसमुच्चयार्थश्चकारः क्रियते, तेन यस्य ईश्वरव्यपदेशो नास्ति तत्रापि सप्तमी विज्ञायत इत्यदोषः—न्यास (काशिका, भाग २), पृ० १६३।

३. शेषविषये कर्मप्रवचनीयविभक्त्यारम्भादेव.त उत्पन्नया विभक्त्या द्विष्ठस्यापि सम्बन्धस्याभिधानात्, पदमञ्जरी, पृ० १४२, पूर्वोक्त संस्करण।

४. अधिरीश्वरपर्यायः। सम्बन्धः सप्तम्यर्थः। भुवः स्वामी राम इत्यर्थः। अत्र स्ववाचकात् सप्तमी। बालमनोरमा, पृ० ७०३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

है। इस वाक्य में स्वामी के वाचक 'राम' शब्द में सप्तमी विभक्ति है' 'भूः' पद में प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा है।

इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने योग्य है कि 'अधि भुवि रामः' अथवा 'अधि रामे भूः' इन दोनों वाक्यों में 'स्व' वाचक 'भू' शब्द में अथवा 'स्वामि' वाचक 'राम' शब्द में किसी एक शब्द में सप्तमी विभक्ति लगाने पर ही उससे अन्य में स्थित सम्बन्ध भी उक्त हो जाता है। अतः 'स्व' तथा 'स्वामि' वाचक दोनों ही शब्दों में एक ही साथ सप्तमी होगी[२]।

'सप्तमी शौण्डैः' (सू ७१७) इति समासपक्षेतु रामाधीना। 'अषड़क्ष' इत्यादिना खः।

अनुवाद तथा विवृति—'सप्तमी शौण्डैः' (२–१–४०) अर्थात् 'शौण्ड' आदि शब्द के साथ सप्तम्यन्त पद का सप्तमी तत्पुरुष समास विदित हुआ है। इस शौण्डादि गण में 'अधि' शब्द का भी पाठ होने से उस 'अधि' शब्द के साथ सप्तम्यन्त 'स्वामि' वाचक 'रामे' पद का समास होने पर 'रामाधीना' यह पद बनता है। 'रामे' पद के साथ 'अधि' शब्द का समास होने पर प्रथमतः 'रामाधि' इस प्रकार प्रतिपदिक बनता है। इसके बाद 'अषड़क्षाशितङ्ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः' (५–४–६) इस सूत्र से 'अधि' शब्द उत्तरपद में है जिसके ऐसे 'रामाधि' शब्द से स्वार्थ में 'ख' प्रत्यय किया गया है। उसके बाद 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७–१–२) इस सूत्र से 'ख' के स्थान में 'ईन्' आदेश होने पर 'रामाधीना' यह शब्द बनता है। 'रामाधीना' इसका 'रामस्वामिका' यह अर्थ है। यदि 'अधि' शब्द के साथ विभक्त्यर्थे अव्ययीभाव समास किया

---

१. अत्र अधि स्वशब्दपर्यायः। सम्बन्धः सप्तम्यर्थः। रामस्य स्वभूता भूमिरित्यर्थः। अत्र स्वामिवाचकात सप्तमी—बालमनोरमा, पृ० ७०३।

२. अन्यतरस्मादुत्पन्नयैव सप्तम्या इतरनिष्ठसम्बन्धस्याप्युक्तत्वात् युगपदुभाभ्यां न सप्तमी स्यादिति भावः—तत्त्वबोधिनी, पृ० ७०३, पूर्वोक्त संस्करण।

जाय तो 'अधिरामम्' ऐसा पद बनता है। तब 'अधिरामं भूः' ऐसा वाक्य बन सकता है, जिसका 'रामाधिकरणिका भूः (पृथिवी)' अर्थ होता है।[1] 'अधि' शब्द उत्तरपद में न रहने से यहाँ 'ख' प्रत्यय नहीं होगा।

६४६ विभाषा कृञि। (१–४–९८)

अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं, गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' (पृ०३९७८) इति निघातो न॥ इति सप्तमी विभक्तिः।

॥ इति कारकप्रकरणम् ॥

अनुवाद तथा विवृत्ति—'कृ' धातु परे रहते 'अधि' शब्द का 'ईश्वरत्व' अर्थ होने पर कर्मप्रवचनीय संज्ञा विकल्प से हो।

उदाहरण—'यदत्र मामधिकरिष्यति'—'यदि मुझे इस विषय में नियुक्त करेगा।' इस उदाहरण में 'करिष्यति' इस क्रियापद के प्रकृतिभूत 'कृ' धातु परे रहते ईश्वर अर्थ में 'अधि' शब्द की विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है और 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२–३–८) इस सूत्र से 'माम्' पद में द्वितीया विभक्ति हुई है। 'अधिकरिष्यति' का अर्थ बताते हैं 'विनियोक्ष्यते इत्यर्थः'—अर्थात् नियुक्त करेगा, यह अर्थ है।

'इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते'—इस उदाहरण में नियुक्त करनेवाले व्यक्ति में नियोज्य के ऊपर 'ईश्वरत्व' या स्वामित्व है, यह प्रतीत होता है। जो नियुक्त करता है, नियोज्य के ऊपर उसका 'ईश्वरत्व' अर्थात् स्वामित्व होता ही है, नहीं तो उसको नियुक्त कैसे कर सकता? अतएव नियुक्त करनेवाले व्यक्ति में 'ईश्वरत्व' या 'स्वामित्व' है, यह प्रतीत होता है।

अब प्रश्न उठता है कि 'यदत्रमामधिकरिष्यति' इस वाक्य में 'माम्' पद में द्वितीया विभक्ति तो कर्मत्व निबन्धन ही हो सकती है, फिर 'अधि'

१. विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे तु अधिरामं भूः। रामाधिकरणिका भूरित्यर्थः। खप्रत्ययस्तु न। अध्युत्तरपदत्वाभावात्—बालमनोरमा, पृ० ७०३, म० म० गिरिधर शर्मा संस्करण।

को इस सूत्र से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा देकर 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२-३-८) सूत्र से द्वितीया विभक्ति का विधान करने की आवश्यकता क्या है?

इसके उत्तर में—अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' (८-१-७१) इति निघातो न'—यह कहा गया है। अर्थात् 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा 'गति' संज्ञा तथा 'उपसर्ग' संज्ञा का बाधक होने से 'तिङि चोदात्तवति' (८-१-७१) सूत्रानुसार 'अधि' को 'निघात[१]' अर्थात् 'अनुदात्त' स्वर नहीं होता है।

'तिङि चोदात्तवति' (८-१-७१) सूत्र का अर्थ है उदात्तस्वरयुक्त तिङन्त पद परे रहते 'गति' संज्ञक शब्द अनुदात्त होता है। 'यदत्र मामधि+ करिष्यति' वाक्य में 'करिष्यति' यह तिङन्त पद उदात्तस्वरयुक्त है, कारण, 'तिङ्ङतिङः' (८-१-२८) अर्थात् अतिङन्त पद के बाद तिङन्त पद अनुदात्त होता है—इस सूत्र से विहित 'अनुदात्त' स्वर की बाधा 'निपातै र्यद्यदि-हन्तकुविन्नेच्चेच्चण्क्वच्चिद्यत्रयुक्तम्' (८-१-३०) इस सूत्र से की गयी है। अतः 'यदत्र मामधिकरिष्यति' इस वाक्यस्थ 'अधि' शब्द यदि गतिसंज्ञक हो तो उसका 'निघात' या सर्वानुदात्त स्वर होने की आपत्ति हो जाती है। परन्तु 'अधिरीश्वरे' सूत्रानुसार 'अधि' शब्द 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञक होने से 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा के द्वारा 'गति' संज्ञा की बाधा हो जाने पर 'तिङ्ङः तिङः' (८-१-२८) सूत्रानुसार 'अधि' शब्द का 'निघात' नहीं हुआ है।

अतः 'अधि' शब्द में—'निघात' न करने के लिये 'अधिरीश्वरे' सूत्र किया गया है। नहीं तो 'यदत्र मामधिकरिष्यति' वाक्यस्थ 'माम्' पद में द्वितीया विभक्ति 'कर्मणि द्वितीया' (२-३-२) सूत्र से ही हो सकती है।[२]

इति सप्तमी विभक्ति।

इति कारकप्रकरणम्।

---

१. निघातो नाम अनुदात्तः—लघुशब्देन्दु०, पृ० ४५० (हलन्तपुंलिङ्गप्रकरणम्), गु० प्र० शास्त्री।

२. अत्र करिष्यतीत्यत्र तिङन्तमुदात्तवत्, 'तिङ्ङतिङः' इति निघातस्य 'निपातैर्यदि' त्यादिना निषेधात्। ततश्च अधेरत्र गतित्वान्निघात इह प्राप्तः। कर्मप्रवचनीयत्वे तु स न भवति, तेन गतित्वस्य बाधात्। अतः अधेर्निघाताभावार्थमिदं सूत्रमिति-सिद्धम्,—बालमनोरमा, पृ० ७०४, म० म० गिरिधरशर्मा संस्करण।

सिद्धान्तकौमुदी के कारकप्रकरण की सूत्र सूची

कारकप्रकरण की वार्त्तिकादिसूची

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	२	प्रतिपदिकार्थः	प्रातिपदिकार्थः
"	६	व्रीहि	व्रीहिः
"	११	प्रतिपादिक	प्रातिपदिक
"	२२	मैं	में
३	१३	एवं	एव
?	२७	केषञ्चिदग्रिमः	केषाञ्चिदग्रिमाः ।
८	१३	५३४	५३५
१३	७	अनीप्षितम्	अनीप्सितम्
२१	१८	नीवद्योर्न	नीवह्योर्न
४१	२०-२२	वर्षणरूप क्रियविशेष के द्वारा उपजनित यानी उत्पन्न जो जप के साथ वर्षणका लक्ष्यलक्षण भावरूप सम्बन्धविशेषका निश्चयात्मक ज्ञान, उस ज्ञान का	वर्षणरूप क्रियाविशेषके द्वारा उपजनित या उत्पादित जो जपके साथ वर्षण का लक्ष्यलक्षणभावरूप सम्बन्धविशेष, उसके निश्चयात्मक ज्ञान का
	२-५	कर्मप्रवचनीय पदवान से बोध्य हो	कर्मप्रवचनीय पद से बोध्य हों
६	१५	प्रसक	प्रसक्त
१	१२	ते 'आ'	से 'अधि'
४	१०	वषड्योगीच्च	वषड्योगाच्च
५	१८	क माफिक	के समान
६	८	विज्ञया	विज्ञेया